किसने कहा मन चंचल है

युवाचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसने कहा मन चंचल है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

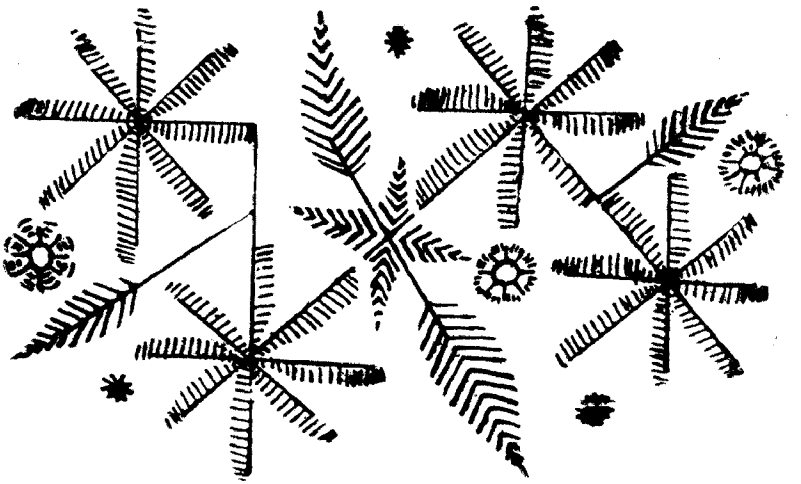

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसने कहा मन चंचल है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश ।

चतुर्थ संस्करण : जुलाई, १९८५

मूल्य : पन्द्रह रुपये/**प्रकाशक :** तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती लाडनूं, नागौर (राजस्थान) / **मुद्रक :** जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

KISANE KAHA MAN CHANCHAL HAI

Yuvacharya Mahaprajna

Rs. 15.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

बीज को वृक्ष बनने के लिए लंबी यात्रा करनी पड़ती है। बीज यदि बीज ही रहे तो विश्व को वह उपलब्ध नहीं होता जो वृक्ष से हो सकता है। पत्र, पुष्प, फल, छाया और ईंधन—ये सब बीज के विकास से ही संभव होते हैं। चेतना को भी विकास के शिखर तक पहुंचाने के लिए बहुत लंबी यात्रा करनी होती है। यदि चेतना सुप्त रहे तो उसे वह उपलब्ध नहीं हो सकता, जिसकी हम अपेक्षा करते हैं। मैत्री, शान्ति, सौहार्द, सद्भावना, समता और समन्वय—ये सारे तत्त्व जागृत चेतना से ही फलित हो सकते हैं।

चेतना-जागरण के लिए ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा करनी होती है। ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर जाता है तब काम-चेतना का विकास होता है। ज्ञान-चेतना का विकास ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा होने पर ही हो सकता है। ध्यान का अभ्यास ऊर्जा को ऊपर की ओर ले जाने का अभ्यास है। प्रस्तुत पुस्तक में ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा के कुछ पहलू स्पष्ट किये गए हैं।

समय-समय पर प्रेक्षाध्यान के शिविर आयोजित होते हैं। उनमें ध्यान के प्रयोग चलते हैं और साथ-साथ ध्यान के विषय में चर्चा भी चलती है। वही चर्चा इस पुस्तक में संकलित है। अक्टूबर १९७७, मार्च १९७८ तथा जून १९७८ के तीन शिविरों की चर्चा इसमें संगृहीत है। ध्यान के प्रयोग से व्यक्ति अपने-आपसे परिचित होता है। अपने भीतर होने वाली घटनाओं से सीधा सम्पर्क स्थापित करता है। ध्यान विषयक चर्चा उस कार्य में बहुत सहयोग करती है। शरीरशास्त्र का अध्ययन एक डॉक्टर के लिए भी जरूरी है और एक ध्यान-साधक के लिए भी जरूरी है। प्रयोजन दोनों का भिन्न हो सकता है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिए शरीर-बोध इसलिए जरूरी है कि वह शरीर के प्रत्येक भाग को देख सके। शरीर की प्रत्येक कोशिका का चेतना के द्वारा स्पर्श कर सके और उसे सक्रिय बना सके।

मानसशास्त्र का अध्ययन एक मनोवैज्ञानिक के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही ध्यान-साधक के लिए आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यास करने वाला चेतना के विभिन्न स्तरों को जाने बिना अन्तश्चेतना की शक्तियों को जागृत नहीं कर सकता। ध्यान का प्रयोजन है—आन्तरिक चेतना में विद्यमान शक्तियों का विकास और उनका उपयोग।

कर्मशास्त्र का अध्ययन एक दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता के लिए जितना जरूरी है, उतना ही ध्यान-साधक के लिए जरूरी है। नाड़ी-संस्थान में उठने वाली कर्म-विपाक की विभिन्न तरंगों को जाने बिना उन्हें शान्त नहीं किया जा सकता। प्रेक्षाध्यान से चित्त की जागरूकता बढ़ती है। जागरूक साधक नाड़ी-संस्थान में उठने वाली उत्तेजना या वासना की प्रत्येक तरंग का अनुभव कर सकता है और दर्शन के द्वारा उसे निष्क्रिय बना सकता है।

हम चिन्तन की शक्ति से जितने परिचित हैं, उतने ही दर्शन की शक्ति से अपरिचित हैं। चिन्तन से ज्ञान-तंतुओं में थकान आती है और दर्शन से वे शक्तिशाली बनते हैं। उनकी सक्रियता बढ़ती है। दर्शन चेतना ही सहज प्रवृत्ति है। चित्त शरीर के जिस भाग में आता है, उस भाग में प्राण की धारा प्रवाहित होती है। जहां प्राण का प्रवाह प्रचुर मात्रा में होता है, वहां सुप्त चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में जागरण की प्रक्रिया के कुछ सूत्र चर्चित हैं।

इन ध्यान-सूत्रों की चर्चा की परिसमाप्ति पर आचार्यश्री तुलसी की उपसंहारात्मक टिप्पणियां भी होती रही हैं। वे एक स्वतन्त्र पुस्तक में पढ़ने को मिलेंगी। आचार्यश्री ने मेरी ध्यान-चर्चा को बहुत सजीव बनाया है। उनकी उपस्थिति और प्राणवत्ता ने मुझे बहुत प्रेरित किया है, लाभान्वित किया है।

प्रस्तुत पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने के श्रम-साध्य कार्य में तथा उसके संपादन में मुनि दुलहराजजी ने उत्साहपूर्ण कार्य किया है। इसके लिए उन्हें साधुवाद देता हूं।

पाठक वर्ग ने संप्रति प्रकाशित होने वाले ध्यान-संबंधी ग्रन्थों के प्रति जो भावना प्रदर्शित की है, जिस अभिरुचि से उन्हें पढ़ा है और उसके आधार पर प्रयोग का प्रयत्न किया है, उससे इस क्षेत्र में उज्ज्वल संभावनाएं जन्म ले रही हैं। मैं मंगल भावना करता हूं कि जन-जन में अध्यात्म की भावना जागे। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को जाने, पहचाने। मैं फिर एक बार आचार्यवर के प्रति श्रद्धा-प्रणत प्रणाम करता हूं और कामना करता हूं कि उनके पथ-दर्शन से समूची मानवजाति का पथ आलोकित बने।

अणुव्रत विहार, नई दिल्ली
१ मई, १९७९

युवाचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ संस्करण

शान्तिपूर्ण जीवन जीने के लिए मैं प्रस्थान-त्रयी में विश्वास करता हूं। पहला प्रस्थान है—मन को समझना, दूसरा है—उसे सुमन बनाना और तीसरा है—उसे अमन में बदल देना। प्रस्तुत पुस्तक में इस प्रस्थान-त्रयी की संक्षिप्त-सी चर्चा मैंने की है। केवल मन की चंचलता की उलझन में फंसे हुए लोग मन की वास्तविकता को नहीं समझ सकते। चित्त की वास्तविकता को जाने बिना मन की वास्तविकता जानी नहीं जा सकती। चित्त की परिक्रमा करने, मन को समझने में यह पुस्तक कुछ सहारा दे सकती है। अध्यात्म योग की कुछ नई दिशाएं उद्घाटित करना और वैज्ञानिक शोधों के आलोक में अध्यात्म को समझना सहज समय की मांग है। इस मांग को समझना आज के आध्यात्मिक के लिए जरूरी है। इस जरूरत की पूर्ति के लिए इस पुस्तक का उपयोग हो सकता है।

आमेट
१७ जुलाई, १९८५

युवाचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिविरों का क्रम

१. **दर्शन का नया आयाम**

१० अक्टूबर, १९७७ से १९ अक्टूबर, १९७७ तक, लाडनूं (राज०)

२. **शक्ति-जागरण**

१० मार्च, १९७८ से १९ मार्च, १९७८ तक, लाडनूं (राज०)

३. **मानसिक-प्रशिक्षण**

१ जून, १९७८ से ९ जून, १९७८ तक, लाडनूं (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

दर्शन का नया आयाम

अस्तित्व की खोज : सम्यग्दर्शन	६
प्रतिरोधात् शक्ति का विकास : संयम	२१
चेतना की क्रीडाभूमि : अप्रमाद	३२
व्यक्तित्व रूपान्तरण : समता	४२
ऊर्जा का विकास : तप	५३
ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा	६३
आध्यात्मिक सुख	७४
सत्य की खोज	८४
दायित्व का बोध	९५

शक्ति-जागरण

उपसंपदा	१०३
शक्ति-जागरण : मूल्य और प्रयोजन	११०
शक्ति-जागरण के सूत्र	१२२
स्थूल और सूक्ष्म की मीमांसा	१३४
मानसिक तनाव का विसर्जन	१४६
मानसिक संतुलन	१५९
अध्यात्म की यात्रा	१६९
सत्य को स्वयं खोजें	१८३
आजादी की लड़ाई	१९५
साधना की निष्पत्ति	२०७

मानसिक प्रशिक्षण

उपसंपदा	२१९
चेतना का तीसरा आयाम	२२६
मानसिक शक्ति का विकास और उपयोग	२३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन की शक्ति और सामायिक २४३
शक्ति की श्रेयस् यात्रा २५२
व्यक्ति का नव निर्माण २६४
मानसिक स्वास्थ्य २७५
प्रेक्षाध्यान और मानसिक प्रशिक्षण २८७
चेतना का प्रस्थान : अज्ञात की दिशा २९७
अध्यात्म का रहस्य-सूत्र ३०८
अध्यात्म और व्यवहार ३१७
प्रेक्षाध्यान : मानसिक प्रशिक्षण के पांच सूत्र ३२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन का नया आयाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १

संकलिका

- अग्गं च मूलं च विगिच धीरे। (आयारो, ३।३४)
- पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे। (आयारो, ६।५)
- से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते, पच्छन्नपलासे, उम्मग्गं से णो लहई। (आयारो, ६।६)

  ० हे धीर ! तू दुःख के अग्र और मूल का विवेक कर।
  ० तुम देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य हैं वे अवसाद को प्राप्त हो रहे हैं।
  ० मैं कहता हूं—जैसे एक कछुआ है और एक द्रह है। कछुए का चित्त द्रह में लगा हुआ है। वह द्रह सेवाल और पद्मपत्रों से आच्छन्न है। वह कछुआ मुक्त आकाश को देखने के लिए विवर को प्राप्त नहीं हो रहा है।

- मुझे पता है कि आप सफल जीवन जीने के लिए—
  ० स्वास्थ्य चाहते हैं।
  ० दीर्घायु चाहते हैं।
  ० सुख चाहते हैं।
  ० शान्ति चाहते हैं।

विवेक के बिना शान्ति नहीं।
शान्ति के बिना सुख नहीं।
सुख के बिना स्वास्थ्य नहीं।
स्वास्थ्य के बिना दीर्घायु नहीं।

- इसकी उपलब्धि के लिए जीवन का नया अध्ययन, नयी पद्धति अपनाएं। कुछ समय तक पदचिह्नों पर चलें, फिर अन्तरिक्ष की यात्रा करें, जहां कोई पदचिह्न नहीं होता। वह अध्याय विचार नहीं, दर्शन है। तर्क नहीं, अनुभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- संयम साधना है, संवर उसका फलित ।
- तप साधना है, निर्जरा उसका फलित ।
- अक्रिया साधना है, सिद्धि उसका फलित ।
- प्रत्याख्यान की चेतना तब जागृत होती है जब विवेक जागृत हो, प्रज्ञा या भेद-ज्ञान जागृत हो ।

  बहुत लोग मूर्च्छा का जीवन जीते हैं । अविवेक इतनी सघन मूर्च्छा है कि उसमें पता नहीं चलता कि 'मैं कौन हूं' और 'मेरा स्वभाव क्या है ?' 'मेरा अपना क्या है ?'

- मूर्च्छा की व्यूह-रचना
- पहली रक्षापंक्ति है—आवेग ।
- दूसरी रक्षापंक्ति है—नींद ।
- तीसरी रक्षापंक्ति है—असंयम—इन्द्रिय और मन की उच्छृंखलता, चंचलता ।
- चौथी रक्षापंक्ति है—हेय और उपादेय का अविवेक । मिथ्यादृष्टि-कोण । दुःख और सुख का अविवेक ।
- विवेक-चेतना का जागरण मूर्च्छा के व्यूह पर पहला प्रहार करता है ।
- हमने राग-द्वेष को स्वभाव मान रखा है ।
- क्रोध को स्वभाव मान रखा है ।
- मान, माया, लोभ, घृणा, भय—ये सब हमारे अस्तित्व के अभिन्न अंग बने हुए हैं । यही मूर्च्छा है ।
- विवेक जागृत होते ही इसका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है—
  - राग मैं नहीं हूं । जो राग मुझे दुःख दे, वह मैं कैसे हो सकता हूं ?
  - द्वेष मैं नहीं हूं । जो द्वेष मुझे दुःख दे, वह मैं कैसे हो सकता हूं ?
  - क्रोध मैं नहीं हूं । जो क्रोध मुझे दुःख दे, वह मैं कैसे हो सकता हूं ?

- कायोत्सर्ग प्रतिमा
  - शरीर अचेतन है । मैं शरीर नहीं हूं ।
  - श्वास अचेतन है । मैं श्वास नहीं हूं ।
  - इन्द्रिय अचेतन है । मैं इन्द्रिय नहीं हूं ।
  - मन अचेतन है । मैं मन नहीं हूं ।
  - भाषा अचेतन है । मैं भाषा नहीं हूं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- जब ये सब शान्त होते हैं तब अस्तित्व का दर्शन होता है। इनकी ऊर्मियों के नीचे जो है वह है—अस्तित्व।
- सम्यग्दर्शन के पांच फलित—
  - शान्ति, मुक्ति की चेतना, अनासक्ति, अनुकम्पा, सत्य के प्रति समर्पण।

- आत्मा द्वारा आत्मा का दर्शन
  - श्वास-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - शरीर-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - मन-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - वेदना-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - फिर आभामण्डल, फिर प्राण-दर्शन, फिर चैतन्य-दर्शन।
- द्रष्टा कौन ? दृश्य कौन ?
  - चेतना विभक्त इसलिए सूक्ष्म चेतना द्रष्टा और स्थूल चेतना दृश्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तित्व की खोज : सम्यग्दर्शन

आज हमने एक यात्रा प्रारंभ की है। यात्रा के लिए हमने एक मार्ग चुना है। मार्ग पर हर कोई चलता है। हम भी चलते थे और चल रहे हैं। हर मार्ग पर पदचिह्न होते हैं। किन्तु आज हमने एक ऐसा मार्ग चुना है, जिसमें कोई पदचिह्न नहीं है। पदचिह्न होने का अर्थ है—अनुसरण होना। जहां अनुसरण नहीं होता वहां कोई पदचिह्न भी नहीं होता। हमारा मार्ग बिना पदचिह्न का मार्ग है। इसमें कोई किसी का अनुसरण नहीं करता।

एक चिन्तन आता है और उसका संस्कार बन जाता है। एक प्रवृत्ति होती है और उसका संस्कार बन जाता है। एक शब्द आता है और उसका संस्कार बन जाता है। चिन्तन चला जाता है, प्रवृत्ति चली जाती है, शब्द चला जाता है, किन्तु वे अपने पीछे कुछ छोड़ जाते हैं। जो छोड़ा जाता है उसकी आवृत्तियां होती रहती हैं। संस्कार शेष रह जाते हैं।

किन्तु हमने ऐसे मार्ग पर यात्रा शुरू की है, जिसमें कोई अनुसरण नहीं है, पदचिह्न नहीं है। जब चलने वाला अपने मार्ग में आसक्त हो जाता है तब पदचिह्न शेष रह जाते हैं। किन्तु जो विरत होता है, जिसे मार्ग का कोई मोह नहीं रहता, उसके कोई पदचिह्न नहीं होता। मार्ग चलने के लिए होता है, मार्ग आसक्ति के लिए नहीं होता, मोह करने के लिए नहीं होता। जो चलता है वह चला जाता है। जो आता है वह जाता है, पीछे कुछ भी शेष नहीं छोड़ता। ऐसा मार्ग ही उत्तम होता है। हमने भी ऐसा ही मार्ग चुना है, जहां कोई पदचिह्न नहीं, कोई अनुसरण नहीं, कुछ भी शेष नहीं, कोई संस्कार नहीं। जैसे आया वैसे गया। न स्मृति और न संस्कार।

हमने इस मार्ग पर चलने के लिए 'दर्शन' का संकल्प लिया है। हम देखें। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। बड़ा विचित्र-सा लगता है। कौन देखने वाला और कौन दृश्य! कौन देखे? किसे देखे? बहुत बड़ा प्रश्न है। किन्तु जब हमारी देखने वाली चेतना, द्रष्टाचेतना खंडित होती है तब उसके दो खण्ड हो जाते हैं—एक देखने वाली चेतना और एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृश्य।

श्वास को देखो। मन को देखो। शरीर को देखो। विचार को देखो। आभामंडल को देखो। प्राण को देखो। आप जानना चाहेंगे कि क्या श्वास आत्मा है? क्या शरीर आत्मा है? क्या मन आत्मा है? क्या आभामंडल आत्मा है? क्या प्राण आत्मा है? कुछ चिन्तन करेंगे तो पता चलेगा कि श्वास आत्मा है। शरीर आत्मा है। मन आत्मा है। आभामंडल आत्मा है। प्राण आत्मा है। यदि प्राण आत्मा न हो तो फिर जीवित और मृत में कोई अन्तर नहीं रहेगा। यदि शरीर आत्मा न हो तो जीवित शरीर और मृत शरीर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। यदि मन आत्मा न हो तो मन-सहित और मन-रहित में कोई अन्तर नहीं रहेगा। ये सब आत्मा हैं।

आत्मा को देखने का पहला द्वार है—श्वास। भीतर की यात्रा का पहला द्वार है—श्वास। हम बाहर ही बाहर देखते हैं। मन बाहर की ओर दौड़ता है। जब भीतर की यात्रा शुरू करनी होती है, तब प्रथम प्रवेश-द्वार श्वास से गुजरना होता है। जब श्वास के साथ मन भीतर जाने लगता है तब अन्तर्यात्रा शुरू होती है। श्वास आत्मा है, शरीर आत्मा है, मन आत्मा है। जहां तक हम पहुंचना चाहते हैं वहां तक इनके द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।

श्वास का स्पर्श किए बिना, श्वास को देखे बिना शरीर को ठीक तरह से नहीं समझ सकते, नहीं देख सकते। शरीर को देखे बिना मन को नहीं देख सकते। मन को देखे बिना आभामंडल को नहीं देख सकते। आभा-मंडल को देखे बिना प्राण को नहीं देख सकते। और प्राण को देखे बिना उस चैतन्य तक नहीं पहुंच सकते जहां हमें पहुंचना है। यह पूरा का पूरा यात्रापथ है। यदि आत्मा तक पहुंचना है, सूक्ष्म तत्त्व तक पहुंचना है, अस्तित्व तक पहुंचना है तो इसी यात्रापथ पर चलना होगा। इसी क्रम से चलना होगा।

आप चाहें कि सीधे आत्मा को देख लें—यह भ्रांति होगी। मैं कहूं कि 'आत्मा को देखें'—यह भी भ्रांति होगी। आप यह मान लें कि उस परम सत्ता को, परम अस्तित्व को, चैतन्य को जो अमूर्त है, सूक्ष्म है, हमारे चर्म-चक्षुओं का विषय नहीं है, उसे हम देख लें—यह कहना और ऐसा समझना बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी।

'आत्मा से आत्मा को देखें।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका पहला अर्थ है—मन के द्वारा श्वास के स्पंदनों को देखें।

इसका दूसरा अर्थ है—मन के द्वारा शरीर के प्रकंपनों को, संवेदनों को देखें।

इसका तीसरा अर्थ है—विचारों को देखें।

इस स्थिति तक पहुंच जाने पर आभामंडल स्पष्ट हो जाता है, दृष्ट हो जाता है।

हमारे भीतर, हमारे चारों ओर सर्वत्र स्पन्दनों का संसार है। जिस व्यक्ति ने अपने आभामंडल का अनुभव किया है, वह जानता है कि हमारे भीतर और हमारे चारों ओर स्पन्दनों का वह अनन्त सागर है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारे भीतर और हमारे बाहर (बाहर भी कुछ दूरी तक) सागर तरंगित हो रहा है। आभामंडल तक पहुंचने के बाद हम उस प्राणशक्ति को देख सकेंगे जिसके द्वारा ये सारे स्पंदित होते हैं।

श्वास आत्मा नहीं है। शरीर आत्मा नहीं है। मन आत्मा नहीं है। आभामंडल भी आत्मा नहीं है। किन्तु ये जिस शक्ति के द्वारा आत्मा हो रहे हैं, ये जिस शक्ति के द्वारा आत्मप्रतिष्ठित और आत्मकेन्द्रित हो रहे हैं वह है—प्राणशक्ति, प्राण की ऊर्जा। वह जिसके साथ सम्पर्क करती है और जिसमें संक्रान्त होती है वह शरीर सजीव हो जाता है, शरीर आत्मा बन जाता है। प्राण की ऊर्जा का मन के साथ संबंध होता है, मन सक्रिय हो जाता है, मन की सारी गतिविधि चालू हो जाती है। प्राण की ऊर्जा का श्वास के साथ सम्पर्क होता है, श्वास के स्पंदन शुरू हो जाते हैं। यह हृदय की धड़कन, श्वास का स्पंदन, मन की तरंगें और आभामंडल का बहुत सूक्ष्म और बहुरंगी स्पंदन—यह सारी सक्रियता प्राणशक्ति से आ रही है। इस प्राण-शक्ति का उत्पत्ति स्रोत है—चैतन्य की धारा। प्राण की ऊर्जा हमारे समूचे शरीर-तंत्र में प्राण संचालित करती है और जो अनात्मा है, अचेतन है, उन सबको सचेतन कर डालती है।

- श्वास को देखना आत्मा को देखने का पहला पड़ाव है।
- शरीर को देखना आत्मा को देखने का दूसरा पड़ाव है।
- विचारों को देखना आत्मा को देखने का तीसरा पड़ाव है।
- आभामंडल को देखना आत्मा को देखने का चौथा पड़ाव है।
- प्राणशक्ति का साक्षात्कार आत्मा को देखने का पांचवां पड़ाव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये पांच पड़ाव हैं। जब इन पांच पड़ावों को पार कर जाते हैं, तब छठे पड़ाव में हम वहां पहुंचते हैं जहां हमें पहुंचना है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें'—यह आत्मदर्शन की बात स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की बात है। स्थूल को पकड़े बिना सूक्ष्म को नहीं पकड़ा जा सकता। एक-एक पड़ाव पर भी हमें सूक्ष्मता में जाना होगा। सामान्यतः हम स्थूल संवेदन को ही पकड़ पाते हैं। किन्तु जब मन पटु बन जाता है तब सूक्ष्म संवेदन भी पकड़ में आ जाते हैं। जब तक मन पटु नहीं बनता तब तक केवल स्थूल संवेदन ही पकड़ में आते हैं। मन जैसे सूक्ष्म होगा, चैतन्य की धारा जैसे तेज होगी, सूक्ष्म संवेदन पकड़ में आते जाएंगे।

शरीर में हृदय की धड़कन हो रही है, रक्त का संचार हो रहा है, वायु का संचार हो रहा है। शरीर के सारे अवयव सक्रिय हैं। शरीर के समस्त तंत्र में सक्रियता है। शरीर-यंत्र चल रहा है, मानो कि कोई विशालतम फैक्टरी चल रही हो। फिर भी मनुष्य को कुछ भी पता नहीं है। वह जान ही नहीं पाता कि कुछ हो रहा है। इसका कारण है वह संवेदनों को पकड़ ही नहीं पाता। बहुत गहरा ध्यान देने पर ही पता लगता है कि शरीर के भीतर कितनी सक्रियता है! नाड़ी चल रही है रक्त का संचरण हो रहा है, हृदय धड़क रहा है। सूक्ष्म हुए बिना इन सबका पता ही नहीं चलता। हमारा मन भी इतना स्थूल हो गया है कि वह स्थूल को ही पकड़ पाता है, सूक्ष्म को नहीं पकड़ पाता। सूक्ष्म को पकड़ने के लिए मन को सूक्ष्म बनना पड़ता है। साधना का क्रम मन को सूक्ष्म बनाने का क्रम है। मन की यात्रा जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाएगी, मन सूक्ष्म होता जाएगा और फिर हम सूक्ष्म को पकड़ने में सक्षम हो जाएंगे। जब सूक्ष्म की पकड़ होगी तब स्थूल संवेदन छूटते जाएंगे और सूक्ष्म संवेदन हस्तगत होते जाएंगे।

मन को देखने से क्या होगा? यह एक प्रश्न है। मन को देखने का फलित है—संयम। मन को देखने से संयम निष्पन्न होता है। हमने पद-चिह्न रहित मार्ग चुना है। उस पर चलने लगे हैं। मन को देखना शुरू किया तो फिर अपने-आप दृष्टि-संयम हो जाएगा। दृष्टि संयत होगी। मन बाहर नहीं जाएगा। वह भटकेगा नहीं। वह एक बिन्दु पर आकर टिक जाएगा। सहज ही संयम हो जाएगा।

हमारी यात्रा बहुत छोटी है, बड़ी नहीं है। भय न खाएं। कहां से चलना है? कहां पहुंचना है? छोटा-सा मार्ग है। यात्रा छोटी और यात्रा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथ भी छोटा। किन्तु हम देखते नहीं, देखना जानते नहीं, इसलिए रास्ता बड़ा लगता है।

यात्रा बहुत छोटी है। आपको केवल इस बिन्दु पर पहुंचना है—'मैं ज्ञाता हूं। मैं द्रष्टा हूं।' यहां पहुंचते ही आपकी यात्रा संपन्न हो जाती है। कितनी छोटी यात्रा है? यात्रा छोटी, उसका पथ भी छोटा और उसका वाहन भी एक—छोटा। बहुत वाहन नहीं हैं, एक ही वाहन है। वह वाहन है—प्राणधारा।

हम दो तत्त्वों के बीच जी रहे हैं— एक है ज्ञाताभाव, द्रष्टाभाव और दूसरा है तैजस, प्राण की धारा। जब हमारी प्राण की धारा का प्रवाह ज्ञाता और द्रष्टाभाव से हटकर दूसरी ओर बहने लगता है तब हमारी यात्रा का मार्ग बहुत लंबा हो जाता है। दूरी बढ़ती चली जाती है, व्यवधान आते चले जाते हैं, पर्दे पर पर्दे गिरते चले जाते हैं और ऐसा लगने लगता है कि प्रकाश खो गया है और चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार छा गया है।

भरत ने बाहुबली के पास दूत भेजा। दूत ने जाकर कहा—"भरत ने कहलवाया है कि तुम तक्षशिला में रहते हो और मैं अयोध्या में। बीच में अनेक पहाड़ियां हैं, नदियां हैं, जंगल हैं। और भी बहुत कुछ हैं। ये सारी चीजें भले हों, कोई चिन्ता की बात नहीं है। तुम्हारे और मेरे बीच इतनी क्षेत्रीय दूरी है, इतने सारे व्यवधान हैं, फिर भी कोई बात नहीं है। हम दोनों के बीच कोई चुगलखोर न हो। यदि वह नहीं है तो हम बहुत निकट हैं और यदि वह है तो हम निकट होकर भी दूर हैं।"

ज्ञाता और द्रष्टा तथा प्राणधारा के बीच में कोई चुगल न हो तो कोई दूरी नहीं है। यदि मोह आ जाता है, कोई आसक्ति आ जाती है तो दूरी बढ़ जाती है और प्राणधारा का प्रवाह मुड़ जाता है, दूसरी ओर बहने लग जाता है।

अस्तित्ववादी धारणा और आत्मवादी धारणा में दो बातें फलित होती हैं—एक है ज्ञान-दर्शन और दूसरी है शक्ति। शक्ति के बिना ज्ञान-दर्शन का उपयोग नहीं हो सकता। कर्म शास्त्रीय परिभाषा में कहा जा सकता है कि जब तक अन्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता तब तक न ज्ञान का उपयोग हो सकता है और न दर्शन का उपयोग हो सकता है। न जाना जा सकता है और न देखा जा सकता है। जानने और देखने का आवरण नहीं है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम है, दर्शनावरण का क्षयोपशम है। जानने और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने की क्षमता है। आवरण हट चुका है। किन्तु अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली प्राण की ऊर्जा यदि साथ में नहीं मिलती है तो आंख के होते हुए भी आदमी देख नहीं सकता, कान के होते हुए भी वह सुन नहीं सकता और मन के होते हुए भी वह चिन्तन नहीं कर सकता। मस्तिष्क विकृत होने का अर्थ है कि वहां प्राण की ऊर्जा समाप्त हो गयी है। आंख का गोलक साफ है, फिर भी दिखाई नहीं देता, इसका अर्थ है ज्योति के केन्द्र तक प्राण की धारा नहीं पहुंच रही है। कान का पर्दा फटा नहीं है, कान के सारे उपकरण ठीक हैं, फिर भी सुनाई नहीं देता। इसका तात्पर्य है कि श्रवण का जो केन्द्र है वहां तक प्राण की धारा पहुंच नहीं रही है। आदमी लकवे से ग्रस्त होता है। इसका अर्थ है कि शरीर के अमुक-अमुक भाग में रक्त का संचार रुक गया है। रक्त के संचार के रुकने का अर्थ है प्राण की धारा का रुकना, प्राण की धारा का अभाव। जहां प्राण की धारा नहीं पहुंच पाती वहां की सक्रियता नष्ट हो जाती है। प्राण की धारा के बिना न ज्ञान का उपयोग होता है और न दर्शन का उपयोग होता है। ज्ञानावरण के क्षयोपशम और दर्शनावरण के क्षयोपशम से पहले अन्तराय का क्षयोपशम होता है। अन्तराय का क्षयोपशम अर्थात् शक्ति की प्राप्ति। अन्तराय के क्षयोपशम के बिना अर्थात् प्राण ऊर्जा के बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता, सक्रियता नहीं आ सकती।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्राण की ऊर्जा का प्रवाह किस ओर जा रहा है? किस दिशा में बह रहा है? यह दिशा-परिवर्तन का प्रश्न है। यह रूपान्तरण का प्रश्न है। व्यक्ति चाहता है कि उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो। किन्तु रूपान्तरण तब तक घटित नहीं होता जब तक कि प्राण की धारा के प्रवाह को मोड़ा नहीं जाता। तब तक उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं लाएंगे तब तक रूपान्तरण की बात घटित नहीं होगी।

धर्मशास्त्रों और धर्माचार्यों ने जो धर्म का सूत्र दिया, साधना का सूत्र दिया, योग का सूत्र दिया वह केवल जानने के लिए नहीं दिया। कुछ लोग यह मानते हैं कि धर्म और दर्शन केवल जीवन का दर्शन देते हैं, मार्ग बतलाते हैं, किन्तु रूपान्तरण नहीं करते। यह भ्रान्त धारणा है। कोई भी साधना का सूत्र जीवन को नहीं बदलता और केवल तत्त्व की ही बात बतलाता है तो वह सही अर्थ में धर्म का सूत्र नहीं होगा, अध्यात्म का सूत्र नहीं होगा, साधना का सूत्र नहीं होगा। समाज-व्यवस्था के परिवर्तन की बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं नहीं कर रहा हूं और संभवत. उसके लिए अध्यात्म के सूत्र नहीं दिए गए। किन्तु प्रत्येक अध्यात्म के सूत्र के द्वारा जीवन का रूपान्तरण न हो, ऐसा हो नहीं सकता। अध्यात्म-सूत्र से दिशा का परिवर्तन होता है और दिशा-परिवर्तन से व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। सारा स्वभाव बदल जाता है, समूचा दृष्टिकोण बदल जाता है, सारी धारणा बदल जाती है। व्यक्ति इतना रूपान्तरित हो जाता है कि उसे लगने लगता है—क्या मैं वही हूं? या मेरे शरीर में कोई दूसरी चेतना प्रविष्ट हो गयी? अपने-आपको आश्चर्य होने लगता है।

हमारा यात्रा-पथ छोटा है। हमें ज्ञाता और द्रष्टाभाव तक पहुंचना है और पहुंचना है एक साधन के द्वारा। वह साधन यह है कि हम प्राण की धारा को उस दिशा में प्रवाहित करें। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है जिसका आलंबन लेकर हम उस स्थिति तक पहुंच जाएं। बीच का सारा क्रम उसे समझने के लिए, प्रवाह को मोड़ने के लिए है।

कुछ मनुष्य ज्ञाता और द्रष्टाभाव को उतना नहीं चाहते। उन्हें इसका अर्थ भी उतना आकर्षक नहीं लगता। वे चाहते हैं—स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शांति। प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज के परिप्रेक्ष्य में जीता है, स्वास्थ्य चाहता है। उसकी कामना होती है—स्वस्थ रहूं, दीर्घायु बनूं। मरना पड़ता है, फिर भी जितना जिया जा सके, वह उतना जीना पसन्द करता है। दीर्घायु चाहता है, पर दुःखमय दीर्घायु नहीं चाहता। वह सुख चाहता है और साथ-साथ शांति भी चाहता है। किन्तु क्या विवेक के बिना शांति संभव है? क्या शांति के बिना सुख संभव है? क्या शांति के बिना दीर्घायु और स्वास्थ्य संभव है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। आपकी चाह का रास्ता अलग है और प्राप्ति का रास्ता उल्टा है। चाह का क्रम है—स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शांति। किन्तु चलना पड़ेगा उल्टा। यदि विवेक है तो शांति होगी। यदि शांति है तो सुख होगा। सुखानुभूति होगी तो आयु दीर्घ होगी और स्वास्थ्य अच्छा रहेगा।

विवेक का अर्थ है—विवेचन करना, पृथक् करना, अलग-अलग करना। सबको एक समान नहीं मानना। इस विवेक को समझने के लिए यात्रा-पथ को ठीक से समझना होगा।

हमारे यात्रा-पथ का एक विराम है—विवेक। यात्रा-पथ के पूरे विराम ये हैं—श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, तप, निर्जरा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्रिया और सिद्धि। सुनना और जानना—ये दो स्तंभ हैं हमारे यात्रा-पथ के। तीसरा है—विज्ञान। विज्ञान का अर्थ है—विवेक। यह हमारे यात्रा-पथ को आलोकित करता है। हमने सुना। हमने जाना। जानने के बाद विवेक पैदा हुआ, हमारी विवेक की चेतना जागृत हुई। हमने यह अनुभव किया कि यह हेय है, यह उपादेय है। इसे छोड़ना है, इसे स्वीकार करना है। यह विवेक हो गया। किन्तु जब तक यह विवेक जागृत नहीं होता तब तक कठिनाई समाप्त नहीं होती। जहां अंधेरा होता है वहां सब कुछ समान दिखाई देता है, सब कुछ एक मान लिया जाता है। हेय और उपादेय का भेद नहीं होता। हेय भी करते चले जाते हैं और उपादेय भी करते चले जाते हैं। तब तक हेय और उपादेय का भेद नहीं समझते तब तक प्रकाश हमें प्राप्त नहीं हो सकता। जब विवेक स्पष्ट हो जाता है तब प्रत्याख्यान की बात आती है। हेय अपने-आप छूट जाता है। हेय तब तक ही रहता है जब तक हमारा विवेक जागृत नहीं होता। जैसे ही हेय छूटता है, प्रत्याख्यान प्राप्त हो जाता है। संयम सध जाता है। संयम के सधते ही संवर प्राप्त हो जाता है। संयम हमारी साधना है और संवर उसकी निष्पत्ति है। किसी विजातीय तत्त्व का बाहर से न आना संवर है। जब संयम की साधना होती है तब बाहर से आना अपने-आप बंद हो जाता है। जब संवर सधता है तब तप की चेतना शुरू हो जाती है। एक आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है। जब तक बाहर से रसद पहुंच रहा था तब तक बहुत बड़ी शक्ति मिल रही थी। बाहर का सारा रसद बंद हो गया, अब जो भीतर है उसमें बड़ा आन्दोलन होने लग जाएगा। तप की प्रक्रिया एक साधना है। निर्जरा उसकी निष्पत्ति है। निर्जरा कोई साधना नहीं है, संवर कोई साधना नहीं है। ये दोनों निष्पत्तियां हैं। संयम की निष्पत्ति है संवर और तप की निष्पत्ति है निर्जरा। जब बाहर से आना बंद हो जाता है और जो भीतर है वह बाहर भागने लगता है, उसका भीतर रहना कठिन होता है, उस समय अकर्म की स्थिति प्राप्त होती है। हमारी चंचलताएं समाप्त हो जाती हैं। हमारी प्रवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। सहज ही स्थिरता प्राप्त होती है, अकर्म की अवस्था उपलब्ध होती है। अकर्म की स्थिति प्राप्त होने के पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है। तब ज्ञाता और द्रष्टाभाव स्थिर हो जाता है। जिस ज्ञाता और द्रष्टाभाव के लिए यात्रा प्रारम्भ की थी वह यात्रा संपन्न हो जाती है। यह हमारी यात्रा की मंजिल है। इसमें हमारा स्वरूप प्रकट हो जाता है। हमारा स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—सिद्ध, बुद्ध और मुक्त।

इस यात्रा-पथ का पहला ज्योतिस्तंभ है—विवेक। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा की समूची साधना विवेक-जागरण के लिए है। जब तक विवेक जागृत नहीं होता तब तक आगे नहीं बढ़ा जा सकता। दो बातें हैं—ज्ञाता-द्रष्टा-भाव और प्राणशक्ति। इन दोनों के बीच में है—सघन मूर्च्छा का चक्रव्यूह। इसके रहते हुए कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता। मूर्च्छा ने अपनी सुरक्षा के लिए चार रक्षापंक्तियां बना रखी हैं :

१. पहली रक्षापंक्ति है—आवेग, उत्तेजना।

२. दूसरी रक्षापंक्ति है—प्रमाद, विस्मृति।

३. तीसरी रक्षापंक्ति है—आकांक्षा, इच्छा।

४. चौथी रक्षापंक्ति है—अविवेक।

यदि पहले ही यह प्रयत्न हो कि हम प्रियता और अप्रियता के भाव को समाप्त कर दें, राग-द्वेष को समाप्त कर दें, और अपने आत्म-अस्तित्व तक पहुंच जाएं, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लें तो यह दुःसाहस होगा। वहां तक हम पहुंच ही नहीं पाएंगे। हमें एक क्रम से चलना होगा। अविवेक सबसे सघन रक्षापंक्ति है। इसको तोड़े बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। उसको तोड़ने के बाद शेष तीन रक्षापंक्तियां अपने-आप टूट जाती हैं, क्योंकि ये इतनी सुदृढ़ नहीं हैं जितनी कि अविवेक की रक्षापंक्ति है। अविवेक की रक्षापंक्ति पर प्रहार करना दुःख पर पहला प्रहार होगा। आप प्रहार करना चाहते हैं, सभी रक्षापंक्तियों का भेदन करना चाहते हैं और उन्हें भेद कर अपने अस्तित्व तक पहुंचना चाहते हैं। किन्तु प्रश्न है कि यह कैसे किया जाए? उसकी प्रक्रिया क्या है? अभ्यास का क्रम क्या है? साधना क्या है?

इस साधना के दो प्रयोग हैं। एक है—विवेक-प्रतिमा का और दूसरा है—कायोत्सर्ग-प्रतिमा का। तीन या छह महीने तक इनका प्रयोग चले। चैतन्य के जागरण में निश्चित ही सफलता मिलेगी।

विवेक प्रतिमा

कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठे या खड़े रहें। मन को शांत करें। चिन्तन या विचार के स्तर पर नहीं किन्तु अनुभव के स्तर पर चलें। विचार के स्तर में तथा अनुभव के स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। विचार सतही होता है। उसमें गहराई नहीं होती। एक आता है, दूसरा चला जाता है। जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव की गहराई में पहुंच जाते हैं तब उसमें तन्मयता आ जाती है और एक तादात्म्य संबंध जुड़ जाता है। उस तादात्म्यभाव के साथ आप देखें—मैं क्रोध नहीं कर रहा हूं, क्योंकि क्रोध मुझे दुःख देता है। उसे मैं कैसे अपनाऊं? क्या कभी अपना अस्तित्व अपने-आपको दुःख दे सकता है? क्या अपना स्वरूप अपने-आपको कष्ट दे सकता है? 'मैं क्रोध नहीं हूं।' 'मेरी चेतना क्रोध नहीं है।' प्राण की धारा उसके साथ जुड़ रही है और मैं क्रोध बन रहा हूं। मुझे विवेक कहता है कि प्राण की धारा के साथ क्रोध को न जोड़ूं। प्राण की धारा को हटाएं और क्रोध को अपने उपयोग से, अपनी चेतना से, अपने ज्ञान से अलग अनुभव करें। सोचें नहीं, विचारें नहीं। यदि सोचेंगे और विचारेंगे तो वह चेतन मन तक नहीं पहुंचेगा। जितना रूपान्तरण होता है वह चेतन मन के स्तर पर नहीं हो सकता। चेतन मन स्थूल होता है। स्थूल मन के स्तर पर रूपान्तरण नहीं हो सकता। रूपान्तरण अवचेतन मन के स्तर पर होता है। उस स्तर पर गए बिना रूपान्तरण नहीं हो सकता। अध्यवसाय का स्तर अवचेतन मन का स्तर है। अनुभव के स्तर पर पहुंचकर आप अनुभव करें—'मैं क्रोध नहीं हूं।' 'मैं अभिमान नहीं हूं।' 'मैं लोभ नहीं हूं।' 'मैं घृणा नहीं हूं।' 'मैं राग नहीं हूं।' 'मैं द्वेष नहीं हूं।' यह मेरा स्वभाव नहीं है। यह मेरा धर्म नहीं है। इस गहराई में जाकर आप अनुभव करें और करते चले जाएं। वहां जो शेष बचेगा वह 'मैं हूं।' यह विवेक की पद्धति है। इसे हटाते चले जाओ, काट-छांट करते चले जाओ, तोड़ते-तोड़ते चले जाओ, जो शेष बचेगा, वह 'मैं हूं'। जो शेष बचता है, जिसका विभाजन नहीं होता, वह 'मैं हूं'। इस अनुभव में विवेक जागृत हो जाता है। यही है—सम्यग्दर्शन।

जब सघन मूर्च्छा की गांठ खुलती है तब हमारा विवेक स्पष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट अनुभव होने लग जाता है कि 'मैं कौन हूं? आज तक हजारों बार यह पूछा जाता रहा है कि 'मैं कौन हूं?' परन्तु यह प्रश्न सदा अनुत्तरित ही रहा। इस विवेक-प्रतिमा द्वारा उसका उत्तर हाथ लग जाता है। यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि 'मैं वह हूं'। प्रश्न सदा के लिए समाहित हो जाता है। विवेक करें, किन्तु प्रतिमा होकर करें, आदमी होकर नहीं। प्रतिमा जितनी शांत, स्पष्ट और स्थिर होती है, उसी अवस्था में जाकर विवेक करें। प्रतिमा की भांति शांत, स्थिर, निश्चल होकर करें। अस्तित्व के जागरण में अस्तित्व-बोध की यात्रा में यह विवेक प्रतिमा बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक सिद्ध होगी ।

कायोत्सर्ग-प्रतिमा

इसका अर्थ है—शरीर को छोड़ना । 'आचारांग सूत्र' में एक शब्द है—मुयच्च-मृतार्चा । अर्चा का अर्थ है—शरीर । जब तक अर्चा नहीं मरती, शरीर नहीं मरता तब तक धर्म को नहीं जाना जा सकता । यह वैज्ञानिक सूत्र है ।

धर्म का पहला रहस्य है—विवेक का जागरण । यह तब समझ में आता है जब शरीर मर जाता है । कायोत्सर्ग शरीर के मारण की प्रक्रिया है । शरीर को मार दें, छोड़ दें । जीवन का सार है—जीवित शरीर का मृत-सा हो जाना ।

जब किसी व्यक्ति को जीवित होते हुए भी मृत होने की अनुभूति होती है तब कायोत्सर्ग घटित होता है ।

आदमी मरा या नहीं, इसे जानने के लिए मृत व्यक्ति के नथुनों पर रुई का फोवा रखा जाता है । यदि श्वास का स्पंदन नहीं है तो आदमी मृत है । शरीर का स्पंदन और श्वास का स्पंदन—ये जीवित रहने के दो मूल-भूत प्रमाण हैं । यदि दोनों नहीं हैं तो मृत्यु घटित हो जाती है ।

कायोत्सर्ग मरण की प्रक्रिया है, मृत्यु की प्रक्रिया है । इसमें दोनों बातें घटित होती हैं । शरीर इतना शिथिल कि उसमें कोई प्रवृत्ति नहीं होती । श्वास इतना मंद कि उसके स्पंदन अत्यंत हल्के हो जाते हैं । लगता है कि श्वास बंद हो गया है ।

कायोत्सर्ग में दो बातें अवश्य होनी चाहिए—शरीर शांत, श्वास शांत । शरीर शांत है और श्वास शांत है तो काया का विसर्जन, काया की मृत्यु । कायोत्सर्ग विवेक की बहुत बड़ी प्रक्रिया है । यदि हमने यह समझ लिया कि यह शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है, यह श्वास हमारा अस्तित्व नहीं है । हमारा अस्तित्व श्वास से हट कर है । हमारा अस्तित्व शरीर से हट कर है । ये एक पहलू के दो रूप हैं—श्वास अस्तित्व, अस्तित्व श्वास । शरीर अस्तित्व और अस्तित्व शरीर । शरीर आत्मा और आत्मा शरीर । यह इतना जो एकीकरण हो रहा है, यह मूर्च्छा की सघन रक्षापंक्ति है । इसमें लगता नहीं कि ये दो हैं । अद्वैत, कोरा अद्वैत-सा लगता है । जब कायोत्सर्ग का अभ्यास पुष्ट होता है तब शरीर और आत्मा, श्वास और आत्मा के पार्थक्य का स्पष्ट भान होने लगता है । ऐसा अनुभव होता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानो शरीर छूट गया। प्रवृत्ति इतनी शांत हो जाती है कि ऐसा अनुभव होता है कि शरीर है ही नहीं और कभी-कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि साधक पूछ बैठता है—अरे, मेरा शरीर कहां चला गया? यह अनहोनी बात नहीं है। ऐसा होता है। कायोत्सर्ग का अभ्यास भेदज्ञान की साधना है।

एक साधक गुरु के पास जाकर बोला—"मेरा मोह शांत नहीं हो रहा है। मान की मात्रा भी नहीं घट रही है। अहं का आवेग भी है। यह नहीं हो रहा है। वह नहीं हो रहा है।" उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। आचार्य शांतभाव से सुनते रहे। उन्होंने कहा—"चुप रहो। मेरी शांति भंग मत करो। चले जाओ। छह महीनों तक एक प्रयोग करो कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। फिर मेरे पास आना।"

शिष्य अपने स्थान पर गया। छह महीने तक उसी प्रक्रिया में लगा रहा। बहुत ही तन्मयता से वह प्रयोग करता रहा। छह महीने बीते। वह आचार्य के पास आया। आचार्य ने कहा—"कुछ पूछना चाहते हो?" शिष्य बोला—"कुछ भी नहीं पूछना चाहता। सारे प्रश्न समाहित हो गए हैं। मन में प्रश्न रहे ही नहीं। सब समाप्त हो चुके हैं।"

प्रश्न तब तक उभरते हैं जब तक हमारा स्तर बौद्धिक होता है, अनुभवात्मक नहीं होता। श्रवण और ज्ञान बौद्धिक पक्ष के प्रतिनिधि हैं। ज्ञान के बाद आता है—विज्ञान। विज्ञान अर्थात् विवेक। यहां से साधना प्रारम्भ होती है। अनुभव का स्तर यात्रा-पथ बनता है।

सम्यग्दर्शन की साधना के दो सूत्र हैं—विवेक प्रतिमा और कायोत्सर्ग प्रतिमा। दोनों की चर्चा प्रस्तुत की है। प्रश्न होता है कि विवेक प्रतिमा की साधना से क्या फलित होता है? विवेक जागरण से क्या होता है? इसके पांच परिणाम हैं:

पहला परिणाम है—शांति। सम्यग्दर्शन के बिना शांति नहीं हो सकती। हेय और उपादेय को समझे बिना शांति फलित नहीं होती।

दूसरा परिणाम है—मुमुक्षुभाव। बंधन में आदमी रहना नहीं चाहता। जिसे शांति का अनुभव हो चुका है वह बंधन में रहना नहीं चाहेगा। जिससे शांति मिली है उसी ओर जाना चाहेगा। फिर मोह की मूर्च्छा सघन नहीं होगी संवेग का अर्थ है—मुमुक्षा—मुक्त होने की इच्छा।

तीसरा परिणाम है—अनासक्ति। जो शांति और संवेग का अनुभव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर चुका है वह कहीं आसक्त नहीं होगा। वह मार्ग में कभी आसक्त नही होगा। वह मंजिल तक पहुंचेगा किन्तु पथ में कहीं आसक्त नहीं होगा। वह मानेगा कि मार्ग मात्र चलने के लिए है। उसमें आसक्त होने जैसी बात नहीं है।

चौथा परिणाम है—अनन्त करुणा। क्रूरता समाप्त हो जाएगी। अनन्त मैत्री का विकास होगा।

पांचवां परिणाम है—सत्य के प्रति समर्पण। वह साधक सदा के लिए सत्य के प्रति समर्पित हो जाएगा। फिर वह असत्य के लिए कोई काम नहीं करेगा।

विवेक-जागरण के ये पांच फलित हैं।

हमारी यात्रा का पहला ज्योतिस्तंभ है—विवेक-जागरण। अस्तित्व-दर्शन का पहला साधन है—सम्यग्दर्शन। सम्यक् का दर्शन अर्थात् विवेक-चेतना का जागरण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २

संकलिका

- संजमति णो पगब्भति। [आयारो, ५।५१]
- एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे, निव्विन्नचारी—[आयारो, ५।५४]
  - मुमुक्षु इन्द्रियों का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता।
  - मुमुक्षु अपने लक्ष्य की ओर मुख किये चले। वह चेतना-जागरण की विरोधी दिशाओं का पार पा जाए, पदार्थ के प्रति विरक्त रहे।
- निमित्त से बचें या उपादान को निर्मल करें।
- हेय-उपादेय का विवेक होने पर हेय का प्रत्याख्यान होता है।
- अतीत का प्रतिक्रमण और अनागत का प्रत्याख्यान।
  - अनागत का प्रत्याख्यान होने पर वर्तमान का संवर स्वयं, फिर अतीत की शुद्धि।
- अपने केन्द्र या धुरी से खिसकी हुई चेतना का अपने केन्द्र पर लौट आना।
- प्रत्याख्यान मूर्च्छा के व्यूह पर दूसरा प्रहार है।
- प्रत्याख्यान और संवर के बीच का तत्त्व है—संयम।
  संयम से प्रत्याख्यान सिद्ध होता है और संवर निष्पन्न।
  संयम साधना है और संवर निष्पत्ति।

• संयम की साधना के आयाम

- अस्पर्श—विषय का स्पर्श न करें।
  - स्पर्श में अस्पर्श—विषय का स्पर्श होने पर भी राग-द्वेष की चेतना को न जोड़ें।
  - प्रतिसंलीनता—प्राण का प्रतिसंहरण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- इन्द्रिय-चेतना के प्रति जागरूकता—वृत्ति को देखना : इन्द्रिय-चेतना द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति को देखना ।

• प्रतिसंलीनता

- इन्द्रिय, शरीर, वाणी, मन और श्वास की सक्रियता प्राण के द्वारा ।
- प्राण-धारा को खींच लेने पर वे निष्क्रिय हो जाते हैं ।
- संकल्प-शक्ति के द्वारा
- तन्मूर्त्ति-ध्यान के द्वारा
- एकाग्रता के द्वारा

(प्राण-शक्ति को खींचकर किसी एक बिंदु पर ले जाएं ।)

• संयम के अर्थ

- अस्वीकार—इच्छा उत्पन्न हो उसका उत्तर न दें ।
- सतत संकल्प—दृढ़ निश्चय करें । इतना दृढ़ निश्चय करें जिससे वातावरण या व्यक्ति आन्दोलित हो जाए ।
- दीर्घकालिक एकाग्रता ।
- तन्मूर्त्ति-ध्यान—लक्ष्य के रूप में स्वयं का परिणमन ।
- ज्ञान-तन्तुओं को कृत्य का निर्देश ।

• ज्ञाता-द्रष्टा का प्रयोग

- मन को भीतर ले जाएं ।
- अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप का अनुभव करें ।
- वृत्तियों को तटस्थभाव से देखते जाएं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास : संयम

हमारे अस्तित्व के दो महास्रोत हैं—शक्ति और चेतना। चेतना के द्वारा हम बाह्य को प्रकाशित करते हैं और अपने-आप भी प्रकाशित होते हैं। शक्ति के द्वारा चेतना हो सकती है, पर उसका उपयोग नहीं हो सकता। मस्तिष्क के होने पर भी यदि प्राणशक्ति स्वस्थ नहीं है तो मस्तिष्क का कोई उपयोग नहीं हो सकता। इन्द्रिय-चेतना है, पर यदि उसके साथ प्राण-ऊर्जा का योग नहीं है तो इन्द्रिय-चेतना का कोई उपयोग नहीं हो सकता। शक्ति का स्वस्थ योग मिलने पर ही चेतना काम कर सकती है।

शक्ति का विकास और चेतना का विकास—दोनों साथ-साथ चलते हैं। शक्ति का विकास प्रत्याख्यान के द्वारा हो सकता है। विवेक-चेतना के जागरण पर जो पहली प्रतिक्रिया होती है वह है प्रत्याख्यान। जैसे ही विवेक-चेतना जागती है, हेय और उपादेय—दोनों जान लिये जाते हैं। इस स्पष्ट ज्ञान के बाद जो हमारी प्रतिक्रिया होती है, वह है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोड़ना। प्रत्याख्यान हो सकता है शक्ति के प्रयोग के द्वारा।

शक्ति का एक रूप है—संकल्प। संकल्प अर्थात् इच्छा शक्ति। दो आदमी हैं। एक बैठा है, चल रहा है। प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? दोनों क्यों नहीं चल रहे हैं? दोनों क्यों नहीं बैठे हैं? इस अन्तर के पीछे एक शक्ति जो काम कर रही है, वह है इच्छाशक्ति। प्राणी में इच्छाशक्ति होती है। वह अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, कोई कार्य करता है, कोई कार्य नहीं करता। इच्छा होती है तब चलने लग जाता है। इच्छा होती है तब बैठ जाता है। इच्छा होती है तब बोलने लग जाता है। इच्छा होती है तब मौन हो जाता है। इच्छा होती है तब खाने बैठ जाता है और इच्छा होती है तब आराम करने लग जाता है। उसका सारा काम इच्छा से प्रेरित होता है।

दार्शनिक युग में एक प्रश्न उठा था कि वायु जीव है या नहीं? कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिकों ने कहा—वायु जीव है। कुछ दार्शनिकों ने कहा—वायु जीव नहीं है। वायु को जीव स्वीकार करने वालों ने तर्क दिया कि वायु गतिमान् है, इसलिए जीव है। फिर प्रश्न हुआ कि पुद्गल भी गतिमान् है, वह भी जीव होना चाहिए। फिर कहा गया कि केवल गतिमान् होने से ही जीव नहीं होता। वायु दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर गति नहीं करता, वह स्वतः गतिमान् है। पुद्गल स्वतः गतिशील नहीं है। वह दूसरे की प्रेरणा से गतिशील है। वह दूसरे की प्रेरणा से गतिशील है, इसलिए वह जीव नहीं है। जिसमें गति करने की इच्छा है, गति की स्वतः प्रेरणा है, वह जीव है। एक ढेला फेंका। वह भी गति करेगा। एक गोली दागी। वह भी बहुत दूर तक गति करेगी। यह स्व-प्रेरित गति नहीं है। यह पर-प्रेरित गति है। जो स्व-प्रेरित गति करता है वह प्राणी हो सकता है।

जीव का बहुत बड़ा लक्षण है—इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति। यह जीव की पहचान है। जिसमें संकल्पशक्ति नहीं होती, वह जीव नहीं हो सकता। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों में, चाहे फिर वे पृथ्वी के हों या वनस्पति के, उनमें भी इच्छाशक्ति होती है, संकल्पशक्ति होती है।

शक्ति का एक रूप है—संकल्पशक्ति, एक रूप है—एकाग्रता, एक रूप है—नियामक शक्ति।

हमारे शरीर की शक्ति का केन्द्र है—नाड़ी-संस्थान। शरीर में यदि नाड़ी-संस्थान न हो तो शरीर का कोई बहुत बड़ा मूल्य नहीं है। कुछ भी मूल्य नहीं है। नाड़ी-संस्थान में ज्ञानवाही और क्रियावाही—दोनों प्रकार के नाड़ी-मंडल हैं। यदि इन दोनों प्रकार के नाड़ी-मंडलों को निकाल दिया जाए तो न ज्ञान होगा और न क्रिया होगी।

हमारी चेतना और शक्ति—इन दोनों के संभाव्य केन्द्र इस नाड़ी-संस्थान में हैं। आप यह न भूलें कि हमारे अस्तित्व के दो मूल स्रोत हैं—चेतना और शक्ति। उनका संवादी केन्द्र है हमारा स्थूल शरीर। सूक्ष्म शरीर में जो स्पंदन होंगे, उनके संवादी केन्द्र इस स्थूल शरीर में हैं। बिना संवादी केन्द्रों के अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति के लिए माध्यम चाहिए। क्योंकि जब भीतर से बाहर आना होता है तब वह बिना माध्यम के नहीं हो सकता। यह माध्यम है—नाड़ी-संस्थान। वह ज्ञानावाही नाड़ी-मंडल के द्वारा आत्म-चेतना को अभिव्यक्त करता है तथा क्रियावाही नाड़ी-मंडल के द्वारा आत्म-शक्ति को अभिव्यक्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैर में कांटा लगा। हाथ उसे निकालने के लिए तत्पर हो जाता है। यह क्यों और कैसे होता है? ज्ञानवाही नाड़ी-मंडल इस बात को ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुंचाता है और मस्तिष्क हाथ के ज्ञानवाही तंतुओं को आदेश देता है कि कांटे को निकालो। हाथ उस कार्य में तत्पर हो जाता है।

वह समूचा नाड़ी-संस्थान साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधक यदि नाड़ी-संस्थान को नहीं समझता है तो वह साधना में सफल नहीं हो सकता।

हम प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोड़ना। इससे संयम हो गया। क्या छोड़ देने मात्र से संयम हो गया? आपने संकल्प-शक्ति को जागृत कर लिया। आपने संकल्प कर लिया कि आज से मैं वह नहीं करूंगा जो पहले करता था। यह संयम हो गया, किन्तु संकल्प-शक्ति का एक ही काम नहीं है। केवल संयम होना ही पर्याप्त नहीं है। उसकी सिद्धि होनी चाहिए। उसकी सिद्धि के लिए और बहुत कुछ करना होता है। संयम किया, संवर हो गया। अनागत का प्रत्याख्यान किया, वर्तमान का संवर हो गया। किन्तु अनागत का प्रत्याख्यान पुष्ट कैसे हो? क्या केवल संकल्प के सहारे लम्बी यात्रा की जा सकती है? संकल्प से दरवाजे तो बंद हो गए, किन्तु भीतर जो कूड़ा-करकट जमा हुआ था, उसे निकालना भी आवश्यक होता है। उसे निकालने की प्रक्रिया के दो रूप हैं। एक है निमित्तों से सम्बन्धित और दूसरी है उत्पादन से सम्बन्धित।

संयम की साधना प्रारंभ कर दी। निमित्त आते हैं और मन को आंदोलित कर देते हैं। कोई गाली आती है, मन आंदोलित हो जाता है। कोई प्रशंसा आती है, मन आंदोलित हो जाता है। कोई शब्द, रूप, रस और गंध आती है, मन आंदोलित हो जाता है। संयम को धक्का लगने लगता है। क्या हम निमित्तों से बच सकते हैं? संयम की साधना में एक अभ्यास चालू किया गया कि निमित्तों से बचो, विषयों का प्रत्याख्यान करो, विषयों से बचो। ऐसा करना कोई कठिन बात नहीं है, साधारण बात है।

बच्चा ऊधम मचा रहा है। मां ने उसे चांटा मारा। चांटा मारते ही मां के स्नायु-संस्थान में आवेश का अंकन हो जाता है। अब वह संस्कार बन जाता है। जब भी ऐसा प्रसंग आता है, न चाहते हुए भी हाथ उठ जाता है।

निमित्तों का बड़ा महत्त्व है। नाड़ी-संस्थान जिस बात को पकड़ लेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है फिर वह प्रत्याख्यान से टल नहीं सकता। मादक वस्तुओं का सेवन करने करने वाले जानते हैं कि मादक वस्तुओं का सेवन अच्छा नहीं है। वे नहीं चाहते कि मदिरा पी जाए, किन्तु जब समय आता है तब उनकी सारी नाड़ियां व्याकुल हो जाती हैं। मांग इतनी प्रबल हो जाती है कि न पीने की बात नीचे दब जाती है और वह नाड़ी-संस्थान विवश करता है उसे पीने के लिए। नाड़ी-संस्थान बहुत बड़ा निमित्त है। संयम की साधना में एक कठिनाई है बाहर के निमित्तों की और दूसरी कठिनाई है स्नायु-संस्थान की। सब कुछ यही नहीं है।

परिस्थितिवाद के विचारक और निमित्तवादी विचारक सारा का सारा दोष निमित्तों पर डालते हैं, परिस्थितियों पर डालते हैं। जैसी परिस्थिति, जैसा वातावरण, वैसा परिणाम। ये इनसे आगे नहीं जाते। यहीं इनकी कथा समाप्त हो जाती है। उनके सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न यह है कि मस्तिष्क के केन्द्रों का नियामक कौन तत्त्व है? कोई कहते हैं कि हमारा नाड़ी-संस्थान मस्तिष्क के केन्द्रों का नियमन करता है। किन्तु यह कोई समाधान नहीं है।

शरीर का नाड़ी-संस्थान और मस्तिष्क का नाड़ी-संस्थान जितने केंद्रों का नियंत्रण करता है उसका मूल कारण, उपादान कारण, मस्तिष्क में नहीं है, किन्तु वह है सूक्ष्म शरीर में और सूक्ष्म शरीर में उपादान आता है आत्मा से।

हम निमित्तों से बचें। प्रत्याख्यान के बाद हम जागरूक रहें कि ऐसी कोई भी प्रवृत्ति न हो जो कि आदत बन जाए। हम पूर्ण जागरूक और सचेत रहें। यह प्रत्याख्यान हो गया। किन्तु जब तक उपादान शुद्ध नहीं होगा तब तक भीतर से आने वाला रूप रुकेगा नहीं। आपने आंख बंद की, बाहर का रूप समाप्त हो गया। किन्तु कोई भी आदमी जीवन-भर आंखें बंद कर बैठ नहीं सकता। आंख चैतन्य का वातायन है, झरोखा है। इसमें से छनकर हमारे चैतन्य की रश्मियां बाहर आती हैं। उसे बंद क्यों किया जाए? हमारे जो स्नायु हैं, वे जो प्रवृत्ति करते हैं उनको बंद क्यों किया जाए? न इन्द्रिय के वातायन को समाप्त किया जा सकता है और न स्नायु-संस्थान को रोका जा सकता है, न मन की गति को सर्वथा रोका जा सकता है।

यह निमित्तों से अल्पकाल के लिए बचने की बात समझ में आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती है, किन्तु यह सार्वभौम, सार्वकालिक हो, यह बात समझ में नहीं आती। ऐसा होना भी नहीं चाहिए। हमारा यह तप जड़ता की ओर न बढ़े। चेतना का तप चलता रहे। हम इन्द्रियों का उपयोग करें, मन का उपयोग करें और नाड़ी-संस्थान को इतना स्वस्थ रखें जिससे कि हमारा मस्तिष्क हमारा सहयोग कर सके।

बहुत सारे लोग अज्ञानवश ऐसी क्रियाएं कर लेते हैं जिनसे उन्हें भारी हानि होती है। वे तपस्या के नाम पर तथाकथित तपस्या करते हैं। उनका नाड़ी-संस्थान इतना दुर्बल और क्षीण हो जाता है कि वह तपस्या उनको विकास की ओर नहीं ले जाती, ह्रास की ओर ले जाती है।

तपस्या का अर्थ है—प्राणशक्ति का विकास। यदि प्राणशक्ति का विकास, ऊर्जा का विकास नहीं होगा तो चैतन्य का विकास कैसे होगा? तपस्या इसलिए की जाती थी कि प्राणशक्ति का विकास हो, ऊर्जा का विकास हो। किन्तु तपस्या का अर्थ समझा गया कि शक्ति कम हो, शरीर क्षीण हो। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। इसे हम निकालें। हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें कि शक्ति का ह्रास जिससे हो, वह धर्म का कार्य नहीं हो सकता।

हम शक्ति के केंद्रों को बंद नहीं करेंगे, वातायनों को खुला रखेंगे। किन्तु यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि जब निमित्त हैं तो उनके दोषों को कैसे रोका जा सकता है। इनसे बचने का उपाय क्या है?

इनसे बचने का उपाय है—उपादान की सिद्धि। मनुष्य यांत्रिक जीवन जी रहा है। कम्प्यूटर के आविष्कार के बाद यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य यांत्रिक है। जो कुछ मनुष्य करता है, कर सकता है, वह सब कुछ कम्प्यूटर करता है। वह कविता बनाता है, प्रश्न करता है, प्रश्न के समाधान प्रस्तुत करता है, गणित के जटिलतम प्रश्न हल करता है, अभिवादन करता है, स्मृति रखता है, अनागत की कल्पना करता है, सोचता है, मीमांसा करता है, विश्लेषण करता है, विवेक करता है, सब कुछ करता है जो मनुष्य करता है।

फिर प्रश्न उठा कि मनुष्य और यंत्र में अन्तर क्या है? भेदरेखा क्या है? मनुष्य आत्मवान् है, यंत्र आत्मवान् नहीं है? प्राणी और अप्राणी के बीच की यह भेदरेखा है। किन्तु जब महावीर से पूछा गया—

"क्या आत्मा श्वास लेती है?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"नहीं, वह श्वास नहीं लेती।"

"क्या आत्मा सोचती है?"

"नहीं, आत्मा नहीं सोचती।"

"क्या आत्मा खाती-पीती है?"

"नहीं, आत्मा न खाती है और न पीती है।"

महावीर ने सारे उत्तर नकार में दिए। वे नहीं, नहीं कहते गए। नेति-नेति।

फिर प्रश्न हुआ कि मनुष्य आत्मवान् कैसे है? वह आत्मवान् कैसे बने? इस परिधि में रहकर कोई भी आत्मवान् नहीं बन सकता। कोई भी संयम की साधना नहीं कर सकता। कोई भी उपादान की शुद्धि नहीं कर सकता। इस परिधि को तोड़ना होगा। यह परिधि चेतना की परिधि नहीं है। यह मात्र एक यांत्रिक परिधि है, चेतना के आसपास में होने वाली। इस परिधि को तोड़कर गहरे में जाना होगा। यदि हम वहां तक पहुंच पाएं कि जहां हम केवल जानने वाले हैं, केवल देखने वाले हैं, खाने-पीने वाले नहीं, सोचने वाले नहीं, विश्लेषण करने वाले नहीं, केवल जानने और देखने वाले, केवल ज्ञाता और द्रष्टा—वह होगी प्राणी और अप्राणी के बीच की भेदरेखा, जीव और अजीव के बीच की भेदरेखा। यह उपादान है। इस उपादान तक पहुंचते ही यांत्रिक जीवन समाप्त हो जाता है और संयम की सिद्धि का सूत्र प्राप्त हो जाता है। संयम की सिद्धि का अर्थ है—ज्ञाता-द्रष्टाभाव की अनुभूति। जब तक ज्ञाता-द्रष्टाभाव की अनुभूति होती रहेगी, संयम शुद्ध होता चला जाएगा। जब-जब यह अनुभूति छूटेगी, तब-तब प्रत्याख्यान पर धक्का लगता रहेगा।

हमारी चेतना के दो विशाल क्रीड़ा-प्रांगण बने हुए हैं। एक का नाम है—विषय-रमण और दूसरे का नाम है—आत्म-रमण। चेतना दोनों में क्रीड़ा करती है। कभी वह विषय-रमण करने लगती है और कभी आत्म-रमण। जब जीवन की यांत्रिक प्रक्रिया चलती है तब चेतना विषयों में क्रीड़ा करती है, उसी ओर भागती है। यह बाहर की प्रक्रिया है।

आत्म-रमण का अर्थ है—उपादान तक पहुंचना, अपने स्वरूप में क्रीड़ा करना। चिन्तन की परिधि, श्वास की परिधि तथा सारी यांत्रिक परिधियों को तोड़कर ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव की सीमा में पहुंच जाना आत्म-रमण है और यही चेतना का स्वाभाविक क्रीड़ा-प्रांगण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम को बाहर से नहीं लाया जा सकता। उसका स्रोत बाहर नहीं है। उसका उपादान है—भीतर में, गहरे भीतर में। वह है—ज्ञाताभाव, द्रष्टाभाव। जब चेतना ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव से जुड़ जाती है, उसमें रमण करने लग जाती है तब निमित्तों का प्रभाव नष्ट हो जाता है। हजारों निमित्त मिलकर भी चेतना को प्रभावित नहीं कर सकते। जब तक चेतना उस उपादान तक नहीं पहुंचती, ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव में रमण नहीं करती तब तक निमित्त नहीं मिलने पर भी मनुष्य निमित्तों की टोह में जाता है, उनको पैदा करता है, उनके पास जाने का प्रयत्न करता है। वहां तक पहुंचने के लिए वृत्तियां आंदोलित होती हैं।

संयम की साधना का पहला सूत्र है—चेतना को ज्ञाताभाव-द्रष्टाभाव से संयुक्त करना।

संयम की साधना का दूसरा सूत्र है—देखना। आंख से केवल देखना, कान से केवल सुनना, जीभ से केवल चखना। इनके साथ न राग को जोड़ें और न द्वेष को जोड़ें। कोरा देखें, कोरा सुनें और कोरा खाएं। अच्छे-बुरे का विकल्प न करें। चेतना की इस निर्मल धारा में, चेतना की इस गंगा में प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष की गंदगी को न जुड़ने दें। यह दूसरा सूत्र है।

पहला सूत्र है निमित्तों से बचने का और दूसरा सूत्र है चेतना की धारा के साथ विकल्पों को न जोड़ने का। किन्तु ये दोनों तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि उपादान के खूंटे पर वह गाय नहीं बंध जाती। इसके बिना संयम की साधना भी सफल नहीं होती और प्रत्याख्यान पर लगने वाले धक्कों को भी नहीं रोका जा सकता। प्रत्याख्यान से संयम फलित होता है और संयम की निष्पत्ति है—असम्पर्क।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि उपादान तक कैसे पहुंचा जाए? उस तक पहुंचने की प्रक्रिया या प्रयोग क्या है?

पहले हम निमित्तों से चलें। बाहर के निमित्तों को एक बार छोड़ दें। स्नायु-संस्थान में आदत अर्जित है या मौलिक, इससे निपटने के लिए भावना का प्रयोग करें। प्राचीन भाषा में जिसे हम भावना कहते हैं, मनोविज्ञान की भाषा में उसे सुझाव कहा जाता है। ज्ञानतंतुओं को सुझाव दें, निर्देश दें। यह निर्देशन की क्रिया सुझाव की क्रिया है। आदत के परिवर्तन में यह बहुत सहायक प्रक्रिया है। कोई भी इन्द्रिय की उच्छृंखलता है, चंच-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लता है, विक्षेप है और हम नहीं चाहते कि ऐसा हो तो हम उन ज्ञानतंतुओं को निर्देश दें। पहले हम उसके केन्द्र को पकड़ें और फिर सुझाव दें, निर्देश दें। पहले हम यह जानें कि जिस वृत्ति को हमें बदलना है उसका केन्द्र कौन-सा है? उस केंद्र को पहचानकर हम निर्देश दें। वहां के ज्ञानतंतु हमारा निर्देश मानने लग जाएंगे। निर्देश भी अत्यंत प्रियता के साथ देना चाहिए। भाषा मधुर हो। कठोर और कर्कश भाषा में दिए गए निर्देश उतने कार्यकारी नहीं होते। प्रियता से दिए गए निर्देश बहुत सफल होते हैं। ज्ञानतंतु अत्यन्त कोमल हैं। कोमलता ही उन्हें इष्ट है। निर्देश कोमल हों, कठोर न हों। धीरे-धीरे वे ज्ञानतंतु आपके निर्देशों के अधीन हो जाएंगे। वे आपकी बात मानने लग जाएंगे।

केवल रटन से कोई निष्पत्ति नहीं होती। रटन के साथ भावना हो, तादात्म्य हो, तभी वह सफल होता है। एक आदमी 'संसार अनित्य है', 'शरीर अनित्य है'—ऐसा बार-बार कहता रहे। एक दिन नहीं, एक माह नहीं, वर्ष-भर भी यह रटन लगाता रहे, परन्तु उसकी यह रटन सफल नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने मन को इस अनित्यता के भाव से भावित नहीं कर लेता, वासित नहीं कर लेता, उसके साथ तदात्म नहीं हो जाता, उस भावना को हृद्गत नहीं कर लेता। जब तक वह बात वाणी मात्र का विषय बनी रहती है तब तक वह निष्पत्ति नहीं हो सकती जो हम चाहते हैं। हम जो होना चाहते हैं या हम जो करना चाहते हैं, उसमें ज्ञानतंतुओं को तन्मय बना दें। यही भावना है। हम तन्मूर्तिक बन जाएं।

भगवान् महावीर ने एक शब्द दिया—तन्मूर्ति। बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। उन्होंने कहा—"तुम चलते हो। एक है गति और एक है गतिमान्। ऐसा न रहे। दो न रहें। गति और गतिमान्—ये दो न रहें। तुम स्वयं गतिमान् मत रहो, गति बन जाओ।" गतिमान् और गति—यह द्वैत मिट जाए। अद्वैत रहे। जो गतिमान् है वही गति है और जो गति है वही गतिमान् है। यही तन्मूर्ति है। यही भावना है।

उपादान तक पहुंचने का यह एक प्रयोग है।

उपादान तक पहुंचने का दूसरा प्रयोग है—तटस्थ रहकर वृत्तियों को देखना। वृत्तियों को रोकने का प्रयत्न न हो। जो विचार आ रहे हैं, फिर चाहे वे विचार वासना के हों या अन्य किसी वृत्ति के, आने दें। उन्हें रोकें नहीं। उन्हें मात्र देखें। जो अर्जित है वह तो आएगा ही, उभरेगा ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें बुराई क्या है ? कोई बुराई नहीं है। आने का अर्थ है विपाक। जो एकत्रित है उसका विपाक होगा ही। उसे रोको मत। विपाक आएगा और चला जाएगा। रोकने का अर्थ है उसे और अधिक पुष्ट करना। विचार आते हैं, आने दें, रोकें मत। उन्हें मात्र देखते रहें। तटस्थभाव से देखते रहें। मन से न राग आने दें और न द्वेष। देखते रहें, देखते रहें। 'यह क्रोध का विचार आ रहा है। यह वासना का विचार आ रहा है। यह लोभ का विचार आ रहा है। यह मोह का विचार आ रहा है। यह किसी की हत्या करने का, किसी को मारने का विचार आ रहा है। यह प्रतिशोध लेने का विचार आ रहा है।' इन सबको आने दें। रोकें नहीं। इन्हें देखते जाएं। इन्हें खुलकर आने दें। प्रतिरोध न करें। इन्हें तटस्थता से देखते रहें और हंसते रहें कि क्या-क्या हो रहा है। कैसा नाटक चल रहा है। यह देखने की प्रक्रिया परिवर्तन की सशक्त प्रक्रिया है। देखते-देखते अर्जित आदत में परिवर्तन आने लगता है। यह जागृति की साधना है। इसमें साधक सुषुप्त नहीं रह सकता। वह जागृत रहकर ही उभरने वाली वृत्तियों को देख पाता है।

कुछ मनुष्य प्रश्न करते हैं कि श्वास को देखने का मूल्य ही क्या है ? श्वास भगवान् तो है नहीं कि हम उसे देखते ही रहें। यदि भगवान् को देखते तो कुछ निष्पन्न होता। श्वास को देखने का प्रयोजन ही क्या है ? हम साधनों में श्वास का आलंबन लेकर चल रहे हैं। हमने निरालंब आकाश में चलने के लिए रस्सी बांध ली है। उस रस्सी पर हमें चलना है। परन्तु रस्सी पर चलने में बड़ा खतरा है। हमें पूर्ण जागृत होकर रस्सी पर चलना होगा। एक-एक पग पर पूर्ण जागृत रहना होगा। कहीं भी एक झपकी आयी कि हम नीचे गिर पड़ेंगे। श्वास को देखने की प्रक्रिया जागृत रहने की प्रक्रिया है। यह मन को जागृत रखने की प्रक्रिया है। जब मन जागृत रहेगा तब वृत्तियों को आप ठीक वैसे ही देखेंगे जैसे कि छायाचित्र को देखते हैं, चलचित्र को देखते हैं।

उपादान तक पहुंचने का यह दूसरा प्रयोग है।

उपादान तक पहुंचने का तीसरा प्रयोग है—प्रतिसंलीनता। यह बहुत बड़ा विषय है। इसकी चर्चा आगे करेंगे। आज इतना ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ३

संकलिका

- सव्वओ पमत्तस्स भयं ।
- सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं ।। [आयारो, ३।७५]
- सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति । [आयारो, ३।१]
- णो णिहेज्ज वीरियं । [आयारो, ५।४१]
  - ० प्रमत्त को सब ओर से भय होता है ।
  - ० अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता ।
  - ० अज्ञानी सदा सोते हैं, ज्ञानी सदा जागते हैं ।
  - ० अपनी शक्ति को मत छुपाओ ।
- ज्ञाता-द्रष्टा—केवल द्रष्टा बने रहें ।

  जागृत रहें ।
  श्वास आ रहा है, जा रहा है ।
  कम्पन हो रहा है ।
  विचार उठ रहा है, विलीन हो रहा है ।
  वासना उठ रही है, विलीन हो रही है ।
  क्रोध-उत्तेजना उठ रही है, विलीन हो रही है ।
  निर्विचार दशा में प्रज्ञा उपलब्ध होती है ।
  करने की आदत है, इसलिए न करना या होना कठिन लगता है ।

- अप्रमाद
  - ० चैतन्य का सतत उपयोग ।
  - ० कर्म के साथ चेतना का सतत योग ।
- विवेक—दृष्टि स्पष्ट ।

  संयम—सुख का अनुभव । ज्योति का अनुभव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रमाद—सुखानुभूति की निरन्तरता। अखण्ड ज्योति।

समता—सुखानुभूति के शिखर पर। ज्योतिर्मयः ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित।

- पूर्व कर्म का प्रतिक्रमण
  उत्तर कर्म का प्रत्याख्यान
  ] चरित्र

वर्तमान कर्म-विपाक की आलोचना—भेदानुभव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना की क्रीडाभूमि : अप्रमाद

एक आदमी जा रहा था। रास्ते में एक राक्षस मिला। उसने कहा—"एक समस्या है। इसे पूरी करो।" आदमी ने कहा—"बताओ, समस्या क्या है?" राक्षस ने कहा—"किमाश्चर्यमतः परम्"—"इससे बढ़कर और आश्चर्य ही क्या है?"

आदमी होशियार था। उसने समस्यापूर्ति करते हुए कहा :

"अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्ति यममन्दिरे।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्?"

—प्रतिदिन प्राणी यममन्दिर में जा रहे हैं, मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। यह देखते हुए भी शेष प्राणी यही सोचते हैं कि वे तो सदा जीवित रहेंगे। इससे बढ़कर और बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है?—यह उस आदमी की उपज थी। बहुत ही सुन्दर समाधान उसने दिया।

यदि मुझे इस समस्या की पूर्ति करनी हो तो मैं दूसरे ढंग से ही करूंगा। मैं कहूंगा—

"अनन्तशक्तिसंपन्नाः भिक्षां याचामहे यदि।
दैन्यं प्रदर्शयन्तो हि, किमाश्चर्यमतः परम्?"

—हम अनन्तशक्ति के अधिकारी और स्वामी होते हुए भी अपनी शक्तियों को नहीं जानते। प्रमाद से मूढ़ होकर उन्हें भूल जाते हैं, भूल गए हैं। उनको विस्मृत कर हम यत्र-तत्र अपनी दीनता प्रदर्शित करते हैं। हम कह देते हैं—"मैं एक घंटा एक आसन पर बैठ नहीं सकता। मैं इतनी गर्मी को सहन नहीं कर सकता। मैं ध्यान करता हूं तब सिर में दर्द होने लगता है।" यह दीनता है। इसका प्रदर्शन करना सबसे बड़ा आश्चर्य है। एक ओर तो व्यक्ति अनन्त शक्तियों का स्वामी है और दूसरी ओर वह अल्प समय तक ध्यान करने में भी समर्थ नहीं है, एक आसन में बैठने में भी समर्थ नहीं है। यह सबसे बड़ा आश्चर्य है।

हम अनन्त शक्तिसंपन्न हैं, अनन्त चेतनासंपन्न हैं, विपन्न नहीं हैं। किन्तु हम अपनी इस संपदा से परिचित नहीं हैं। अपनी संपदा का हमें बोध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। बोध न होने का भी एक कारण है। वह कारण है—प्रमाद। यह आवरण हमें अपनी संपदा से परिचित नहीं होने देता। प्रमाद सघन आवरण है। लोहावरण है। वह हमें अपनी संपदा से विलग किए हुए है। एक ओर हम हैं और दूसरी ओर है हमारी संपदा का बोध। बीच में प्रमाद का सघन आवरण है, प्रमाद का लोहावरण है। हमारा उससे संबंध टूट-सा गया है।

अनन्त चेतना और अनन्त शक्ति। चेतना स्पष्ट नहीं होती है तो शक्ति स्पष्ट नहीं होती और शक्ति स्पष्ट नहीं होती है तो चेतना स्पष्ट नहीं होती। दोनों एक-दूसरे से संबंधित हैं। दोनों जुड़े हुए हैं। चेतना का विकास होगा तो शक्ति का विकास होगा और शक्ति का विकास होगा तो चेतना का विकास होगा। चेतना स्पष्ट नहीं है इसीलिए यह बोध नहीं हो रहा है कि हमारे में अनन्त शक्ति है। हम अपनी शक्ति से परिचित नहीं हैं, इसलिए चेतना का उपयोग नहीं कर पाते। हम नहीं जान पाते कि हमारी चेतना कितनी है। दोनों का, चेतना और शक्ति का, संबंध टूट जाता है। दोनों के बीच में एक आवरण आ गया, एक दीवार खड़ी हो गई। दोनों बिछुड़ गए। एक इस ओर रह गया और दूसरा उस ओर। दोनों एक-दूसरे से अपरिचित जैसे हो गए।

साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण चरण है—चेतना का शक्ति के साथ योग करना। एक को दूसरे से जोड़ना। वास्तव में जहां शक्ति और चेतना की समन्विति है वहीं योग की साधना है। यह समन्विति तब संभव होती है जब प्रमाद का आवरण हट जाता है, टूट जाता है।

प्रमाद का आवरण बहुरूपी है। वह अनेक रूपों में प्रस्तुत होता है। वह इतना सघन है कि कोई भी उसमें से झांक नहीं सकता। प्रमाद का रूप है—मादकता। वह चेतन को मादक बना देता है। जैसे मदिरा व्यक्ति में मादकता ला देती है, वैसे ही प्रमाद व्यक्ति को मादक बना देता है। प्रमाद मदिरा है। उसमें बहुत मादकता है। जब प्रमाद छाता है तब चेतना लुप्त हो जाती है, शक्ति भी लुप्त हो जाती है, दब जाती है।

प्रमाद का एक रूप है—निद्रा। आदमी सोता है, साथ-साथ शक्ति और चेतना भी सो जाती है।

प्रमाद का एक रूप है—कषाय की उत्तेजना। क्रोध आता है, चेतना लुप्त हो जाती है, विवेक भी लुप्त हो जाता है।

प्रमाद का एक रूप है—अनुत्साह। धर्म के प्रति, साधना के प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्साह न होना अनुत्साह है।

साधना में उत्साह कम व्यक्तियों में होता है। उन पर प्रमाद छाया रहता है। हम थोड़ा मुड़ें और अपनी संपदा से परिचित होने का उपक्रम करें। हम प्रमाद को हटाने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में सबसे बड़ा सहयोग मिलेगा चेतना का। सबसे पहले हम यह बोध प्राप्त करें कि हमारे में अनन्त शक्ति है। यह बोध हो जाने पर ही उसके प्रयोग की बात सोची जा सकती है। पहले हम अपनी शक्तियों से परिचित हों। हम जान लें कि हमारे भीतर शक्तियों का अजस्र स्रोत बह रहा है। इससे परिचित होते ही फिर उपयोग की सुविधा हो जाती है।

पूर्व चौदह थे। ये ज्ञान के आकर-ग्रंथ थे। इनमें एक था—वीर्य-प्रवाद। इसका वर्ण्य-विषय था—शक्ति के स्रोत और प्रयोग। इसमें केवल शक्ति का ही प्रतिपादन था, अन्य विषयों का नहीं। बहुत अद्भुत ग्रन्थ था। आज वह उपलब्ध नहीं है। इसमें जीव और अजीव, प्राणी और अप्राणी, चेतन और अचेतन—सभी पदार्थों की शक्तियों का वर्णन था। प्राणी की तरह अप्राणी में भी अनन्त शक्ति होती है। अचेतन पदार्थों की विभिन्न शक्तियों का उस ग्रन्थ में वर्णन था। द्रव्य की शक्ति, क्षेत्र की शक्ति और काल की शक्ति अनन्त होती है। अजीव की बहुत बड़ी-बड़ी शक्तियां हैं। इन शक्तियों का सहयोग जीव को भी मिलता है।

अजीव की शक्तियों का विस्तृत वर्णन नहीं करेंगे, किन्तु प्रसंगवश कुछ चर्चा प्रस्तुत करता हूं। क्षेत्र की शक्ति अद्भुत होती है। एक क्षेत्र में जाने से मन प्रसन्न होता है और एक क्षेत्र में जाने से मन विषण्ण होता है। एक क्षेत्र की तरंगें इतनी पवित्र और शांत होती हैं कि मन शांत हो जाता है, उद्विग्नता मिट जाती है। एक क्षेत्र की तरंगें इतनी मादक होती हैं कि मन अशांत हो जाता है, उद्विग्न हो जाता है, उन्मत्त हो जाता है।

काल की भी अपनी शक्ति होती है। एक काल में जो बात हो सकती है वह दूसरे काल में नहीं हो सकती। प्रातःकाल में किए जाने वाले ध्यान में जितनी स्थिरता होती है वह मध्याह्नकाल में नहीं होती। सर्दी में मन की जितनी स्थिरता होती है, गर्मी में उतनी नहीं होती। आयुर्वेद में काल के आधार पर औषधिसेवन का विधान भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिपादित है। हरीतकी का प्रयोग भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से होगा। काल की शक्ति द्रव्य की शक्ति को घटा-बढ़ा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य की अपनी शक्ति होती है। उसको जानने वाला द्रव्यों से लाभान्वित हो सकता है। प्राचीनकाल के साधक इस बात से परिचित थे कि साधना में कौन-कौन-से द्रव्य सहायक होते हैं। ध्यान की स्थिरता, आसन की स्थिरता, मन की स्थिरता में अमुक-अमुक सहयोगी बनते हैं। आज उन द्रव्यों की जानकारी कम हो गई है, इसलिए साधक द्रव्यों का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

दो प्रकार का बल है। एक है शरीर का बल और दूसरा है आत्मा का बल, अध्यात्म का बल। शरीर के बल से हम परिचित हैं, किन्तु अध्यात्म के बल से परिचित नहीं हैं। अध्यात्म का बल शरीर के बल से बहुत अधिक है। हम इन्द्रियों के बल से परिचित हैं। आंखों में शक्ति है, इसलिए हम देखते हैं। कानों में शक्ति है, इसलिए हम सुनते हैं। स्पर्श में शक्ति है, इसलिए हम सर्दी-गर्मी का अनुभव करते हैं। क्या इन इन्द्रियों में इतनी ही शक्ति है, जितनी शक्ति से हम परिचित हैं? नहीं, इनकी शक्ति और अधिक है। सामने पड़ी वस्तु को देख लेना मात्र ही आंख की शक्ति नहीं है। उनकी शक्ति बहुत आगे तक काम करती है। साधना करने वाला व्यक्ति उस शक्ति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

इन्द्रिय शक्ति के दो रूप हैं—संभव शक्ति और संभाव्य शक्ति। आंख से हम देखते हैं। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। जहां तक कोई अवरोध नहीं होता, उचित दूरी पर पदार्थ होता है, वहां तक हम आंख से देख सकते हैं। यह है आंख की संभव शक्ति। हम इसकी संभाव्य शक्ति से अपरिचित हैं। आंख की शक्ति का विकास किया जाए तो हम बहुत-बहुत दूरी पर स्थित पदार्थों को भी साक्षात् देख सकते हैं। इससे दूरदर्शन संभव हो सकता है। व्यवधान होने पर भी देखा जा सकता है। स्थूल को भी देखा जा सकता है और सूक्ष्म को भी देखा जा सकता है। यह है—संभाव्य शक्ति।

पांचों इंद्रियों की सीमित शक्ति होती है। उसे संभव शक्ति कहा जाता है। उनकी असीम शक्ति भी है। इसे संभाव्य शक्ति कहते हैं। उसका विकास किया जा सकता है। संभव शक्ति हमें प्राप्त है, हम उसका उपयोग करते हैं। संभाव्य शक्ति की सीमा बहुत आगे है। कुछ विशिष्ट व्यक्ति होते हैं जिनकी संभव शक्ति दूसरों की संभाव्य शक्ति जैसी विशिष्ट होती है। इनमें तीर्थंकर, अर्हत्, केवली आदि आते हैं। जो अपने कद को सूक्ष्म बना डालता है, जो अपना मानसिक विकास कर लेता है, वह 'मनोकामी' हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। वह मन से जो कामना करता है, वह तत्काल सध जाता है। मन में भोजन का संकल्प किया और भोजन की तृप्ति हो गयी। कवल-आहार की कोई जरूरत नहीं है। किन्तु यह सबको सहज प्राप्त नहीं है। इस शक्ति का विकास हर व्यक्ति कर सकता है।

देवता सहजरूप से मनोभक्षी होते हैं। वे कवल-आहार नहीं करते। वैक्रिय शरीरधारी भी मनोभक्षी होते हैं। यह उनकी संभव शक्ति है और हर व्यक्ति के लिए संभाव्य शक्ति।

वाणी की भी संभव शक्ति होती है और संभाव्य शक्ति होती है। तीर्थंकर बोलते हैं तब उनकी वाणी एक योजन तक सुनाई देती है। उनकी वाणी अनेक भाषाओं में परिणत हो जाती है। यह उनकी संभव शक्ति है। वह सहज ही उन्हें प्राप्त है। दूसरों के लिए यह संभाव्य शक्ति है।

वाक् वीर्य के दो रूप हैं। एक है—क्षीरास्रवलब्धि और दूसरा है—मध्वास्रवलब्धि। इन लब्धियों से संपन्न व्यक्ति जब बोलता है तब सुनने वाले को लगता है मानो वह दूध पी रहा है, मधु चाट रहा है। शब्द इतने मीठे होते हैं। यह उस लब्धिसंपन्न व्यक्ति के लिए सहज है। हर व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है, संभाव्य है सबके लिए।

एक राजा आचार्य के पास आकर बोला—"गुरुदेव ! देवताओं की आयु बहुत लंबी होती है। क्या वे जीते-जीते नहीं अघाते ?" आचार्य ने कहा—"वे इतने सुख में जीते हैं कि उन्हें काल का बोध ही नहीं होता। काल का बोध उन्हें होता है जो कष्ट में जीवन बिताते हैं।" राजा ने कहा—"यह कैसे संभव है ? काल का बोध क्यों नहीं होता ?" आचार्य क्षीरास्रवलब्धि से संपन्न थे। उन्होंने कहा—"राजन् ! कुछ देर उपदेश तो सुन लो।" राजा उपदेश सुनने बैठा। आचार्य बोलने लगे। दो प्रहर बीत गए। राजा तन्मय होकर सुनता रहा। उपदेश के अन्त में आचार्य ने राजा से पूछा—"कितने समय से उपदेश सुन रहे हो ?" "गुरुदेव ! अभी दो क्षण ही तो हुए हैं। अभी-अभी तो आपने उपदेश शुरू किया था।" आचार्य ने कहा—"राजन् ! तुम्हें उपदेश इतना मीठा और सरल लगा कि काल का बोध ही नहीं हुआ। मुझे बोलते दो प्रहर हो गए हैं।" राजा अवाक् रह गया। यह वाक्शक्ति का रूप है।

शरीर की शक्ति भी विचित्र होती है। महावीर को हम समझें। उन्होंने चार मास तक खड़े रहकर ध्यान किया। न उच्चार, न प्रस्रवण, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार, न नीहार। कुछ भी नहीं। न मच्छर उड़ाया, न अंगुली हिलाई, कुछ भी नहीं किया। वे खड़े थे। लगता था कोई पत्थर की प्रतिमा खड़ी है। यह चातुर्मासिक प्रतिमा थी। इसी प्रकार वार्षिक प्रतिमा का भी उल्लेख है। बाहुबली बारह मास तक कायोत्सर्ग में खड़े रहे। उनके शरीर पर लताएं फैल गयीं। वे खड़े ही रहे। हम एक-दो घंटे भी खड़े नहीं रह सकते। क्या हमारी शक्ति में और उनकी शक्ति में कोई अन्तर है? नहीं, कुछ भी अन्तर नहीं है। जितनी शक्ति उनमें थी उतनी ही शक्ति हमारे भीतर है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे अपनी शक्ति से परिचित थे और हम अपनी शक्ति से परिचित नहीं हैं। परिचय का अन्तर है। वे अपनी शक्ति और चेतना को भली-भांति जानते थे। हम अपनी शक्ति और चेतना को विस्मृत कर बैठे हैं। उन्हें शक्ति-विकास का सूत्र प्राप्त था। हमें वह प्राप्त नहीं है। इसीलिए चार महीने या बारह महीने तक खड़े रहने की बात से हमें आश्चर्य होता है। आश्चर्य इसीलिए होता है कि हम अपनी शक्ति से अजान हैं। हम अभ्यास करें तो संभाव्य शक्ति को अभिव्यक्त कर सकते हैं। यही साधना का रहस्य है।

सहिष्णुता का विकास संयम का विकास है। सहिष्णुता की शक्ति का विकास संयम-शक्ति का विकास है। कुछ व्यक्ति भयंकर कष्टों में भी विचलित नहीं होते। वे एक द्रष्टा की भांति कष्टों को देखते रहते हैं। यह सहिष्णुता का विकास है, संयम का विकास है।

अध्यात्म-शक्ति का एक रूप है—स्वावलंबी जीवन। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्व-निर्भर होते हैं। सब कुछ वे अपने-आप ही करना चाहते हैं। वे पर-निर्भर नहीं होते। पर-निर्भरता साधना का विघ्न है।

साधना का दूसरा विघ्न है—अधृति। आज के साधक साधना का तत्काल फल चाहते हैं। दो वर्ष साधना की। उसकी निष्पत्ति वे चाहते हैं। साधना के प्रारम्भ में ही पूछने लग जाते हैं कि इस साधना का क्या परिणाम होगा? उसे कहते हैं—"भाई! अभी तो तुमने साधना प्रारम्भ की है और अभी निष्पत्ति चाहते हो? यह कैसे संभव है!" साधना में जो समय लगना चाहिए, जो काल का परिपाक होना चाहिए, उसके हुए बिना निष्पत्ति नहीं होती। निष्पत्ति के बिना साधक विचलित हो जाता है और वह साधना छोड़ देता है।

अध्यात्म-शक्ति का एक रूप है—क्षमा। कितनी ही विपरीत परि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितियां आएं, साधक क्षमाशील रहे, वह क्षुब्ध न हो। जलाशय में एक ढेला फेंकते हैं तो जल क्षुब्ध हो जाता है। इस दुनिया में ढेले फेंकने वाले बहुत हैं। यदि आदमी भी ढेलों पर क्षुब्ध होता जाए तो वह साधना ही क्या कर पाएगा ? सब कुछ सहते जाना ही साधक की गम्भीरता है। यह गम्भीरता नाम की शक्ति है। इसे विकसित करना चाहिए।

अध्यात्म शक्ति के अनेक रूप हैं, जो अनेक दिशाओं से आने वाली बाधाओं से हमारी सुरक्षा करते हैं, उनसे हमें बचाते हैं। ये सारे कवच हैं। यदि शक्ति का कवच न हो तो चेतना कभी भी मलिन बन जाए। चेतना को मलिनता से बचाने का एकमात्र तत्त्व है—शक्ति। शक्ति को छोड़कर चेतना की उपासना नहीं कर सकते।

हमारी यात्रा बहुत छोटी है। हमें केवल इतना ही काम करना है, उस अनन्तशक्ति के स्रोत को खोज निकालना है। हमारी यात्रा का इतना ही उद्देश्य है। छोटा-सा उद्देश्य है। छोटा यात्रापथ और छोटी मंजिल। प्रयत्न करने पर वहां तक पहुंचा जा सकता है।

अब प्रश्न होता है कि वहां तक पहुंचने के सूत्र क्या हैं ? अनेक सूत्र हैं। मैं एक सूत्र प्रस्तुत करता हूं। वह है—तन्मूर्ति योग।

ध्यान दो प्रकार के होते हैं—स्वरूपावलंबी ध्यान और पररूपावलंबी ध्यान। साधक को पहले यह निर्णय करना होता है कि वह क्या बनना चाहता है। यदि वह वीतराग बनना चाहता है तो उसे स्वरूपावलंबी ध्यान करना होगा। कोई दूसरा ध्यान वहां तक नहीं पहुंचा पाता। शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के लिए केवल वीतराग स्वरूप का आलंबन ही कार्यकारी होता है। दूसरे आलंबन उसकी उपलब्धि नहीं करा सकते। यह है हमारा वह ध्यान, जैसे कोई व्यक्ति सिर पर दीया रखकर खड़ा रहता है तो चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही इस ध्यान से चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, शुद्ध चेतना का अनुभव हो जाता है।

यदि कोई साधक मनोबली बनना चाहता है, वाक्बली बनना चाहता है, इन्द्रियों को पटु-पटुतर बनाना चाहता है तो फिर उसे ध्यान की सारी ऊर्जा को, प्राण की सारी ऊर्जा को एक दिशा में प्रवाहित करना होगा। इसकी प्रक्रिया यह है—

साधक पहले अपने ध्येय को निश्चित करे। मान लें कि वह कायबली बनना चाहता है। यह उसका ध्येय है। अब उसे कायबली के अप्रतिम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति की प्रतिमा का मन-ही-मन निर्माण करना होगा। उसे ऐसे व्यक्ति को ध्येय बनाना होगा जो कायबल में उत्कृष्ट है। बाहुबली कायबल के प्रतीक हैं। साधक उन्हें अपना ध्येय बनाता है। उन्हें ध्येय बनाकर साधक ध्यान करता है। ध्येय है बाहुबली और साधक है ध्याता। यह संभेद ध्यान है। ध्याता और ध्येय के बीच संभेद है, दूरी है। किन्तु जैसे-जैसे ध्यान की पटुता बढ़ती जाएगी, उद्देश्य फलित होता जाएगा। फिर ध्येय और ध्याता अलग नहीं रहेंगे। उनमें दूरी नहीं रहेगी। आप स्वयं बाहुबली बन जाएंगे। इतना अभेद सध जाएगा कि आप स्वयं ध्येय के रूप में परिणत हो जाएंगे। स्वयं बाहुबली बन जाएंगे।

इस स्थिति तक पहुंचने के लिए आप शिथिलीकरण करें, कायोत्सर्ग करें। शरीर को शून्य कर दें, मृतवत् कर दें। स्वयं ध्येयमय बनने का प्रयत्न करें, ध्येय का अनुभव करें। आपकी भीतर की शक्ति परिणमन करना शुरू कर देगी। एक दिन अनुभव होगा कि शरीर में बहुत बड़ी शक्ति उत्पन्न हो रही है और आप दृढ़काय वाले, कायबली बनते जा रहे हैं। यह छोटा-सा सूत्र है :

- ध्येय का निर्णय करें।
- ध्येय का आकार बनाएं।
- ध्यान की ऊर्जा को एक ही दिशा में प्रवाहित करें।
- भेद से अभेद को साधें, तन्मूर्ति बन जाए।

यह सूत्र है शक्तियों के विकास का। शक्ति चाहे कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो। ऋद्धियों और लब्धियों के विकास का यही सूत्र है। कभी-कभी बिना प्रयत्न के भी किसी एक दिशा में विकास होता है किन्तु वह कोई नियम नहीं बनता। ऊर्जा को एक दिशागामी बनाने से ही विकास की संभावना होती है, यह नियम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ४

संकलिका

- संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति।
  संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति॥ [आयारो, ५।६]
- विस्सेणि कट्टु परिण्णाए। [आयारो, ६।८]
- एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए। [आयारो, ६।६६]
  - जो संशय को जानता है, वह संसार को जान लेता है। जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जान पाता।
  - मुमुक्षु समत्व की प्रज्ञा से राग-द्वेष की श्रेणी को छिन्न कर डाले।
  - वह मुमुक्षु तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है।
- सुनकर, जानकर या सहज ही चेतना का कोई कोना झंकृत हो उठता है। अपने अस्तित्व की पहली किरण फूट पड़ती है।
- शुद्ध चेतना की पहली किरण—दृष्टि की स्पष्टता।
- शुद्ध चेतना की दूसरी किरण—सहज सुख का अनुभव।
  ज्योति का अनुभव।
- शुद्ध चेतना की तीसरी किरण—सहज सुखानुभूति की निरन्तरता।
  अखण्ड ज्योति का प्रकटीकरण।
- शुद्ध चेतना की चौथी किरण—सहज सुख के मूल स्रोत की उपलब्धि।
  अखण्ड ज्योति के मूल स्रोत की उपलब्धि।
- व्यक्तित्व और अस्तित्व का भेद होने पर व्यक्ति का रूपान्तरण।
- सुख-दुःख का जोड़ा अच्छा लगता था, अब केवल सुख अच्छा लगता है।
- कर्मफल भोगता हुआ अपने को सुखी या दुःखी अनुभव करता था, अब नहीं, तटस्थ रहता है।
- चैतन्य का अनुभव कभी-कभी, अब चैतन्य का सतत अनुभव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- कर्म कहीं, मन कहीं, बेहोशी में। अब कर्म के साथ मन का सतत योग। सब कर्म जानते हुए।
- ज्ञान 'पर' में प्रतिष्ठित था, अब ज्ञान (पर से च्युत होकर) ज्ञान में प्रतिष्ठित है।
- विवेक का फल—तटस्थता।
  तटस्थता का फल—उपेक्षा।
  उपेक्षा का फल—समता।
- रूपान्तरण का प्रयोग :
  - भेद-विज्ञान की अविच्छिन्न धारा।
  - ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण।
  - चैतन्य-प्रेक्षा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तित्व का रूपान्तरण : समता

जब चेतना का कोई कोना झंकृत हो उठता है तो अपने अस्तित्व की एक झलक मिल जाती है। वह झलक हमारे लिए बहुत आवश्यक होती है। वह हमारी प्रज्ञा को जगा जाती है। उससे विवेक जागता है। जब मूर्च्छा की सघनतम प्रथम पंक्ति पर प्रहार होता है तब विवेक जाग उठता है। चेतना की प्रथम किरण फूट पड़ती है। अस्तित्व के प्रकाश की प्रथम किरण प्राप्त होती है। साधक कुछ आगे बढ़ता है। चेतना की दूसरी किरण फूटती है। एक अनुभव होना शुरू हो जाता है। पहली किरण में केवल दृष्टि स्पष्ट होती है। दूसरी किरण में सुख का अनुभव होने लगता है। ऐसा सुख जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया था। साधक आगे बढ़ता है। उसे एक और किरण उपलब्ध होती है। उससे चैतन्य का अनुभव, सुख का अनुभव सतत होने लग जाता है। उसकी धार अविच्छिन्न हो जाती है, कहीं खंडित नहीं होती। जीवन में अखंड ज्योति जल उठती है। साधक आगे बढ़ता है। चौथी किरण उपलब्ध होती है। उसे चेतना अपने बिन्दु पर पहुंच जाती है। सुख का अनुभव अपने शिखर पर पहुंच जाता है। वहां पहुंचा हुआ साधक फिर लौटकर आना नहीं चाहता।

विवेक से संयम, संयम से अप्रमाद और अप्रमाद से वीतरागता। साधक एक-एक प्रकाश-किरण को उपलब्ध करता हुआ आगे से आगे बढ़ता जाता है। साधना उस झलक से प्रारम्भ होती है जब से अस्तित्व का बोध होता है। जब तक किसी व्यक्ति को अस्तित्व की झलक नहीं मिलती तब तक उसके लिए साधना का कोई अर्थ नहीं होता, तपस्या का कोई अर्थ नहीं होता, ध्यान का कोई अर्थ नहीं होता। ध्यान वही व्यक्ति करता है, तपस्या वही व्यक्ति करता है, साधना वही व्यक्ति करता है जिसे अपने अस्तित्व की कोई झलक उपलब्ध हो जाती है। फिर उसके मन में एक छटपटाहट पैदा होती है, व्याकुलता पैदा होती है। एकाग्रता का मूल्य हो सकता है, किन्तु सर्वत्र उसका मूल्य नहीं होता। मन में छटपटाहट, चंचलता, व्याकुलता भी होनी चाहिए। उसका भी अपना मूल्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जब तक व्याकुलता पैदा नहीं होती, तब तक उस दिशा में बढ़ा नहीं जा सकता। हम एकाग्रता का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। हम मन को चला रहे हैं। अंतर इतना-सा ही आया है कि जो मन हमें चला रहा था, हम उसे चला रहे हैं। जो मन हमें क्रीड़ा करा रहा था, हम उसे क्रीड़ा करा रहे हैं। क्रीड़ा करने के लिए हमने उसे बहुत लंबा-चौड़ा मैदान दिया है। पूरा शरीर उसके क्रीड़ा के लिए प्रस्तुत है। वह शरीर में खेलता रहे, क्रीड़ा करता रहे। कहीं कोई बाधा नहीं है। अन्तर केवल दिशा का है। विवेक जागता है, प्रज्ञा जागती है, दिशा बदल जाती है, रूपान्तरण हो जाता है। जिसके हाथ में स्वामित्व था, वह छिन गया। स्वामित्व दूसरे के हाथ में आ गया। पहले हम मन के सेवक थे। विवेक जागा और हम मन के स्वामी हो गए। पहले मन स्वामी था, अब वह सेवक बन गया। अब वह स्वामी के पीछे-पीछे चलने वाला हो गया। रूपान्तरण हो गया। और कोई अन्तर नही आया। चंचलता तो मौजूद है।

साधना का अर्थ है—व्यक्तित्व का रूपान्तरण। यदि व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं होता है और साधक ध्यान करते ही चले जाते हैं, तपस्या करते ही चले जाते हैं, साधना करते ही चले जाते हैं तो एक दिन स्वयं को अनुभव होता है कि ये सारी उपासनाएं व्यर्थ हैं। इतने दिन तक इनकी उपासना की और कहीं भी नहीं पहुंच पाये। उसी बिन्दु पर आज हैं, जिस बिन्दु पर प्रारंभ में थे। इससे निराशा होती है और साधक साधना को छोड़ देने को ललचाते हैं।

इतनी लंबी तपस्याएं कीं, दिनों, महीनों और वर्षों तक भूख-प्यास सहन की, कुछ भी नहीं मिला, कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। सब व्यर्थ है। इससे चिपके रहना भूल है। इसे छोड़ दिया जाए।

ध्यान करते रहे, पर व्यक्तित्व उस बिन्दु पर टिका रहा, कोई परिवर्तन नहीं आया तो ध्यान के प्रति रही हुई आस्था डगमगा जाएगी। जी चाहेगा कि उसे छोड़ दिया जाए।

ध्यान की सार्थकता, तपस्या की सार्थकता और साधना की सार्थकता है—व्यक्तित्व का रूपान्तरण। इसका अनुभव स्वयं को तो होना ही चाहिए, दूसरों को भी होना चाहिए। दूसरों को हो ही यह आवश्यक नहीं है, स्वयं को तो होना ही चाहिए। ऐसा होने पर ही आस्था जमती है और साधक आगे से आगे बढ़ता जाता है। पहले जैसा था, आज वैसा ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—यह बात साधना में चल नहीं सकती। रूपान्तरण अवश्य ही होना चाहिए।

रूपान्तरण होता है। एक साधक की अनुभव की भाषा में बताऊं कि रूपान्तरण क्या होता है? जब तक विवेक जागृत नहीं होता, साम्यग्दर्शन नहीं होता, प्रज्ञा नहीं जागती तब तक सुख और दुःख के जोड़ में हम लीन रहते हैं। उसे ही परम तत्त्व मानते हैं। जब प्रज्ञा जाग जाती है, विवेक जाग जाता है, दर्शन सम्यक् हो जाता है तब सुख-दुःख के जोड़े से हटकर, हमारी गति केवल सुख में होने लग जाती है। एक है—सुख-दुःख का जोड़ा और एक है—केवल सुख। जब तक विवेक नहीं जागता तब तक साधक सुख-दुःख में झूलता रहता है। कभी वह सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का। केवल सुख या केवल दुःख का अनुभव नहीं होता। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख आता रहता है। मनचाहा भोजन मिला। खूब खा लिया। सुख की अनुभूति हुई। परिपाक काल में दुःख का अनुभव होने लगा। भोगों के भोग-काल में सुख की अनुभूति होती है और परिपाक-काल में दुःख की अनुभूति होती है। यह सुख-दुःख का जोड़ा बराबर चलता रहता है। दुःख इसलिए सह लिया जाता है कि उससे सुख भी मिलता है। यह ज्ञात है कि सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख होता है। यह चक्र चलता रहता है। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात—यह क्रम है। आदमी इसके परे नहीं जा सकता। किन्तु जब विवेक जाग जाता है तब दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है, दर्शन सम्यक् हो जाता है। तब सुख-दुःख का जोड़ा नहीं रहता। केवल सुख रहता है, दुःख नहीं रहता।

साधना के क्षेत्र में जोड़े की बात नहीं चलती। उसमें केवल की बात चलती है। ज्ञान और अज्ञान का एक जोड़ा है। किन्तु साधना के क्षेत्र में केवल ज्ञान चलता है, अज्ञान छूट जाता है। कोरा ज्ञान, संवेदना नहीं। सुख और दुःख का जोड़ा है। साधना के क्षेत्र में केवल सुख चलता है, दुःख छूट जाता है। कोरा सुख, दुःख नहीं। शक्ति-उत्कर्ष का एक जोड़ा है और शक्ति-हीनता का एक जोड़ा है। साधना के क्षेत्र केवल शक्ति होती है, शक्ति-हीनता छूट जाती है।

जब तक विवेक नहीं जागता तब तक साधक जोड़े में ही चक्कर काटता रहता है। जब प्रज्ञा जाग जाती है तब स्पष्ट दीखने लग जाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि यह रहा 'जोड़ा' और यह रहा 'केवल'। यह है ज्ञान-अज्ञान का जोड़ा और यह रहा केवल ज्ञान। यह रहा सुख और दुःख का जोड़ा और यह रहा केवल सुख। यह रहा शक्ति और शक्ति-हीनता का जोड़ा और यह रही केवल शक्ति। दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। कोई भ्रम नहीं रहता, कोई संशय नहीं रहता, कोई विपर्यय नहीं होता।

यह व्यक्तित्व के रूपान्तरण का पहला चरण है। यदि यह प्राप्त नहीं होता है तो साधना नहीं हो सकती।

व्यक्ति के रूपान्तरण का दूसरा चरण है—अनुभव। रूपान्तरण से पूर्व साधक कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का। केवल सुख का अनुभव नहीं करता। जब साधक में चेतना की दूसरी किरण फूटती है तब अनुभव की शक्ति जागती है और उस शक्ति के जागने पर केवल सुख का अनुभव प्रकट हो जाता है, जो पहले कभी प्रकट नहीं हुआ था। साधक को यह ज्ञात भी नहीं था कि 'पर' के योग के बिना भी सुख होता है, हो सकता है, पर-वस्तु, पर-द्रव्य, पर-उपकरण, पर-निमित्त—इनके बिना भी कोई सुख होता है, यह अनुभव से सर्वथा परे था। किन्तु जब अनुभव की चेतना जाग जाती है, संयम की चेतना जाग जाती है तब रूपान्तरण होता है और यह अनुभव में आ जाता है कि बिना किसी सहयोग के, बिना किसी आलंबन के, बिना किसी पदार्थ के भी इतना सुख होता है कि जिसकी तुलना नहीं की जा सकती।

जब अनुभव की शक्ति जाग जाती है तब आलंबन के बिना भी ऐसा सहज-सुख जागृत होता है कि फिर उसे सुख-दुःख के जोड़े में जाने की इच्छा नहीं होती।

दूसरी बात है कि आदमी कर्म का फल भोगता है। पुण्यकर्म का फल भोगता है तब सुखी होता है और पापकर्म का फल भोगता है तब दुःखी होता है। प्रिय पदार्थ मिलता है तब सुख का अनुभव करता है और अप्रिय पदार्थ मिलता है तब दुःख का अनुभव करता है। किन्तु शुद्ध चैतन्य के अनुभव की शक्ति जाग जाने पर व्यक्ति सुख-दुःख को भोगता हुआ भी तटस्थ रहता है। न सुखी बनता है और न दुःखी। कुछ भी नहीं बनता। उसकी अनुभव-शक्ति प्रबल हो जाती है। उसे लगता है कि कोई भोगने वाला भोग रहा है, वह मुझसे परे है। दुःख मुझसे परे है।

महावीर ने अनेक कष्ट सहन किए। दूसरे अनेक साधकों ने भी अपार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कष्ट सहे। क्या हमारी चेतना के स्तर पर रहकर यह संभव है? ऐसे कष्टों को हंसते हुए सह लेना संभव है। कभी संभव नहीं है। ऐसे कष्टों को इस स्तर पर सहा नहीं जा सकता। किन्तु जब सुख-दुःख से परे रहने की अनुभवशक्ति जागृत हो जाती है तब लगता है सुख भी नीचे है और दुःख भी नीचे है। जो संवेदनात्मक चेतना है वह नीचे है। जो संवेदन हैं, वे सब नीचे हैं। मैं तो केवल द्रष्टा हूं, देखने वाला हूं। ऐसा सोचने वाला, इस स्तर की चेतना पर जीने वाला भयंकर कष्टों को सहन कर सकता है। यह सहिष्णुता कहां से आती है? इसका स्रोत है—भेदज्ञान।

विवेक से हमारा भेदज्ञान प्रारंभ होता है और समता तक वह पुष्ट होता चला जाता है। भेदज्ञान की छेनी जब मलों को तोड़ती रहती है तब आगे से आगे अनुभव की प्रखरता बढ़ती जाती है और व्यक्ति संवेदना से ऊपर उठता जाता है। संवेदना से ऊपर उठना, उनकी भाषा में है समता और हमारी भाषा में है—सहिष्णुता। जो संवेदना के स्तर पर जीते हैं वे देखते हैं कि अमुक व्यक्ति कितने कष्टों को सह रहा है, कितना सहिष्णु है। किन्तु जो समता के स्तर पर हैं, अनुभव के स्तर पर हैं, संवेदनाओं से ऊपर उठ चुके हैं, उनके लिए सहिष्णुता नहीं, समता व्यवहृत होती है।

अनुभव की चेतना जागृत होने पर, सुख-दुःख की संवेदनाओं से ऊपर उठने पर, सुख-दुःख को भोगता हुआ भी व्यक्ति तटस्थ रहता है। वह न अपने को सुखी मानता है और न अपने को दुःखी मानता है। यह दूसरा रूपान्तरण है—तटस्थता।

यह भी व्यक्तित्व के रूपान्तरण का अन्तिम बिन्दु नहीं है। इससे भी आगे चलना है। साधक अप्रमाद का प्रयोग करता है। वह अप्रमत्त रहकर चैतन्य की धारा को अविच्छिन्न रखने का प्रयत्न करता है। उस ज्योति को अखण्ड, शाश्वत, प्रज्वलनशील बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। किन्तु एक ओर से मूर्च्छा के थपेड़े लगते हैं। मूर्च्छा अपना काम करती है। साधक कभी जागता है और कभी सो जाता है। वह कभी जागरूक रहता है और कभी सुप्त रहता है। जागता है, सोता है। फिर जागता है, फिर सो जाता है। यह जागने और सोने का क्रम चलता रहता है। जब चेतना की तीसरी किरण फूटती है, अनुभव की शक्ति और अधिक प्रखर बनती है, भेदज्ञान की धारा सतत प्रवाही होती है, विवेक की छेनी और तेजी से चलती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तब कभी सोने और कभी जागने की बात समाप्त हो जाती है। फिर सतत जागरण होता है, अखंड ज्योति जलने लगती है। इससे पूर्व मन और कर्म—दोनों टूटे-टूटे रहते हैं। मन कुछ और होता है और कर्म कुछ और होता है। मन कहीं होता है और प्रवृत्ति कहीं होती है। दोनों साथ-साथ रहने वाले भी अलग-अलग हो जाते हैं। किन्तु जब यह अनुभव की धारा तेज होती है, चेतना की यह तीसरी किरण—अप्रमाद का प्रकाश फैलता है तो कर्म और मन दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं, एक साथ जुड़ जाते हैं। वे इतने जुड़ जाते हैं कि उस अवस्था में फिर ज्ञान और आचरण दो नहीं रहते। उनका भेद समाप्त हो जाता है।

कुछ लोग ज्ञानवादी होते हैं और कुछ लोग क्रियावादी। पहले यह दृष्टिकोण साधना के क्षेत्र में चला था। फिर यह तर्क के क्षेत्र में आया। कुछ लोग केवल ज्ञानवादी हो गए और कुछ लोग केवल आचारवादी, क्रियावादी हो गए। किन्तु इस साधना की भूमिका में ज्ञान और आचार का कोई द्वैत नहीं होता। हम नहीं कह सकते कि यह ज्ञान है और यह आचार है। दोनों एक हो गए। किसी व्यक्ति ने उसे अभिव्यक्ति देने के लिए ज्ञान कहा और किसी ने आचार कहा। आचार कह दिया तो ज्ञान उसमें समा गया और ज्ञान कह दिया तो आचार उसमें समा गया। दोनों को तोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु जैसे-जैसे साधना की यह बात विस्मृत होती गयी, एक पक्ष आचारवाद का बन गया और एक पक्ष ज्ञानवाद का बन गया।

अप्रमत्तता की जब अखंड ज्योति जल उठती है तब मन और प्रवृत्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं। तब एक भी काम ऐसा नहीं होता जिसके साथ मन न हो। अंगुली उठती है। उसे पता होता है कि अंगुली उठी है। श्वास आता है तो पता रहता है कि श्वास आ रहा है, जा रहा है। उसकी कोई भी क्रिया बेहोशी में नहीं होती। सब कुछ होश में होता है। सब कुछ जागरण में होता है। कर्म के साथ मन चलता है। ऐसा एक भी व्यवहार नहीं होता जहां कर्म तो है, पर मन नहीं है। कर्म कहीं और है और मन कहीं और है—ऐसा नहीं हो सकता। अप्रमत्तता है रूपान्तरण की तीसरी किरण। इसमें फलित होता है—कर्म और चेतना का एकीकरण, अद्वैत, अभिन्नता।

जैसे-जैसे साधना आगे बढ़ती है, अनुभव का प्रकाश सघन होता जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तब चौथी किरण फूटती है। चौथी किरण है—वीतरागता। जब यह किरण फूटती है तब चेतना सभी मलों से मुक्त हो जाती है, वीतराग बन जाती है। वीतराग का अर्थ है—'पर' से हटकर अपने आप में प्रतिष्ठित होना। इस अवस्था में 'पर' का संबंध समाप्त हो जाता है। यह बड़ी उपलब्धि है। आज तक ज्ञान 'पर' में प्रतिष्ठित था। दूसरों में टिका हुआ था, दूसरों के घर में रह रहा था। उसे अपना घर प्राप्त नहीं था। किन्तु जब चेतना की यह किरण—वीतरागता प्रस्फुटित होती है तब ज्ञान-ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपने स्थान पर आ जाता है। उसे अपना घर मिल जाता है। वीतरागता और कैवल्य में कोई दूरी नहीं है, कोई अन्तर नहीं है। जैसे वीतरागता प्रकट होती है, चेतना पूर्ण रूप अनावृत्त हो जाती है। जो मूढ़ता का आवरण था, वह सदा के लिए हट जाता है। मूढ़ता के टूटते ही वीतरागता प्रकट हो जाती है और वीतरागता के प्रकट होते ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है। दोनों के बीच में कोई आवरण नहीं रहता। कैवल्य का अर्थ है—शुद्ध चेतना का प्रादुर्भाव।

अस्तित्व की झलक का पहला फल है विवेक। हमारी चेतना के जागरण की पहली भूमिका है—विवेक। विवेक की निष्पत्ति है—तटस्थता। यह चेतना के जागरण की दूसरी भूमिका है। तटस्थता अर्थात् उपेक्षा। उपेक्षा के दो अर्थ हैं–ध्यान न देना और निकटता से देखना उप+ईक्षा=उपेक्षा। जो तटस्थ होता है वही निकटता से देख सकता है। पक्षपात में रहने वाला निकटता से नहीं देख सकता। वह प्रिय के प्रति अनुरक्त होगा और अप्रिय के प्रति द्विष्ट होगा। वह एक के प्रति राग करेगा और दूसरे के प्रति द्वेष करेगा। जिसमें झुकाव होता है वह सही अर्थ में निकटता से नहीं देख सकता। वह दूर से ही देखता है। न प्रिय को ठीक से समझ सकता है और न अप्रिय को ठीक से समझ सकता है।

उपेक्षा का एक अर्थ है—ध्यान न देना, अवगणना करना। जो तटस्थ हो जाता है, उसके सामने प्रिय भी आता है, अप्रिय भी आता है किन्तु वह दोनों की उपेक्षा कर, अवगणना कर आगे बढ़ जाता है। उपेक्षा का फल है—समता।

विवेक का फल है—तटस्थता। तटस्थता का फल है—उपेक्षा। उपेक्षा का फल है—समता।

हमारी साधना संपन्न होती है तब तक व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है। जिस बिन्दु पर व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण होता है वहां व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है। व्यक्तित्व रूपान्तरण के चरम बिन्दु पर पहुंचकर समाप्त हो जाता है। वहां से अस्तित्व की सीमा प्रारंभ हो जाती है। वह व्यक्तित्व का चरम बिन्दु और अस्तित्व का पहला बिन्दु है। दोनों की सीमा सटी हुई है। जहां व्यक्तित्व की सीमा समाप्त होती है वहां अस्तित्व की सीमा प्रारंभ होती है। वहां फिर 'केवल' रहता है। कोई द्वन्द्व नहीं रहता। 'केवल' का साम्राज्य बन जाता है। यह साधना से होने वाला परिणाम है।

इस बिन्दु तक पहुंचना सरल नहीं है, कठिन है।

तीन काल हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत का प्रतिक्रमण होता है, भविष्य का प्रत्याख्यान होता है और वर्तमान की आलोचना। पतंजलि ने लिखा है—'हेयं दुःखमनागतं'—अनागत का दुःख हेय है, जो कर्म-विपाक भोगा जा चुका, वह हेय नहीं बनता, क्योंकि वह भुक्त हो गया है। वर्तमान भोगारूढ़ होता है। वह हेय नहीं हो सकता। उसे हम छोड़ नहीं सकते। हेय होता है अनागत। अभी जो आया नहीं है, उसे ही भोगा जा सकता है। अतीत के कर्म-विपाक को हेय नहीं बनाया जा सकता। वर्तमान के कर्म-विपाक को, जो भोगारूढ़ हो गया है, हेय नहीं बनाया जा सकता। केवल जो अनागत है, उसे हेय बनाया जा सकता है। इसीलिए अनागत कर्म का प्रत्याख्यान होता है।

तीन बातें हुईं—अनागत का प्रत्याख्यान, अतीत का प्रतिक्रमण और वर्तमान की आलोचना, वर्तमान का सामायिक या संवर। साधकों के लिए यह आवश्यक है कि वे अतीत का प्रतिक्रमण करें। प्रमादवश हमारी चेतना जो बाहर चली गयी थी उसको मूल स्थान में लायें। पछतावे की जरूरत नहीं है। जो हो चुका उसके लिए पछतावा कैसा? प्रतिक्रमण आवश्यक है। चेतना को मूल स्थान प्राप्त कराना आवश्यक है। वर्तमान की आलोचना करें। वर्तमान के कर्म को देखें, प्रेक्षा करें। किन्तु सबसे बड़ा क्षेत्र है—अनागत का। उसका प्रत्याख्यान करें। जो हेय हैं, उसे छोड़ें।

यदि साधना के द्वारा हेय नहीं छूटता है तो रूपान्तरण कैसे घटित होगा? व्यक्तित्व का रूपान्तरण हुए बिना साधना फलित नहीं होती। जो प्रतिमाएं बना रखी हैं उनका अंग-भंग होना ही चाहिए। कुछ परिवर्तन तो होना ही चाहिए। मैं आज ही वीतराग बन जाने की बात नहीं कह रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हूं, किन्तु वीतराग बनने का ध्येय अवश्य हो। वहां तक हमें पहुंचना है। हम यात्रा तो प्रारम्भ करें। ध्येय की दिशा में एक पग तो धरें। कभी-कभी केवल सुख का भी अनुभव करें। प्रतिदिन सुख-दुःख के जोड़े का अनुभव करते हैं, किन्तु कभी-कभी केवल सुख का ही अनुभव करें। जब केवल सुख का अनुभव होगा तब जीवन में संयम फलित होगा। सुख-दुःख के जोड़े के प्रति जो तीव्र आसक्ति है, निश्चित ही उसमें एक छेद हो जाएगा और वह धीरे-धीरे टूटने लगेगी।

चैतन्य के अनुभव की सतत धारा प्रवाहित हो जाए, यह सरल नहीं है, बहुत ही कठिन है। किन्तु साधना के द्वारा कभी-कभी तो उसका अनुभव करें। उसके लिए समय लगाएं और केवल चैतन्य का अनुभव करें, कोई दूसरा विकल्प न आए।

निरन्तर अप्रमत्त रहना, जागरूक रहना सरल नहीं। लम्बी साधना के बाद ही पूर्ण जागरूक रहा जा सकता है। किन्तु थोड़ा अभ्यास तो ऐसा होना ही चाहिए कि जो भी किया जाए वह बेहोशी में नहीं, होशपूर्वक किया जाए। आप यह संकल्प करें कि दिन में एक-दो घंटा इतना जागरूक रहूंगा कि जो भी करूंगा वह जागृत अवस्था में ही करूंगा। पैर उठे तो पता रहे कि पैर उठ रहा है। पैर टिके तो पता रहे कि पैर टिक रहा है। जो कुछ हो वह जानकारी में हो, अजानकारी में न हो। मन और कर्म—दोनों साथ-साथ चलें। यदि अल्प समय के लिए भी ऐसा नहीं होता है तो रूपान्तरण की बात घटित ही नहीं हो सकती।

समता की साधना भी दुष्कर है। एक ही दिन में सारी विषमता मिट जाए, समता प्रतिष्ठित हो जाए—ऐसा नहीं होता। संभव नहीं है। इतना क्षयोपशम, इतना विकास कहां है कि एक साथ ऐसा घटित हो जाए। किन्तु कम से कम यह तो प्रयोग करें कि ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित हो। संवेदना न हो। संवेदना को तोड़कर केवल ज्ञान में प्रतिष्ठित रहना समता का विकास करना है।

यह रूपान्तरण की प्रारंभिक प्रक्रिया है। यदि यह नहीं होती है तो पूरे रूपान्तरण की चर्चा ही व्यर्थ होगी।

कुम्हार चाक पर मिट्टी का लोंदा चढ़ाता है और कुछ ही समय में रूपान्तरण शुरू हो जाता है। चाक घूमता है। मिट्टी के लोंदे का रूप बदलता जाता है। यदि वह रूपान्तरण प्रारम्भ नहीं होता तो घड़ा कभी नहीं बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाता। जैसे-जैसे चाक घूमता है वैसे-वैसे वह मिट्टी का पिण्ड अपने पिण्ड को छोड़कर दूसरे आकार में बदलना शुरू हो जाता है। यदि वह रूपान्तरण नहीं होता है तो साधना करने वाले के लिए भी प्रश्न होता है और दूसरों के लिए भी प्रश्न होता है। स्वयं को तो महसूस होना ही चाहिए कि साधना से रूपान्तरण प्रारम्भ हो गया है। दूसरे उसे मानें या न मानें, कोई महत्त्व की बात नहीं है। ग्राहक घड़ा चाहता है, मिट्टी का पिण्ड नहीं। घड़ा प्राप्त नहीं होता तब तक उसे विश्वास नहीं होता। मिट्टी के पिण्ड में न पानी रखा जा सकता है और न अनाज। मिट्टी का पिण्ड जब पूरा रूपान्तरित होकर घड़ा बन जाता है तब वह पानी भी टिका पाता है और अनाज भी टिका पाता है।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण साधना की निष्पत्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ५

संकलिका

- जुद्धारिहं खलु दुल्लहं । [आयारो, ५।४६]
  - युद्ध के योग्य सामग्री निश्चित ही दुर्लभ है ।
- अध्यात्म साधक को संघर्ष का सामना करना होता है ।
- विवेक-चेतना जागने पर वह ज्ञाता-द्रष्टाभाव की ओर जाने के लिए प्रत्याख्यान करता है ।
- उपादेय की प्रतिमा सामने होती है तब हेय पीछा नहीं करता ।
- उपादेय को उपलब्ध होने पर वह संयत, जागृत और शान्त रहना चाहता है, तब आस्रव (वृत्तियां) युद्ध छेड़ देते हैं । उनसे निपटने के लिए अनेक साधनों का उपयोग आवश्यक है ।
- अध्यात्म की साधना, पूरी की पूरी भेद-विज्ञान की साधना, आयोग की साधना है—
  - शरीर और आत्मा का भेद ।
  - इच्छा और आत्मा का भेद ।
  - मूर्च्छा और आत्मा का भेद ।
  - आवेग और आत्मा का भेद ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्जा का विकास : तप

कायोत्सर्ग भेद-विज्ञान की साधना है। तोड़ते जाओ, भेद करते जाओ, शेष जो बचेगा वह वास्तविक होगा, परमार्थ होगा, परम सत्य होगा। परम सत्य अभेद्य नहीं है। भेद करते जाओ—शरीर और चैतन्य का भेद, आकांक्षा और चैतन्य का भेद, प्रसाद और चैतन्य का भेद, उत्तेजना और चैतन्य का भेद, भेद ही भेद। शरीर से भिन्न, इच्छा से भिन्न, नींद से भिन्न, प्रमाद से भिन्न, आवेग से भिन्न। इस भिन्नता से आत्मोपलब्धि की ओर यात्रा होने लग जाती है। अस्तित्व उपलब्ध हो जाता है। हाथों का संयम करो, पैरों का संयम करो, वाणी का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो, अध्यात्म में चले जाओ। अध्यात्म में जाने का रास्ता है—संयम। इस पथ पर सबसे पहले प्राप्त होता है—कायोत्सर्ग।

अध्यात्म की यात्रा में सबसे स्थूल साधन है—शरीर। श्वास शरीर से भिन्न नहीं है। वह उसी का एक हिस्सा है, अंग है। प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—मन, वचन और शरीर। श्वास प्रवृत्ति का मूल स्रोत नहीं है। वह शरीर का ही एक अंश है।

साधक कायोत्सर्ग करना चाहता है, काया को छोड़ना चाहता है, चंचलता को मिटाना चाहता है, किन्तु प्रश्न होता है कि यह कैसे किया जाए? काया की चंचलता को कैसे मिटाया जाए? जब तक प्राण की ऊर्जा पूरे शरीर में बह रही है, जब तक मन की चंचलता पूरे शरीर में है, तब तक शरीर की प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा जा सकता, शरीर को स्थिर नहीं किया जा सकता, शांत नहीं किया जा सकता। कायोत्सर्ग नहीं हो सकता। कायोत्सर्ग करने के लिए मन के घोड़े को कहीं और बांधना होगा। इसे हिलती हुई खूंटी से न बांधें। कायोत्सर्ग अपने-आप हो जाएगा। आप मन को भीतर ले जाएं उसे चैतन्य के अथाह समुद्र में डुबकियां लगाने दें। ढक्कन से ढके हुए इस ज्योतिपुंज में इसे जाने दें। जब मन इस ज्योतिपुंज में लीन होगा, जब मन चैतन्य के इस शांत समुद्र में डुबकियां लगायेगा तब शरीर अपने आप शान्त होगा, स्थिर होगा, व्यक्त होगा। शरीर की सारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंचलता प्राण-ऊर्जा की चंचलता है। शरीर की सारी चंचलता मन की चंचलता है। यदि प्राण की धारा चैतन्य की ओर बहने लग जाती है, यदि मन की धारा चैतन्य की ओर प्रवाहित होने लग जाती है तो शरीर शान्त हो जाता है, क्योंकि चंचलता पैदा करने वाली प्राण की ऊर्जा उसे प्राप्त नहीं हो रही है, मन की गति भी उसे प्राप्त नहीं हो रही है। तब शरीर शान्त और स्थिर हो जाता है। उसका उत्सर्ग हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही पूरा कायोत्सर्ग सधता है। यदि आप मन को ज्ञाता और द्रष्टा के साथ नहीं जोड़ते हैं, जो जानने वाला है और देखने वाला है उसके साथ मन का योग नहीं करते हैं, तो काया का उत्सर्ग नहीं हो सकता, प्रवृत्ति का विसर्जन नहीं हो सकता।

कायोत्सर्ग के दो चरण हैं। एक है—शिथिलीकरण और दूसरा है—विसर्जन। शिथिलीकरण विसर्जन नहीं है। विसर्जन का अर्थ है—काया और चैतन्य के पृथक्त्व का स्पष्ट अनुभव। यह लगने लगे कि काया कहीं अलग पड़ी है और चैतन्य कहीं अलग पड़ा है। पिंजड़ा रह गया, पंछी अलग हट गया, अनन्त आकाश में उड़ने लग गया। ढक्कन पड़ा है और ज्योति उससे भिन्न हो गयी है। ऐसा कायोत्सर्ग तब होता है जब मन अध्यात्म में रम जाता है। उस समय हाथ, पैर, वाणी और समस्त इन्द्रियां अपने-आप संयत हो जाती हैं।

हम दोनों ओर से चलें। बाहर से भी चलें और भीतर से भी चलें। बाहर से चलें तब सबसे पहले हाथों का संयम करें, पैरों का संयम करें, वाणी का संयम करें, इन्द्रियों का संयम करें। जब हम भीतर से चलें तब इस मुद्रा में बैठ जाएं जिससे मन की दिशा बदल जाए, प्राण की धारा बदल जाए और मन प्राण की सारी ऊर्जा भीतर की ओर बहने लग जाए। यह बाहर से भीतर की ओर गति है। एक गति है—भीतर से बाहर की ओर और दूसरी है—बाहर से भीतर की ओर। यदि मन भीतर की ओर रम गया, यदि अस्तित्व की कोई झलक मिल गयी, यदि अस्तित्व में मन रम गया तो शरीर के समस्त अवयव अपने-आप शांत हो जाएंगे। प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, अपेक्षा नहीं है। चंचलता अपने-आप मिट जाएगी। उस समय साधक 'सुसमाहितात्मा' बन जाएगा। आत्मा का वह स्वरूप प्रकट होगा जो पहले कभी नहीं हुआ था। इस स्वरूप को आज तक आप या तो इन्कार करते रहे हैं या केवल मानते रहे हैं, किन्तु जानते नहीं रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो प्रकार के लोग हैं। कुछ आत्मा को मानते हैं। कुछ आत्मा को नहीं मानते। कुछ लोगों ने यह मान लिया कि आत्मा है। यह मानने वाली बात अधिक नहीं टिकती। किसी ने प्रबल तर्कों के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि 'आत्मा नहीं है, आत्मा को मानने वाली बात टूट जाती है। केवल मानने का यही परिणाम होता है। मानकर चलने वाला सदा दूसरों के सहारे चलता है, वह दूसरे को ही मानकर चलता है। वह किसी व्यक्ति को मानता है, किसी ग्रन्थ को मानता है, या किसी और को मानता है, किन्तु वह मानता है, जानता नहीं। मानने का मतलब है—परावलम्बन, दूसरों के सहारे चलना। अपने पैरों से नहीं चलना, दूसरों के पैरों से चलना, दूसरों के कंधों पर बैठकर चलना। यह नितान्त परावलम्बन है। जानने की बात तब आती है जब कायोत्सर्ग की स्थिति प्राप्त होती है। जानने की स्थिति प्राप्त होती है तब कायोत्सर्ग अपने-आप सध जाता है।

कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुंचने का द्वार है। आत्मा की झलक मिलती है तो कायोत्सर्ग अपने-आप सध जाता है। अध्यात्म का अर्थ है—अपने अस्तित्व की उपलब्धि, अपने चैतन्य स्वरूप की उपलब्धि, ज्ञाता-द्रष्टाभाव की उपलब्धि।

हम जानते हैं, देखते हैं, किन्तु हमारा जानना भी शुद्ध नहीं है और देखना भी शुद्ध नहीं है। दही में चीनी मिली हो तो न दही का स्वाद रहा और न चीनी का ही स्वाद रहा। तीसरे स्वाद की उत्पत्ति हो गयी। दही का खट्टापन भी नहीं रहा और चीनी की मिठास भी नहीं रही। ऐसा ही कुछ चैतन्य के साथ रहा है। न चैतन्य का ही पूरा स्वाद प्राप्त है और न पुद्गल का ही पूरा स्वाद प्राप्त है। तीसरा मिला-जुला स्वाद प्राप्त है। इसे ही हम बहुत बड़ी उपलब्धि मान रहे हैं। यदि चैतन्य का शुद्ध स्वाद कभी प्राप्त हो जाए तो पता चल सकता है कि वह स्वाद कितना अनुपम है। एक बार भी यदि हम उस स्वाद तक पहुंच गए तो फिर वहां से लौटना नहीं होगा। साधक उसे छोड़ नहीं पाएगा। एक बार भी यदि उस ज्योतिपुंज की झलक मिल जाए तो साधक उसके लिए पागल हो जाएगा। फिर वह प्राणों की बलि दे सकेगा, मृत्यु को सहर्ष स्वीकार कर सकेगा, पर उस अपूर्व अनुभूति को नहीं छोड़ सकेगा। उसके लिए वह अनुभूति ही सब कुछ होगी। यह है अध्यात्म का मार्ग। यह मार्ग कंटकाकीर्ण है, संघर्षों से भरा है। यह संघर्ष का मार्ग है। अध्यात्म के मार्ग पर बढ़ने वाला साधक पग-पग पर संघर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता जाता है। उसका मार्ग सीधा नहीं है, टेढ़ा-मेढ़ा है। यात्रा छोटी, यात्रा-पथ छोटा, सब कुछ छोटा, किन्तु है बहुत टेढ़ा-मेढ़ा। इस मार्ग पर ही हमारी विवेक की चेतना जागती है। हमें अस्तित्व का बोध होता है और हेय-उपादेय की स्पष्ट दृष्टि विकसित होती है। प्रत्याख्यान की चेतना जागती है। अपने-आप सब कुछ छूटने लगता है। जो मनुष्य केवल छोड़ने को चलता है तो जिसे वह छोड़ना चाहता है, वह वस्तु उसके पीछे दौड़ती है। यह सच है। किन्तु विवेक का अर्थ केवल छोड़ना नहीं है। प्रत्याख्यान का अर्थ केवल छोड़ना नहीं है। प्रत्याख्यान तब होता है जब हेय और उपादेय—दोनों हमारे सामने होते हैं। दोनों प्रतिमाएं हमारे सामने होती हैं। इन दोनों में जो प्रतिमा आकर्षक होती है, वह हमें अपनी ओर खींच लेती है। प्रत्याख्यान तभी सधता है जब उपादेय की प्रतिमा आकर्षक होती है, शक्तिशाली होती है। हेय अपने-आप छूट जाता है। उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ने की आवश्यकता ही उत्पन्न नहीं होती। यदि केवल हेय ही हो, उपादेय न हो तो मनुष्य क्या करेगा? वह मर जाएगा। उपादेय है तो हेय को छोड़ा जा सकता है। अच्छी बात सामने आती है तब बुरी वस्तु छूट जाती है। सुखद वस्तु आती है तब दुःखद वस्तु छूट जाती है। पहले लोग बैलगाड़ियों से यात्रा करते थे। जब रेल और मोटरों का आविष्कार हुआ तब बैलगाड़ियां छूट गयीं। लोग रेल और मोटरों की यात्रा करने लगे। हवाई जहाज के आविष्कार ने सभी वाहनों को पीछे ढकेल दिया। यह होता है। अच्छी चीज बुरी चीज को पीछे ढकेल देती है। किसी के कहने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रत्याख्यान से संयम की चेतना जागृत हो जाती है। संयम की चेतना से अपने आप में लीन रहने की बात प्राप्त हो जाती है। साधक को लगता है कि अब भीतर रहना ही अच्छा है। मन भीतर की खूंटी से बंध जाता है। मन चैतन्य के शांत सागर में डुबकियां लगाने लग जाता है। मन ज्योति-पुंज के प्रकाश में इतना आकर्षण देखता है कि अब वह बाहर के अंधेरे में जाना पसंद नहीं करता, भीतर ही रहना चाहता है। ऐसी स्थिति में एक भीषण संघर्ष खड़ा हो जाता है। भीतर के आस्रव, भीतर की वृत्तियां, भीतर के आवेग संघर्षरत हो जाते हैं। प्रमाद और विषय-कषाय अपना काम शुरू कर देते हैं। मूर्च्छा भी सक्रिय हो जाती है। राग-द्वेष—ये दोनों अपनी रक्षापंक्तियां मजबूत करने लग जाते हैं। भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। यह युद्ध साधक के लिए एक अवसर है। आचारांग में कहा है—'जुद्धारिहं खलु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्लंह— युद्ध का यह अवसर बहुत ही दुर्लभ है। साधक को जमकर मोर्चा लेना है। यह बड़ा अवसर है। इसका लाभ उठाना है। ऐसा अवसर कभी-कभी प्राप्त होता है। एक ओर से राग-द्वेष आक्रमण करते हैं, दूसरी ओर से उनके सैनिक उत्तेजना, प्रमाद, कषाय आक्रमण करते हैं। साधक उन सबको तोड़कर ही आगे बढ़ सकता है। वह उन्हें समाप्त करके ही अस्तित्व तक पहुंच सकता है। जब साधक वहां तक पहुंच जाता है तब उसे लगता है क्यों श्वास को देखें, क्यों शरीर के चैतन्य-केन्द्रों को देखें, क्यों अनशन करें, क्यों ऊनोदरी करें, क्यों संयम करें—यह सारा झंझट है। सीधा रास्ता है कि ज्ञाता-द्रष्टाभाव को ही देखें, उसे ही देखते ही रहें। पहुंच जाने वाले को लगता है कि यह सीधा रास्ता है, किन्तु जो अभी तक नहीं पहुंचा है, उसे यह रास्ता बहुत टेढ़ा-मेढ़ा और कठिन लगता है। उसे पग-पग पर जूझना पड़ता है। सारे आक्रमण एक साथ होते हैं। उन आक्रमणों को विफल किए बिना वह एक पैर भी आगे नहीं बढ़ सकता। साधना के प्रारंभ में इसका अनुभव नहीं होता। साधना के प्रारम्भकाल में इन आस्रवों को इतना खतरा नहीं होता कि उन्हें भी स्थान छोड़ना पड़े। उन सभी वृत्तियों को भी खतरा नहीं होता कि उन्हें भी स्थान छोड़ना पड़े। किन्तु जब साधक दृढ़ निश्चय के साथ आगे बढ़ता है और उन सभी आस्रवों तथा वृत्तियों पर प्रहार करना प्रारंभ करता है, उनके स्थायी आश्रयों को छुड़ाने का प्रयास करता है, तब वे सब कुछ क्रुद्ध सांप की भांति फुफकारने लगते हैं क्योंकि साधक ने उन्हें उखेड़ने का प्रयास किया है। जब तक उन्हें छेड़ा नहीं जाता तब तक वे अपना कार्य शांतभाव से करते रहते हैं। ज्यों ही उन्हें छेड़ा गया, वे क्रुध होकर उभर आते हैं, फुफकारते हैं भय दिखाते हैं। सांप बांबी में शांत बैठा है। आप पास से गुजर जाते हैं। सांप नहीं फुफकारता। उसे थोड़ा-सा छेड़ें, वह क्रुद्ध होकर डसने दौडता है। यही बात आस्रवों और वृत्तियों की है। इनके अनादिकालीन स्थायी स्थान को छुड़ाना सरल नहीं है। ज्यों-ज्यों साधक आगे बढ़ता है, वृत्तियां और तीव्र होती हैं। जब साधक साधना के मध्य में पहुंचता है तब वे जमी हुई वृत्तियां, जमी हुई वासनाएं और उत्तेजनाएं, इतने तीव्ररूप से उभरती हैं कि साधक विचलित होने की स्थिति में आ जाता है। यदि उस समय उसे कोई सहायक नहीं मिलता है तो वह साधना से च्युत हो जाता है। उस समय योग्य गुरु या योग्य सहायक की आवश्यकता होती है। वह समय खतरनाक होता है। उस समय जो वृत्तियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उभरती हैं, उनकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अनोखी-अनोखी वृत्तियां उभरती हैं। साधक बेचैन हो उठता है। वृत्तियां न उभरें, ऐसा नहीं होता। सभी साधकों का यही अनुभव है कि साधना के मध्यकाल में वृत्तियां तीव्र होती हैं। उस समय उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता है।

इस युद्ध की स्थिति से निपटने के लिए अनेक साधनों का सहारा लेना पड़ता है। पहले से ही पूरी तैयारी करके चलना पड़ता है। उस तैयारी के अनेक साधन हैं :—

१. श्वास को देखना।
२. शरीर को देखना।
३. चैतन्य-केन्द्रों को देखना।
४. अनशन करना।
५. उपवास करना।
६. कम खाना।
७. आसन करना।

ये सब तैयारी के साधन हैं जो साधक इस साधन-सामग्री को साथ लेकर चलता है वह कभी युद्ध में नहीं हारता। वह भयंकर आक्रमण और प्रहारों को सहर्ष झेल लेता है। वह कभी पीछे नहीं हटता, आगे से आगे बढ़ता चला जाता है। इसमें भी कुछ रहस्य है।

एक वैज्ञानिक तीस वर्षों से एक अनुसंधान में लगा हुआ था। उसने प्रतिपादित किया कि जो चबाकर खाता है वह कम हिंसक होता है। बिना चबाए खाने वाला अधिक हिंसक होता है। कहां से कहां का सम्बन्ध ! कहां हिंसा और कहां दांतों से चबाना ! बड़ी विचित्र-सी बात लगती है। किन्तु उस वैज्ञानिक ने इतने प्रमाण प्रस्तुत किए हैं कि इस तथ्य को सहसा नकारा नहीं जा सकता।

संचित वृत्तियां निमित्तों को पाकर उभरती हैं। अगर निमित्तों को बदल दिया जाता है तो ये वृत्तियां शांत हो जाती हैं। भोजन केवल शरीर को ही पुष्ट नहीं करता, उसका प्रभाव इन्द्रियों और मन पर भी होता है। भोजन के सूक्ष्म अणु जो रस रूप में परिवर्तित होते हैं, वे इन्द्रियों, मन और वृत्तियों को प्रभावित करते हैं। भोजन का परिपाक कैसे होता है, यह महत्त्वपूर्ण बात है। चबाने का अर्थ है—उचित परिपाक के लिए प्रस्तुत करना। जितना अधिक चबाया जाएगा उतना ही अच्छा परिपाक होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उचित परिपाक होगा तो मल आंतों में नहीं चिपकेगा। आंतों में मल नहीं चिपकेगा तो सड़ांध पैदा नहीं होगी। सड़ांध के बिना अपान दूषित नहीं होगा। अपान दूषित नहीं होगा तो मन की स्वच्छता कभी नष्ट नहीं होगी। अपान दूषित नहीं होगा तो व्याकुलता नहीं होगी, बेचैनी नहीं होगी, बुरे भाव नहीं आएंगे। बुरे भाव नहीं आएंगे तो हिंसा का भाव फिर कैसे आएगा? यह चबाने से होने वाली निष्पत्ति है।

आहार का संयम तपस्या है। ऊनोदरी, रस-परित्याग—ये तप के प्रकार हैं। ये हमारे युद्ध के साधन हैं। यदि साधन-सामग्री पर्याप्त और दृढ़ होती है तो आक्रमणकारियों से सहजतया निपटा जा सकता है। यदि कोई साधक इन हथियारों से सज्जित होकर नहीं बढ़ता, वह अपनी साधना से फिसल जाता है, च्युत हो जाता है।

ज्ञाता-द्रष्टाभाव तक पहुंचने के लिए, अस्तित्व तक पहुंचने के लिए बहुत सज्जा की आवश्यकता होती है।

उपवास व्यर्थ नहीं है, ऊनोदरी व्यर्थ नहीं है, रस-परित्याग व्यर्थ नहीं है। भोजन का विवेक साधना का बहुत बड़ा अंग है। यह भी काम्य नहीं है कि भोजन सर्वथा छोड़ दिया जाए। यह भी काम्य नहीं है कि भोजन के प्रति लापरवाही बरती जाए। हमें दोनों के मध्य से गुजरना है। बिल्कुल कम भोजन करने से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। अधिक भोजन करने से आलस्य बढ़ता है। शारीरिक शक्ति कम न हो तथा आलस्य भी न बढ़े इसके लिए भोजन का संतुलन आवश्यक होता है। हमें साधनाकाल में भी शरीर से काम लेना है। यदि उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है तो साधना में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। जिस शरीर से काम लेना है, यदि उस पर भोजन का अधिक भार डाल देते हैं तो भी वह साथ नहीं देता। इस बेचारे शरीर पर हम उतना ही भार डालें, जिससे यह अपना काम सहजता से कर सके।

साधना में अनाहार की नहीं, आहार-संयम की बात मुख्य है। ऊनोदरी, रस-परित्याग—ये आहार-संयम के अंग हैं। साधना के साथ इनका गहरा संबंध है। इनकी विस्तृत चर्चा आगे करेंगे।

एक साधक मेरे पास आया। वह अनेक दिनों से प्रेक्षा-ध्यान में संलग्न था। उसने कहा—'आज पहली बार मुझे अपने अस्तित्व की झलक मिली, आत्मा की अनुभूति हुई। आत्मा को देखने से बढ़कर कोई दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान नहीं है। यही होना चाहिए।'

मैंने कहा—"बात ठीक है। आत्म-दर्शन तक पहुंचना हमें इष्ट है। किन्तु यह यात्रापथ कुछेक घुमावों से गुजरता है। एकसाथ इस मंजिल तक नहीं पहुंचा जाता। हमें क्रमशः पहुंचना होता है। जो साधक आज प्रथम कक्षा में है, जो आज ही चले हैं, यात्रापथ पर पहला ही कदम उठाया है, वे ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा की एकसाथ झलक कैसे पा सकते हैं? उन्हें हम कहें कि अपने शरीर के भीतर ज्ञाता और द्रष्टा को देखें, ज्योतिपुंज को देखें, चैतन्य के लहराते समुद्र को देखें, तो वे कहेंगे कि शरीर के भीतर देखा, वहां चमड़ी है, चमड़ी के भीतर हड्डियां हैं, खून है, मेदा है, मज्जा है। न कोई ज्ञाता है और न कोई द्रष्टा। न कोई ज्योतिपुंज है और न कोई चैतन्य का लहराता समुद्र। सब व्यर्थ हैं। वे निराश हो जाएंगे। हम उन साधकों को शनैः-शनैः बढ़ने दें। प्रत्येक स्तर से गुजरने दें। पहले वे स्थूल संवेदनों को पकड़ें। जब वे उन्हें पकड़ लें तब शरीर की गहराई में जाकर सूक्ष्म संवेदनों को पकड़ें। स्थूल शरीर को पार करना कठिन है। उसको पार कर जाने पर सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है। वह है तैजस शरीर, आभावलय। उसे देखें। उसकी तरंगों को पकड़ें। विभिन्न वर्णों से निर्मित इस आभावलय की विभिन्न तरंगों को देखें, पकड़ें। फिर आता है अंतिम सूक्ष्म शरीर—कर्म-शरीर। कर्मपरमाणुओं के विपाकरूप स्पंदनों को पकड़ें। वहीं से सब कुछ बाहर आता है। जो बाहर में घटित हो रहा है वह मात्र प्रतिबिंब है। सारा का सारा मूल कर्म शरीर में घटित होता है। सूक्ष्म शरीर में घटित होने वाली घटनाओं के आधार पर ही मृत्यु की घोषणा वर्षों पहले की जा सकती है। बीमारी की सूचना वर्षों पहले दी जा सकती है। आज का विज्ञान भी इस ओर अनुसंधान कर रहा है और उसे इस दिशा में काफी सफलता भी मिली है।

आज जो बीमारी स्थूल शरीर में दीख रही है, वह सूक्ष्म शरीर में पहले ही घटित हो चुकी होती है। वहां से स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होने में उसे काफी समय लग जाता है। मृत्यु की घटना सूक्ष्म शरीर में घटित हो रही है। बाहर आने में उसे समय लग सकता है। आज इतने सूक्ष्म यंत्र विकसित हो चुके हैं कि सूक्ष्म शरीर में घटित होने वाली मृत्यु, बीमारी आदि के फोटो लिए जा सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर में न जाने कितने स्पंदन, कितने संवेदन, कितने विपाक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो रहे हैं। सूक्ष्म शरीर बहुत बड़ा जंगल है। साधक को उस जंगल में प्रवेश कर उन स्पंदनों और संवेदनों को पकड़ना होगा। यदि मन को हम इतना सूक्ष्म, इतना पटु और इतना संवेदनशील बना सकें तो फिर सूक्ष्म शरीर की दीवार को भेद कर आगे बढ़ा जा सकता है। वहां पहुंचकर साधक अनुभव करेगा कि—यह रहा ज्ञाता-द्रष्टा। वहां कोई संशय नहीं, कोई विपर्यय नहीं, कोई अस्पष्टता नहीं, कोई व्यवधान नहीं। वहां ज्योतिपुंज के दर्शन होंगे। चैतन्य का लहराता हुआ समुद्र आंखों के सामने नाचने लगेगा। ज्ञाता-द्रष्टा का साक्षात्कार होगा।

साधक पहले चरण में कहेगा—मैं ज्ञाता-द्रष्टाभाव का साक्षात् करने के लिए यात्रापथ पर चला हूं।' जब वह मंजिल तक पहुंच जाएगा, तब वह कहेगा—'मैंने ज्ञाता-द्रष्टाभाव का साक्षात् कर लिया।' किन्तु इतनी दूरी तय करने के लिए अनेक अनुभवों से गुजरना पड़ता है। जब कोई इस यात्रापथ पर चलना प्रारंभ करता है तब उसे धुंधला-सा अनुभव होता है। किन्तु जब वह आगे बढ़ता है तब अनुभव स्पष्ट होता जाता है। वह उस स्थिति पर पहुंच जाता है जहां अस्पष्टता दूर, परोक्षता दूर, धुंधलापन दूर। वहां अनुभव करने वाला और अनुभाव्य—दो नहीं रहते। एक हो जाते हैं।

उस दूरी तक पहुंचने के लिए हम ज्ञाता और द्रष्टा का अनुभव लेकर चलें। ०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ६

संकलिका

- संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं । [आयारो, २।१२७]
- अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा । [आयारो, ५।८१]
  - पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की सन्धि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो ।
  - घुटनों को ऊंचा और सिर को नीचा कर कायोत्सर्ग करें ।
- यात्रा का उद्देश्य : चेतना का ऊर्ध्वगमन ।
- कामुकता और रसास्वादन—दो मौलिक वृत्तियां ।
- चेतना कामकेन्द्र में उलझी रहती है ।
- आर्त्त-रौद्र ध्यान और अधर्म लेश्या का यही केन्द्र है ।
- नाभि सन्धिस्थल है ।
- हृदय से ऊर्ध्वयात्रा का प्रारम्भ ।
- ऊर्ध्वयात्रा होने पर वृत्ति उठेगी, तरंग आएगी पर ऊर्जा का सहारा न मिलने पर बिना फल दिए लौट जाएगी ।
- स्थिरासन से ऊर्जा का व्यय कम होता है ।
- ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन का मुख्य हेतु है तप ।
- तप के तीन फलित—
  - ऊर्जा का अधिक संचय ।
  - ऊर्जा का अल्प व्यय ।
  - ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा

आत्मा एक ज्योतिपुंज है। एक बहिन ने पूछा—'यदि वह ज्योतिपुंज है तो उसका वर्ण कैसा है ?'

आत्मा एक ज्योतिपुंज है। एक भाई ने पूछा—'यदि वह ज्योतिपुंज है तो दीये की भांति दिखाई क्यों नहीं देता ?'

आत्मा ज्योतिपुंज है तो उसका कोई वर्ण होना चाहिए। आत्मा ज्योतिपुंज है तो वह जलते हुए दीपक की भांति दिखाई देना चाहिए। किन्तु न उसमें कोई वर्ण है और न वह जलता हुआ दिखाई देता है।

एक आदमी कमरे में गया। अन्दर बिजली जल रही थी। कुछ ही क्षणों के पश्चात् बिजली चली गई। अंधेरा छा गया। कुछ भी नहीं सूझ रहा था। कोई भी वस्तु दिखाई नहीं दे रही थी। बाहर खड़े एक आदमी ने पूछा—'भीतर कौन है ?' उसने कहा—'मैं हूं।'

'मैं हूं'—यह कैसे देखा ? भीतर अंधेरा है। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है, फिर 'मैं हूं' यह कैसे जाना ? यदि आत्मा ज्योतिपुंज नहीं है तो कैसे दिखा कि मैं हूं। यदि आत्मा ज्योतिपुंज नहीं है, दीपक की भांति ज्योतिर्मय नहीं है तो कैसे दिखा कि 'मैं हूं'। कितना ही सघन अंधकार हो, व्यक्ति चाहे भूगृह में खड़ा हो, किन्तु 'मैं हूं'—यह दीप कभी नहीं बुझता। यह सदा जलता रहता है। 'मैं हूं'—इतना-सा प्रकाश पर्याप्त है यह समझने के लिए कि भीतर कोई ज्योतिपुंज है। यह प्रकाश की एक किरण पर्याप्त है। यदि हमारी यात्रा ज्योतिपुंज की दिशा में चले, हमारे प्राण की सारी ऊर्जा उसी ओर प्रवाहित हो तो एक न एक दिन उस ज्योतिपुंज का साक्षात्कार अवश्य होगा। उसमें चाहे वर्ण हो या न हो ज्वलनशीलता हो या न हो, वह साक्षात् होगा।

वह आज साक्षात् नहीं है, फिर भी उसके प्रति हम संशयशील नहीं हैं। उसकी कुछ रश्मियां हमें दीख रही हैं। पूरा ज्योतिपुंज आंखों के सामने नहीं है, किन्तु उसकी कुछ रश्मियों से हम अवगत हैं। उन कुछेक रश्मियों के आधार पर हम यह सहज अनुमान कर सकते हैं कि ज्योतिपुंज है। जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन हमारी यात्रा संपन्न होगी, हम मंजिल तक पहुंच जाएंगे, उस दिन हमारा यह अनुमान साक्षात् अनुभव में बदल जाएगा। जो आज आभासमात्र है, वह पूरा प्रत्यक्ष हो जाएगा। हम यात्रा करें। नीचे से ऊपर की ओर यात्रा करें। चेतना की ऊर्ध्वयात्रा, ऊर्जा का ऊर्ध्वगामी प्रवाह, प्राण की ऊर्ध्वगति—ये लक्ष्य तक पहुंचने के माध्यम हैं।

हमें यात्रापथ इस शरीर में ही चुनना होगा। हमारे इस दृश्य शरीर में दो केन्द्र हैं—ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। नाभि से ऊपर मस्तिष्क तक का स्थान ज्ञानकेन्द्र है, चेतनाकेन्द्र है और नाभि से नीचे का स्थान कामकेन्द्र है। हमारी चेतना इन दो वृत्तियों के आसपास उलझी रहती है। जहां चेतना ज्यादा उलझी रहती है वहां चेतना का प्रवाह भी अधिक हो जाता है। ऊर्जा का मुख्य केन्द्र कामकेन्द्र है। सारी चेतना इसी के आसपास बिखरी हुई है। नाभि और जननेन्द्रिय—इसी के आसपास मनुष्य की चेतना और ऊर्जा बिखरी पड़ी है। ज्ञानकेन्द्र में ऊर्जा बहुत कम है, क्योंकि आज के मनुष्य की मौलिक वृत्ति है काम और इसलिए उसकी सारी चेतना, सारी ऊर्जा वहीं सिमटी पड़ी है। उसका ध्यान उधर ही ज्यादा जाता है। मानसशास्त्री कहते हैं—'मनुष्य में काम का जितना तनाव होता है उतना और किसी वृत्ति का नहीं होता। भय का तनाव कभी-कभी होता है। क्रोध का तनाव कभी-कभी होता है। ईर्ष्या और मान का तनाव कभी-कभी होता है। इसी प्रकार अन्य आवेगों का तनाव भी कभी-कभी होता है। किन्तु काम का तनाव सबसे ज्यादा होता है, सघन होता है। उसकी जड़ें बहुत गहरे में हैं।' इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—इन तीन अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओं का केन्द्र भी यही होना चाहिए और यथार्थ में यही है। हमारी प्रत्येक वृत्ति का केन्द्र इस स्थूल शरीर में अवश्य ही होगा। उसकी अभिव्यक्ति का केन्द्र इसी शरीर में होगा। इन तीन अधर्म लेश्याओं की अभिव्यक्ति के केन्द्र कामकेन्द्र के बीच से अपान देश तक हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के केन्द्र भी ये ही हैं। जब चेतना यहां रहती है तब इष्ट का वियोग होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। अनिष्ट का संयोग होने पर क्षोभ पैदा होता है। प्रियता, अप्रियता की अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। वेदना के आने पर व्याकुलता, वेदना को नष्ट करने की चेष्टाएं, क्रूरता, ईर्ष्या, घृणा—आदि के स्पंदन कामकेन्द्र के आसपास अनुभूत होते हैं। वे यहीं उभरते हैं। हमारे कामकेन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की चेतना के आस पास ही वे स्पंदन क्रियान्वित होते हैं।

हमारी एक शक्ति है—प्राणशक्ति। एक ही प्राणशक्ति अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। उसके दस रूप बन जाते हैं। इन्द्रियों के साथ जब प्राण-ऊर्जा काम करती है तो पांच प्राण बन जाते है—स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, रसन इन्द्रिय प्राण, घ्राण इन्द्रिय प्राण चक्षु इन्द्रिय प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। वही प्राणधारा जब मन के साथ जुड़ती है तब मनोबल बन जाता है। जब वह वचन के साथ काम करती है तब वचनबल बन जाता है और वही जब काया के साथ जुड़ती है, तब कायबल बन जाता है। यही प्राणधारा जब श्वास के साथ जुड़ती है, श्वास को गतिशील बनाती है तब श्वासप्राण बन जाता है। वही प्राण की ऊर्जा जब जीवन को टिकाए रखने में सक्रिय होती है तब आयुष्यप्राण बन जाता है, जीवनशक्ति बन जाती है। एक ही प्राणधारा दस रूपों में विभक्त हो जाती है। एक ही नदी की दस धाराएं बन जाती हैं, दस प्रवाह बन जाते हैं।

जब प्राण की धारा नीचे की ओर प्रवाहित होती है, चित्त नीचे की ओर जाता है तब सारे अस्तित्व का, शरीर का और चेतना का केन्द्र काम-केन्द्र बन जाता है। उस कामकेन्द्र में उलझी हुई चेतना के आसपास कृष्णलेश्या के विचार पनपते हैं, नीललेश्या के विचार पनपते हैं, कापोत-लेश्या के विचार पनपते हैं। अधर्म के जितने विचार हैं, आर्त्त और रौद्र ध्यान की जितनी परिणतियां हैं वे सारी इसी कामकेन्द्र के आसपास पनपती हैं।

कृष्णालेश्या का एक लक्षण है—अजितेन्द्रियता। जिसमें कृष्णलेश्या होती है वह अजितेन्द्रिय होता है। यह इसका सूचक है कि ऐसी वृत्ति कामकेन्द्र के आसपास ही उत्पन्न होती है। कामकेन्द्र के पास जो चेतना है वह कृष्णलेश्या का ही परिणाम है।

जैन दर्शन ने छह लेश्याओं के आधार पर जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, हठयोग ने उन्हीं तथ्यों का छह चक्रों के आधार पर प्रतिपादन किया है। दोनों की अपनी-अपनी परिभाषाएं हैं। यदि दोनों को परि-भाषाओं से मुक्त कर दें तो तथ्य-प्रतिपादन अक्षरशः मिल जाता है। हठयोग तीन चक्रों को ऊपर और तीन चक्रों को नीचे मानता है। मूलाधार, स्वाधि-ष्ठिान और मणिपूर—ये तीन चक्र हृदय से नीचे हैं और अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—ये तीन चक्र हृदय से ऊपर होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब मूलाधार चक्र सोया रहता है तब उत्तेजना बढ़ती है। स्वाधिष्ठान चक्र सोया रहता है तब आदमी कामुक होता है। मणिपूर चक्र सोया रहता है तब आदमी में ईर्ष्या, घृणा, क्रूरता के भाव पैदा होते हैं। तीन अप्रशस्त लेश्याओं के परिणाम से इनकी तुलना करें, सारी बातें ज्यों की त्यों मिल जाएंगी।

तीन अप्रशस्त लेश्याओं के ये ही स्थान हैं। यहां से अधोयात्रा प्रारंभ होती है, चेतना अधोयात्रा प्रारंभ करती है। सारी प्राण ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर होने लग जाता है।

एक रूपक है। जैन आचार्यों ने लोकपुरुष की कल्पना की। उन्होंने लोक को पुरुष के रूप में चित्रित किया। लोकपुरुष के तीन भाग हैं—उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। उर्ध्वलोक में हैं देवता, मध्यलोक में हैं मनुष्य और अधोलोक में हैं नैरयिक। मोक्ष उर्ध्वलोक में है। हृदय से हमारा उर्ध्वलोक प्रारंभ होता है। उर्ध्वलोक जहां देवताओं का निवास है, वहां सिद्ध जीवों का निवास है, मुक्तात्माओं का निवास है। मध्यलोक में मनुष्यों का निवास है। कटि से नीचे का भाग अधोलोक है। यह नरकावास है।

हृदय से ऊपर धर्म लेश्याओं का स्थान है और हृदय से नीचे अधर्म लेश्याओं का स्थान है।

हम देह-प्रेक्षा में हृदय से प्रेक्षा प्रारंभ करते हैं। यह भी सकारण है। प्राणऊर्जा की यात्रा सबसे पहले ऊर्ध्व होनी चाहिए। उसका पूर्ण विकास होने पर फिर अधोयात्रा में कोई खतरा नहीं होना। देवता किसी कारणवश नीचे आता है तो कोई कठिनाई नहीं होती। उसकी तो मात्र एक यात्रा है। यदि चेतना नीचे ही उलझी रह जाती है तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। यदि हम उस ज्योतिपुंज का, परम तत्त्व का, पारमार्थिक तत्त्व का, परम सत्ता का साक्षात्कार चाहते हैं तो उर्ध्वयात्रा करनी होगी। प्राण-ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा हुए बिना कुछ भी नहीं होता। निम्न प्रकार की वृत्तियों से छुटकारा नहीं हो सकता। व्यक्ति कितना ही सुने, माने और व्यवहार के स्तर पर जाने, फिर भी वह इन निम्नस्तरीय वृत्तियों से नहीं छूट सकता। ऊर्ध्वयात्रा प्रारम्भ होते ही वृत्तियों में परिवर्तन आने लग जाता है।

ऊर्ध्वयात्रा का प्रारंभ साधना का पहला चरण है। इसी का नाम है तपस्या। ऊर्जा को एकत्रित कर ऊर्ध्वगामी बनाना ही तपस्या है। ऊर्जा के बिना कुछ नहीं हो सकता। विस्फोटक किए बिना कुछ भी निष्पन्न नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता। जब तक विस्फोट की शक्ति नहीं होती तब तक कोई भी क्रांति घटित नहीं होती। क्रांतिकारी कार्य के संपादन के लिए विस्फोट की जरूरत होती है। विस्फोट के लिए ऊर्जा भंडार की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का संचय करें। ऊर्जा का व्यय कम करें। ऊर्जा का विस्फोट करें। ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी करें।

तपस्या का पहला प्रकार है—अनशन, भूखे रहना। भूखे रहने से ऊर्जा अधिक उत्पन्न होती है। भोजन करने से भी ऊर्जा उत्पन्न होती है। किन्तु वह ऊर्जा केवल हमारे शरीर-यंत्र का संचालन मात्र कर सकती है। वह ऊर्जा कोशिकाओं को सक्रिय बना देती है। किन्तु चेतना के क्षेत्र में विस्फोट करने के लिए वह ऊर्जा पर्याप्त नहीं है। उससे विस्फोट संपन्न नहीं होता। विस्फोट के लिए सूक्ष्म ऊर्जा अपेक्षित होती है। यह तपस्या और भावना के द्वारा उत्पन्न होती है। वह सूक्ष्म प्रयोगों के द्वारा उत्पन्न होती है। वह अन्न खाने से पैदा नहीं होती। तपस्या में भी यदि पानी नहीं लिया जाता तो अधिक ऊर्जा पैदा होती है। गर्मी को सहने से और अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। ऊर्जा को उत्पन्न करने, ऊपर ले जाने, उसका व्यय कम करने का उपाय है—प्रवृत्ति कम करो, स्थिर अधिक रहो। जितनी प्रवृत्ति होती है, ऊर्जा का व्यय भी उतना ही होता है। यह केवल आध्यात्मिक जगत् की ही बात नहीं है। शरीरशास्त्री भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। प्रवृत्ति अधिक, ऊर्जा का व्यय अधिक। प्रवृत्ति कम, ऊर्जा का व्यय कम। चिकित्सक विश्राम का सुझाव देते हैं, उसके पीछे भी यही दृष्टिकोण है। विश्राम करने से शक्ति का व्यय कम होता है। ऊर्जा एकत्रित होती है।

कायिक प्रवृत्ति करते हैं तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया है—कायगुप्ति करो।

वाचिक प्रवृत्ति करते हैं, बोलते हैं तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया—वाक्गुप्ति करो।

सोचते हैं तो ऊर्जा का और अधिक व्यय होता है, इसलिए कहा गया—मनोगुप्ति करो, निर्विचार रहो।

अध्यात्म के क्षेत्र में ऊर्जा के व्यय को कम करने के ये उपाय निर्दिष्ट हैं। गुप्तियों के द्वारा ऊर्जा का उत्पादन अधिक होता है, गुप्ति करो। ऊर्जा की आय अधिक होती है, व्यय कम होगा।

ऊर्जा को ऊपर कैसे ले जाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है। बैठने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की विभिन्न मुद्राएं ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहण में सहायक बनती हैं। सामान्य आदमी यह नहीं सोच सकता कि पालथी मारकर बैठने से तथा पद्मासन या उकड़ू आसन में बैठने से क्या अन्तर आता है। बहुत अन्तर आता है। ये सारे आसन विशिष्ट उद्देश्य से ही निर्णीत किए गए हैं। इनसे ऊर्जा का प्रवाह ऊपर की ओर जाने लगती है। उकडू आसन से नीचे के स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। गोदोहिका आसन से पीछे की ओर दबाव पड़ता है। ऊर्जा ऊपर जाने लगती है।

महावीर से पूछा—"भंते ! ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ विशेष जानना चाहता हूं।"

महावीर ने कहा—"उड्ढं ठाणं ठाएज्जा—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करो।"

खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने से ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है, रक्त नीचे की ओर जाता है। सर्वांगासन, शीर्षासन, वृक्षासन, पद्मासन—इन सबसे ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है। ध्यान के लिए जितने आसनों का विधान किया गया, वे सब ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपक्रम हैं। इनसे ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्त की ऊर्ध्वयात्रा होती है। इससे रूपान्तरण प्रारंभ हो जाता है, एक विस्फोट होता है। इस विस्फोट के बाद ही चेतना ऊपर की ओर बहने लगती है।

इन तीन अधर्म लेश्याओं और तीन धर्म लेश्याओं के बीच पहले एक ऐसी दीवार खिंची रहती है कि सामान्य आदमी उसे तोड़ नहीं सकता। किन्तु जब साधक प्रबुद्ध चेतना वाला हो जाता है, ऊर्जा के महत्त्व को समझ लेता है, ऊर्जा का संचय कर लेता है और ऊर्जा के द्वारा कभी विस्फोट करता है तब वह दीवार टूटती है और साधक ऊपर की ओर उठने लगता है। वहां तीन प्रशस्त लेश्याओं—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का क्षेत्र आता है। एक ज्योतिर्मय प्रकाश शुरू होता है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में दो महत्त्वपूर्ण वाक्य हैं—

- **हृदयं चेतनास्थानम्**—हृदय चेतना का स्थान है।
- **तत्परमौजसः स्थानम्**—चेतना के बाद ओज का स्थान है।

ये दोनों चेतना के परम स्थान हैं। यहां से ऊर्ध्वयात्रा शुरू होती है। लेश्या धर्म की बन जाती है। तेजोलेश्या ज्योतिर्मय पुरुष, चैतन्य पुरुष की यात्रा है। उस समय आर्त्त-रौद्र ध्यान समाप्त हो जाते हैं। धर्म ध्यान का प्रारम्भ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है। साधक पद्मलेश्या पर पहुंच जाता है। पद्मलेश्या का रंग पीला होता है। (आचार्य का ध्यान विशुद्धि चक्र पर किया जाता है। वहां पीले रंग की कल्पना की जाती है। चेतना की यात्रा आगे बढ़ती है, साधक आज्ञा-चक्र पर लाल रंग के साथ ध्यान करता है। वहां का रंग है लाल। साधक और आगे बढ़ता है। वह सहस्रार चक्र पर ध्यान करता है। वह शुक्ल ध्यान का स्थान है। यह शुक्ललेश्या का स्थान है। यहां सब कुछ सात्त्विक ही सात्त्विक। प्रकाश ही प्रकाश और कुछ भी नहीं। चित्त की सारी वृत्तियां शांत हो जाती हैं। चित्तवृत्तियों का उभार शांत हो जाता है, कलुषताएं शांत हो जाती हैं। शेष रहती है—निर्मलता।

यह ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा है। धर्मलेश्या प्रवेश-द्वार है। यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्मलेश्या में प्रवेश कर देने पर अधर्म लेश्याएं सर्वथा समाप्त हो जाती हैं। वे समाप्त होती हैं, किन्तु एक साथ समाप्त नहीं होती।

हमने अतीत में वृत्तियों का, आस्रवों का इतना संचय कर रखा है कि ऊर्ध्वयात्रा करने पर भी उनका दबाव बराबर पड़ता रहता है। वृत्तियां बार-बार उभरती हैं, दबाव पड़ता है, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं आता।

कोई वृत्ति जागी। स्पंदन हुआ। तरंगें चलीं और कामकेन्द्र के पास पहुंचीं। कोई ऊर्जा नहीं मिली तो वापस लौट गयीं। कोई परिणाम नहीं हुआ। बेकार हो गयीं। ऊर्जा मिलने पर वह वृत्ति का काम करती है अन्यथा आती है और बिना फल दिए ही लौट जाती है। जब हमने ऊर्जा का सारा प्रवाह ऊपर की ओर कर दिया, ऊर्जा का भंडार जो नीचे था वह खाली कर दिया और ज्ञानकेन्द्र में भर दिया, फिर कोई भी वृत्ति परिणाम नहीं दे सकती। वृत्तियों की तरंगें आती हैं और लौट जाती हैं। व्यक्ति पर उनका कोई असर नहीं होता। न कामवासना का असर होता है, न ईर्ष्या और घृणा का असर होता है; न राग-द्वेष का असर होता है। सारी वृत्तियां बेकार। ऐसा लगता है कि वृत्तियां हैं किन्तु उन वृत्तियों में फलने की शक्ति समाप्त हो गयी है।

फलदान निमित्त-सापेक्ष होता है। बिना निमित्त के कोई फल दे ही नहीं सकता। विपाकोदय तब होता है जब कोई निमित्त मिलता है। बिना निमित्त के विपाकोदय नहीं हो सकता। वह व्यर्थ चला जाता है। कोई परिणाम नहीं आता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा का एक परिणाम है—वृत्तियों की फलदान-शक्ति को नष्ट कर देना। तब वे वृत्तियां स्वत: नष्ट हो जाती हैं। जब तक उनको पोषण और सिंचन मिलता रहता है तब तक वे पनपती रहती हैं। जब सिंचन ही बन्द हो जाता है तब उनका पनपना समाप्त हो जाता है। कुछ समय तक वे तरंगें जाती-आती हैं। साधक जब आगे ही बढ़ता चला जाता है तब एक दिन ऐसा आता है कि वे तरंगें समाप्त हो जाती हैं। उधर उनका आवागमन मिट जाता है। यह सब होता है तप के द्वारा।

साधक को कहा गया है कि शरीर को प्रकंपित कर दो, वृत्तियों को प्रकंपित कर दो, कर्म-शरीर को प्रकंपित कर दो। वृत्तियों के केन्द्रों को इतना हिला दो कि उनका मूल उखड़ जाए और वे अपने स्थान से च्युत हो जाएं। राग का, द्वेष का, कषाय का, कषाय से उत्पन्न होने वाले आस्रवों का और आस्रवों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का मूल उखड़ जाए।

आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा—ये चार कामनामूलक संज्ञाएं हैं। क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा और लोभ संज्ञा—ये चार मनोमूलक संज्ञाएं हैं। ये आठों समाप्त हो जाएं। उनकी आसक्ति समाप्त हो जाए। उनको उखाड़ने का, मिटाने का एकमात्र उपाय है—तपस्या, ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन, ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

एक बात पर हमें ध्यान देना है। रसनेन्द्रिय और कामकेन्द्र का गहरा संबंध है। ध्यान की प्रत्येक प्रक्रिया में यह ध्यान दिया जाता है कि वृत्तियों की चंचलता को समाप्त करने के लिए जीभ को स्थिर करना आवश्यक है। साधक ध्यान करने बैठा है। बहुत विकल्प आ रहे हैं, चंचलता है। उस समय यदि वह साधक जीभ को उलटकर तालु की ओर स्थिर कर देता है, तालु पर लगा देता है तो विचित्र प्रकार के स्पंदन प्रारम्भ हो जाते हैं और विकल्प शांत हो जाते हैं। विकल्पों को शान्त करने का यह सुन्दर प्रयोग है। जब जीभ स्थिर होती है तब वृत्तियां शान्त होने लग जाती हैं। कामकेन्द्र और रसनेन्द्रिय का बहुत बड़ा संबंध है। साधना के ग्रन्थों में रसनेन्द्रिय को जीतने पर बल दिया गया है। यह निरर्थक नहीं है, सार्थक है। कामवासना पर विजय पाना है तो पहले रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। रसनेन्द्रिय का संयम करो।

पांच इन्द्रियों में दो इन्द्रियां कठोर और अजय मानी जाती हैं। एक है स्पर्शन इन्द्रिय और दूसरी है रसन इन्द्रिय। स्पर्शन इन्द्रिय का सीधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्ध है कामकेन्द्र से और रसन इन्द्रिय का कुछ टेढ़ा सम्बन्ध है कामकेन्द्र से। रसना का संयम और काम का संयम—दोनों साथ चलते हैं। जैसे ही रसना का संयम होता है, वहां के स्पंदन जब कम होते हैं, स्पंदन जब विजित होते हैं तब कामवासना के स्पंदन भी कम होने लग जाते हैं।

जैसे ही जीभ का संयम किया, आध्यात्मिक स्पंदन शुरू हो जाते हैं। ये स्पंदन हमारी पकड़ में भी आते हैं। साधना करने वाले साधक को यह स्पष्ट अनुभव होगा कि ये स्पंदन इतने सुखद होते हैं कि वे कामकेन्द्रों के स्पंदनों को भी पराभूत कर डालते हैं।

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा में रसनेन्द्रिय बहुत बाधक होती है। जब हम इसकी ऊर्जा को वहां से हटा लेते हैं और उसे स्थिर कर देते हैं तब वह बाधा समाप्त हो जाती है। रसलोलुपता नीललेश्या का परिणाम है। यह परिणाम समाप्त हो जाता है। ऐसा होने पर ही धर्मलेश्याएं पूर्ण जागृत हो जाती हैं। ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, प्राण की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियों की निर्मलता, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति—ये सब घटित होती हैं। सारी स्थिति ही बदल जाती है—रूपान्तरण घटित होने लगता है। यह सब तपस्या का फल है।

तपस्या के द्वारा तीन बातें फलित होती हैं—

१. ऊर्जा का अधिक संचय।

२. ऊर्जा का अल्प व्यय।

३. ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

यह घटित होने पर ज्योतिपुंज के साथ साधक का संपर्क स्थापित हो जाता है। वह रश्मि जो 'मैं हूं'—इतनी-सी प्रतीत होती थी वह ज्योतिपुंज में मिल जाती है और तब 'मैं हूं' बदल जाता है और केवल 'है' शेष रह जाता है। 'मैं' की बात समाप्त हो जाती है। जो रश्मियां बिखरी पड़ी थीं, जो एक जालीदार ढक्कन से छन-छनकर बाहर फैल रही थीं, वे सारी रश्मियां सिमटकर ज्योतिपुंज में लीन हो जाती हैं। उस समय ज्योतिपुंज के साक्षात्कार का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। वहां कौन ज्योतिपुंज और कौन मैं—यह भेद मिट जाता है। सब कुछ ज्योतिर्मय बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ७

संकलिका

- लोय च फास विप्फंदमाणं (आयारो, ४।३७)
- जे पज्जवजातसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।
- जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजातसत्थस्स खेयण्णे ॥ (आयारो, ३।१७)
  - देख, यह लोक चारों ओर से प्रकंपित हो रहा है ।
  - जो विषयों के विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अन्तस् को जानता है, वह अनासक्ति के अन्तस् को जानता है । जो अनासक्ति के अन्तस् को जानता है, वह विषयों के विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अन्तस् को जानता है ।
- द्रव्य परिणामिनित्य होता है ।
- दो प्रकार के स्पंदन होते हैं—
  - स्वाभाविक स्पंदन—आत्मा में चैतन्य के स्पंदन ।
  - निमित्तज स्पंदन—कर्म या सूक्ष्म शरीर के स्पंदन । प्राण या तैजस के स्पंदन ।
- चैतन्य के स्पंदन सूक्ष्मतम । ० कर्म के स्पंदन सूक्ष्मतर । प्राण के स्पंदन सूक्ष्म । ० स्थूल शरीर के स्पंदन स्थूल ।
- मूर्च्छा या मोह के स्पंदन सबसे अधिक होते हैं ।
- श्वास के स्पंदन से ऊर्जा उत्पन्न होती है : घार्षणिक विद्युत् तथा मस्तिष्क में धारावाही विद्युत् ।
- जब तक जीवनी शक्ति के स्पंदन हैं तब तक प्राणी जीता है ।
- वासना का प्रतिपक्षी संवेदन—
  - ऋण और धन विद्युत् का योग ।
  - प्राण और अपान का योग ।

  जीभ की ऋण और तालु की धन विद्युत् का योग ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- आध्यात्मिक सुख का अनुभव कराने वाले स्पंदन—
  - मंत्री जप, भक्ति और श्रद्धा के द्वारा, ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा के द्वारा, परम वैराग्य के द्वारा, नासाग्र पर अनिमेष प्रेक्षा के द्वारा वे स्पंदन होते हैं। यही तैजस (कुण्डलिनी) का जागरण है।
- मज्जा—यही 'ग्रे मैटर' है। यही अवचेतन मन का स्तर है। यही बिन्दु है। सूक्ष्म शरीर का इससे सम्बन्ध है।
- प्राणधारा का सुषुम्ना में प्रवेश होने पर सुख ही सुख, मन शान्त, आध्यात्मिक स्पंदन प्रारम्भ। यही आत्म-रमण या आत्म-रति है।
- सुख-दुःख क्या है? स्पंदन और मन या चेतना का योग ही सुख-दुःख है।
- मोह के स्पंदन—
  - आवेग, भय, शोक, घृणा, वासना और विषाद।
  - ये प्रतिपक्षी संवेदनों से निरस्त हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक सुख

द्रव्य परिणामिनित्य होता है। यदि वह नित्य ही हो तो हमें कुछ करने की जरूरत ही नहीं होती। उसमें परिवर्तन तभी होता है जब कि परिवर्तनशीलता है। कुछ उत्पन्न होता है और कुछ नष्ट होता है। आत्मा भी परिणामिनित्य है। उसमें दो प्रकार के स्पंदन होते हैं। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के स्पंदन होते हैं। एक है स्वाभाविक स्पंदन और दूसरा है निमित्तज स्पंदन। चैतन्य का स्पंदन स्वाभाविक होता है। यह निरंतर होता रहता है। दूसरा स्पंदन निमित्तों से उत्पन्न होता है। निमित्त अनेक हैं। एक निमित्त है—कर्म। कर्म से स्पंदन उत्पन्न होते हैं। दूसरा निमित्त है—प्राण। प्राण से स्पंदन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हमारा अस्तित्व तीन प्रकार के स्पंदनों से घिरा हुआ है—चैतन्य का स्पंदन, कर्म का स्पंदन और प्राण का स्पंदन। स्पंदनों का समुद्र तरंगित है। ऊर्मियां ही ऊर्मियां। एक स्थिर अंश, पर वह भी पूरा अस्थिर। एक नित्य अंश, पर वह भी पूरा अनित्य। इतना परिणमन है कि चारों ओर स्पंदन ही स्पंदन दिखाई दे रहा है। उस स्पंदन में अस्पंदित अंश को खोज पाना भी सरल नहीं है।

चैतन्य के स्पंदन सूक्ष्मतम स्पंदन हैं। कर्म के स्पंदन या सूक्ष्म शरीर के स्पंदन सूक्ष्मतर हैं। प्राण के स्पंदन सूक्ष्म हैं। स्थूल शरीर के संवेदन स्थूल हैं। हम सबसे पहले इन स्थूल स्पंदनों को ही पकड़ते हैं। इनका ही हमें अनुभव होता है। इनको ही हम सुख या दुःख मानकर चलते हैं। स्थूल शरीर में होने वाले स्थूल स्पंदन ही हमारे लिए सुख-दुःख बने हुए हैं। उनसे परे जाकर सुख की कल्पना करना हमारे लिए सत्य भी नहीं है, संभव भी नहीं है। जब तक व्यक्ति चेतना के स्थूल स्तर पर जीता है तब तक यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इसके परे भी कोई सुख हो सकता है।

श्वास के स्पंदन होते हैं। उनसे विद्युत् उत्पन्न होती है। जीवनीशक्ति के स्पंदन होते हैं, हम जीवित रहते हैं। हमारे जीवन की नियामक प्राणशक्ति है—आयुष्यप्राण। उसके भी स्पंदन होते हैं। जब तक ये स्पंदन होते रहते हैं तब तक सारे प्राणों के स्पंदन होते हैं। पांच इन्द्रियों के स्पंदन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। मन के स्पंदन और वाणी के स्पंदन होते हैं। काया—शरीर के भी स्पंदन होते हैं। इस प्रकार प्राण दस हैं। सबके अपने स्पंदन हो रहे हैं। इन्हीं के आधार पर हमारे जीवन का यह ढांचा चल रहा है।

आठ प्रकार के कर्म हैं। आठ प्रकार के स्पंदन हैं। उनमें मोह के स्पंदन सबसे अधिक हैं। आवेग, उत्तेजना, भय, शोक, विषाद, घृणा, विकार, काम-वासना—ये सारे मूर्च्छा के स्पंदन हैं, मोह के स्पंदन हैं। ये निरंतर होते रहते हैं। ये कभी विराम नहीं लेते। ये अपने-आप कभी रुकते भी नहीं। इनके आधार पर कभी सुख का अनुभव होता है, कभी दुःख का अनुभवहोता है। इनमें कुछ स्पंदन ऐसे होते हैं जो सुख का अनुभवकराते हैं और कुछ स्पंदन ऐसे होते हैं जो दुःख का अनुभव कराते हैं।

सुख-दुःख क्या है ? इसे समझना होगा। स्पंदनों के साथ मन का योग सुख है और स्पंदनों के साथ मन का योग ही दुःख है। स्पंदनों के साथ यदि मन का योग नहीं होता है तो न सुख का अनुभव होता है और न दुःख का अनुभव होता है। प्रिय स्पंदनों के साथ मन का योग होता है तो सुख और अप्रिय स्पंदनों के साथ मन का योग होता है तो दुःख। सुख-दुःख की जो कल्पना है वह मन के योग के साथ होती है। मन को न जोड़ें। स्पंदन होते रहें, कोई बात नहीं है। न सुख होगा और न दुःख।

स्पंदन निमित्तज हैं। प्राण के स्पंदन निमित्त से उत्पन्न होते हैं और कर्म के स्पंदन भी विपाक में निमित्त से ही आते हैं। स्पंदन के निमित्त अनेक हैं। उनमें एक निमित्त है—चिंतन। चिंतन करते हैं, स्पंदन प्रारंभ हो जाते हैं। स्मृति होती है, स्पंदन होने लग जाते हैं। एक घटना है। चार आदमी बुढ़िया के घर आए। बुढ़िया ने उन्हें छाछ पिलाई। चारों चले गए। बुढ़िया ने देखा कि छाछ के बर्तन में सर्प मरा पड़ा है। बुढ़िया ने सोचा—बेचारे चारों मर गए होंगे। कुछ वर्ष बीते। वे चारों पथिक पुनः उसी बुढ़िया के यहां ठहरे। बुढ़िया ने उन्हें आश्चर्य से देखा। पूछने पर बुढ़िया ने घटित घटना बता दी। चारों के स्मृति-कोष्ठ जाग गए। उनकी आंखों के सामने जहर मिली छाछ के पान का दृश्य उपस्थित हुआ और वे चारों उसी क्षण मर गए। उनको विष ने नहीं मारा, किन्तु विष की स्मृति ने मार डाला। वे सचमुच मर गए।

चिंतन से, स्मृति से, कल्पना से स्पंदन पैदा होते हैं। इनसे सुखद स्पंदन भी पैदा होते हैं और दुःखद स्पंदन भी पैदा होते हैं। भक्ति और जप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मार्ग जो विकसित हुआ उसके पीछे भी स्पंदनों का ही सिद्धांत काम करता है। कहा जाता है—अमुक प्रकार की ध्वनि करो, अमुक प्रकार के स्पंदन पैदा करो। उच्चारण सहित जप करो, मंद जप करो, मौन जप करो, मानसिक जप करो और सूक्ष्म में जाकर प्राण का जप करो। यह स्पंदनों के उत्पादन का ही सिद्धांत है। मंत्र का सिद्धांत भी ध्वनि का सिद्धांत है, स्पंदनों का सिद्धांत है। मंत्र की रचना करने वाले जानते थे कि किस प्रकार की ध्वनि से किस प्रकार के स्पंदन पैदा होते हैं और उनका क्या प्रभाव होता है। ध्वनियों के विविध स्पंदनों के आधार पर ही समूचा मंत्र-शास्त्र विकसित हुआ। सैकड़ों ग्रंथ मंत्र-शास्त्र पर लिखे गए। ऐसी कोई भी व्याधि, चाहे फिर वह शारीरिक हो या मानसिक, नहीं है, जिसके उपशमन के लिए कोई न कोई मंत्र निर्दिष्ट न किया हो। मंत्र के द्वारा चिकित्सा की जाती है। मंत्र के द्वारा शक्ति का विकास किया जाता है। मंत्र के द्वारा धन की प्राप्ति की जाती है। मंत्र के द्वारा अनिष्ट का निवारण किया जाता है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ—सबमें मंत्र का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि स्पंदन पैदा करती है और वे नाना प्रकार के स्पंदन नाना प्रकार की अवस्थाएं पैदा करते हैं।

अनुभव भी स्पंदन पैदा करते हैं। हम किसी अनुभव में जाते हैं। एक विशिष्ट प्रकार के स्पंदन प्रारंभ हो जाते हैं।

ध्यान भी स्पंदन पैदा करता है।

जितने आस्रव, उतने ही संवर। जितने बंध के प्रकार उतने ही मोक्ष के प्रकार। जितनी बीमारियां उतनी ही औषधियां। इसी प्रकार स्पंदन की उत्पत्ति के भी अनेक निमित्त हैं। जितने निमित्त, उतने ही प्रकार के स्पंदन। इसीलिए भक्तिमार्ग भी चल रहा है; श्रद्धामार्ग भी चल रहा है; ज्ञान और क्रियामार्ग भी चल रहा है। किसी भी मार्ग पर चलें। अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदन पैदा करें और अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदनों को रोक दें, काम बन जाएगा।

अध्यात्म के क्षेत्र में जब स्पंदनों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया तो अनेक स्थापनाएं हुईं। एक स्थापना हुई—प्रतिपक्ष भावना की। स्पंदन पैदा करने का और सूक्ष्म स्तर तक पहुंचने का एक मार्ग है—भावना। भावना का अर्थ है—वैसा हो जाना, ध्येय के अनुरूप हो जाना। प्रतिपक्ष स्पंदनों से बहुत सारी बातें घटित हो जाती हैं। क्रोध का प्रतिपक्षी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशम। क्रोध है तो उपशम के स्पंदन पैदा करो। मान का प्रतिपक्षी है—मृदुता। मान है तो मृदुता के स्पंदन पैदा करो। माया का प्रतिपक्षी है—ऋजुता। माया है तो ऋजुता के स्पंदन पैदा करो। लोभ का प्रतिपक्षी—है संतोष। लोभ है तो संतोष के स्पंदन पैदा करो। यह उपदेश नहीं, सत्य का प्रतिपादन है। इस 'प्रतिपक्ष' संवेदन के द्वारा 'पक्ष' के संवेदनों को नष्ट किया जा सकता है।

किसी को मोह हो रहा है, शोक हो रहा है, विषाद हो रहा है, एकत्व की अनुप्रेक्षा करो, एकत्व के स्पंदन पैदा करो, मोह के स्पंदन समाप्त हो जाएंगे।

एक स्त्री थी। उसका नाम था 'अतुंकारीभट्टा'। उसमें क्रोध के इतने स्पंदन होते कि सर्पिणी से भी वह अधिक फुफकारती। उसने उपशम की बात को समझा। उसका क्रोध शांत हो गया। क्रोध का प्रतिपक्ष है उपशम। उपशम के स्पंदन क्रोध के स्पंदनों को नष्ट कर देते हैं।

एक जिज्ञासा हो सकती है कि प्रतिपक्ष की भावना से 'पक्ष' के स्पंदन नष्ट हो जाते हैं तब हम खाने का कष्ट ही क्यों करें? जब भूख के स्पंदन होने लगें तब हम भोजन के स्पंदनों का अनुभव करें, भूख शांत हो जाएगी। क्या ऐसा हो सकता है? इसे हमें समझना है। प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग जीव-विपाकी स्थितियों में ही किया जा सकता है। कुछ स्पंदन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव केवल पुद्गल पर ही होता है, हमारे शरीर पर ही होता है। कुछ स्पंदन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव चैतन्य पर भी होता है। मूर्च्छा के या मोह के जितने स्पंदन हैं—ये सारे जीव-विपाकी हैं। इनका प्रभाव हमारे चैतन्य पर होता है। शुभ-अशुभ वेदनीय का प्रभाव पुद्गलों पर होता है। भूख को प्रतिसंवेदी स्पंदनों के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। किन्तु मूर्च्छा के स्पंदनों को प्रतिसंवेदी स्पंदनों के द्वारा मिटाया जा सकता है।

प्रतिपक्षी स्पंदनों को उत्पन्न करने की बात अध्यात्मशास्त्र में विकसित हुई जो भी स्पंदन हों, उन्हें देखो-जानो। विपाक-विचय करो। देखो-जानो। तत्काल प्रतिपक्षी स्पंदन शुरू करो। विषाद, घृणा शोक, क्रोध—ये सारे समाप्त हो जाएंगे।

किसी में वासना के स्पंदन, काम के स्पंदन होते हैं। काम के स्पंदनों को समाप्त करने के लिए प्रतिपक्षी स्पंदन पैदा करने हैं। एक हैं 'पररसी' स्पंदन और एक हैं 'आत्मरसी' स्पंदन। एक है—विषय-रमण और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक है—आत्म-रमण। हमारी ऊर्जा, विद्युत्शक्ति, प्राणशक्ति जो मस्तिष्क में होती है वह जब नीचे की ओर प्रवाहित होती है तो काम के स्पंदन होते हैं। वे स्पंदन सुख की अनुभूति कराते हैं। सुख का अनुभव स्पंदनों में है, किसी वस्तु में नहीं। ये स्पंदन अन्य उपकरणों के द्वारा भी पैदा किए जा सकते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं आएगा।

कामकेंद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा से काम के स्पंदन पैदा होते हैं। उनसे सुख की अनुभूति होती है। मनुष्य सुख मानता है। अब उन स्पंदनों के प्रतिपक्षी स्पंदन पैदा करने के लिए हमें उल्टा चलना पड़ेगा। हमें प्रतिसंलीनता करनी पड़ेगी। मस्तिष्क की धन-विद्युत् है, पोजिटिव विद्युत् है, और कामकेंद्र की ऋण विद्युत् है, नेगेटिव विद्युत है। सहस्रार चक्र में जब प्राण-धारा का प्रवाह चलेगा तब आत्मरसी स्पंदन पैदा होंगे। उन स्पंदनों से जो सुख की अनुभूति होगी वह अपूर्ण होगी। इसकी तुलना में कामकेंद्र के स्पंदनों से होने वाली सुख की अनुभूति नगण्य है। जो व्यक्ति उस अनुभूति तक पहुंच जाता है, वह वहां से नीचे उतरना नहीं चाहता। घटों तक सुख की अनुभूति में लीन रहता है। वहां से हटने के बाद भी विषाद नहीं होता। उसे उल्टा अधिक आनन्द, अधिक उल्लास और अधिक शक्ति का अनुभव होता है।

एक प्रश्न है—सुख क्या है ? ऋण विद्युत् का धन विद्युत् के साथ जो योग है, वह सुख है। यह सामान्य सुख नहीं, आध्यात्मिक सुख है। कामकेंद्र की निषेधात्म शक्ति है। उसका योग जब विधायक शक्ति के साथ होता है तब अध्यात्म सुख उत्पन्न होता है। तब विचित्र प्रकार के स्पंदन पैदा होते हैं।

हमारे चैतन्य का, ज्ञान का केन्द्र है नाड़ी-संस्थान। यह समूचे शरीर में परिव्याप्त है। किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केंद्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। यही चित्त का स्थान है। यही मन का और इंद्रियों का स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन, ज्ञान - सारे यहीं से प्रसारित होते हैं। शक्ति का भी यही स्थान है। ज्ञान-वाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केंद्र स्थान है। मनुष्य ऊर्जा को अधो-गामी करना ही जानता है, ऊर्ध्वगामी करना नहीं जानता। केवल दिशा का ही परिवर्तन हुआ कि जो शक्ति नीचे की ओर जाती थी वह ऊपर की ओर जाने लगती है। इतना-सा ही अन्तर पड़ता है। मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् में प्रवेश करना है। कामकेंद्र की ऊर्जा का ऊपर जाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म जगत् में प्रवेश करना है। ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है। यह केवल विद्युत् का परिवर्तन है। इसे कहा गया—अन्तर्मैथुन, आत्म-रित आत्मरमण। आत्मरमण की बात व्यर्थ नहीं है। प्रश्न होता है कि आत्मा अमूर्त है, दृश्य नहीं है, फिर आत्म-रमण कैसे? प्रश्न ठीक है। इसके समाधान में कहा गया कि आत्म-रमण का केंद्र हमारे पास विद्यमान् है। इसमें हम रमण कर सकते हैं।

शरीर में सात धातुएं हैं। सातवां धातु है—शुक्र, वीर्य। कहा गया है—**'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्'**—बिन्दु के पात से मरण होता है और बिन्दु के धारण से जीवन प्राप्त होता है। बिन्दु क्या है—इसे ठीक समझना है। मस्तिष्क में, जो प्राण ऊर्जा है, यह जो ग्रे मैटर (Grey matter) है, यह जो धूसर हिस्सा है, यही है बिन्दु, यही है वीर्य। **'सहस्रा-रोपरि बिन्दुः'**—सहस्रार के ऊपर बिन्दु की अवस्थिति है। उस बिन्दु के साथ जब शक्ति का मिलन होता है तब आत्म-रति पैदा होती है।

बिन्दु के पात से मरण और बिन्दु के रक्षण से जीवन—यह बात बिल्कुल ठीक है। जब प्राण की ऊर्जा नीचे जाती है तब मनुष्य मरता है और जब प्राण की ऊर्जा ऊपर जाती है तब मनुष्य जीता है, अमर हो जाता है। वह आत्मा को प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा के आरोहण का मार्ग है; अध्यात्म के विकास का मार्ग है। जब तक मनुष्य की चेतना नाभि के नीचे के केन्द्रों के आसपास ही उलझी रहती है तब तक आरोहण नहीं होता। गुण-स्थानों के क्रमारोहण की बात भी यही है। जब ऊर्जा का निम्नगामी प्रवाह होता है तब मनुष्य पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान में ही रहता है। जब चौथा गुणस्थान आता है तो विवेक की प्रज्ञा जागती है और ऊर्जा नाभि के आस-पास आती है। फिर क्रमशः आरोहण होता है। साधक ऊपर उठता है। वह सुषुम्ना के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुंचता है और धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह मार्ग छोटा है। यात्रा भी छोटी है। परंतु है बहुत ही महत्त्वपूर्ण। इसमें खपना पड़ता है। सुषुम्ना से चलना और सहस्रार तक पहुंचना—इतना-सा करना है। रास्ता छोटा है। केवल चढ़ाई ही चढ़ाई है। आरोहण ही आरोहण है।

इस आरोहण में श्रद्धा का होना अत्यंत आवश्यक है। हम श्रद्धा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझें। श्रद्धा क्या है ? जब चेतना सहस्रार केंद्र में जाती है, उसमें लीन हो जाती है, उस चेतना का नाम है—श्रद्धा। श्रद्धा तीव्र लालसा है, तीव्र प्यास है। इतनी तीव्र प्यास कि वह समुद्र के समूचे पानी को पी लेने पर भी नहीं बुझती। इस गहरी प्यास का नाम है श्रद्धा। यह अवचेतन मन के स्तर पर होती है।

उपासक के लिए एक विशेषण आता है—'अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते'। उपासक या श्रावक वह होता है जिसकी अस्थि-अस्थि और मज्जा-मज्जा में धर्म का अनुराग प्रविष्ट हो जाता है। अस्थि और मज्जा में धर्म का अनुराग कैसे प्रविष्ट होता है—यह एक प्रश्न है। क्या अस्थि और मज्जा के साथ श्रद्धा और भावना का कोई संबंध है ? अस्थि का एक अर्थ है—हड्डी और दूसरा अर्थ है—पृष्ठरज्जु। मज्जा का अर्थ भी मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु का वह धूसर भाग है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्रद्धा या भावना का वहां तक पहुंचना ही धर्म के अनुराग का अस्थि-मज्जा में प्रवेश करना है। यहां तक श्रद्धा के पहुंच जाने पर वह दृढ़ हो जाती है। वही फलवती होती है।

जब तक श्रद्धा अवचेतन मन तक नहीं पहुंचती, उसका कोई परिणाम नहीं होता। आज व्यक्ति एक दिशा में श्रद्धा करता है, एक ओर आकर्षण करता है और दूसरे दिन उसकी श्रद्धा का प्रवाह किसी दूसरी ओर जाता है तो वह श्रद्धा नहीं है। इसे ही यदि श्रद्धा मान लिया जाए तो इससे बढ़कर और झूठ क्या हो सकता है ?

एक व्यक्ति एक स्त्री के प्रति मोहित हो गया। उसने उसे कुछ वशीकरण प्रयोग सिखा दिया। वह स्त्री उसके प्रति अनुरक्त हो गयी। अब उस व्यक्ति के सिवा कोई दूसरा व्यक्ति दीखता ही नहीं था। वह उसके प्रति पागल हो गयी। घरवाले चिन्तित हुए। एक मंत्रविद् को बुलाया। उसने घरवालों से कहा—"इसका अनुराग अस्थिमज्जा तक पहुंच गया है। जब तक उसका परिशोधन नहीं होगा तब तक वह व्यक्ति ही इसे दीखता रहेगा। वह इसके मन से हटेगा नहीं।" मंत्रविद् ने उस स्तर तक परिशोधन किया। अस्थि-मज्जा से उस अनुराग को निकाला और वह स्त्री पूर्ण स्वस्थ हो गयी।

जो बात अस्थि-मज्जा तक पहुंच जाती है, फिर वह विस्मृत नहीं हो सकती। सुषुम्ना और सहस्रार—ये दो शक्तिशाली केन्द्र हैं। अनुभवी साधकों ने इन्हें बहुत ही महत्त्व दिया है। जब यह श्रद्धा पैदा हो जाती है कि आध्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्मिक सुख ही बड़ा सुख है और यह उस अवचेतन मन के स्तर पर पहुंच जाती है तब अध्यात्म के स्पंदनों का, चैतन्य के स्पंदनों का, धनात्मक विद्युत् या प्राण ऊर्जा के स्पंदनों का अनुभव होने लगता है। श्रद्धा स्थिर होती है, गति बदल जाती है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—"धर्म की श्रद्धा से क्या होता है? उसका परिणाम क्या होता है?" भगवान् ने कहा—"धर्म-श्रद्धा से अनौत्सुक्य पैदा होता है। उत्सुकता समाप्त हो जाती है।" जिन स्पंदनों के प्रति, पौद्गलिक स्पंदनों के प्रति उत्सुकता थी, वह धर्म की श्रद्धा जागने से मिट जाती है। सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। उत्सुकता समाप्त होते ही अध्यात्म के स्पंदनों का अनुभव होने लग जाता है। अध्यात्म के स्पंदनों का अनुभव करने का एक उपाय है कामकेन्द्र की ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाना। संकल्प करें और अपान देश के स्नायुओं को ऊपर की ओर उठाएं। यदि यह प्रयोग १५-२० मिनट या आधा घंटा तक चलता है तो आध्यात्मिक सुख के स्पंदन प्रारंभ हो जाते हैं।

जीभ की विद्युत् है—ऋणात्मक और सिर की विद्युत् है—धनात्मक। जीभ को तालु से लगाएं। अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। आत्मरती जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् का योग और भावना का प्रयोग—ये आध्यात्मिक स्पंदन पैदा करते हैं। जैसे-जैसे ये स्पंदन गहरे होते जाते हैं, वैसे-वैसे पौद्गलिक स्पंदन छूटते जाते हैं। ऐसा लगने लगता है कि मानो लोह छूट रहा है और स्वर्ण मिल रहा है, झोंपड़ी छूट रही है और प्रासाद मिल रहा है।

यह विषय तर्क का नहीं है, अनुभव का है। तर्क के द्वारा यहां तक नहीं पहुंचा जा सकता। चाहे बृहस्पति भी आ जाएं, वे भी अपनी प्रखर प्रज्ञा से इस तथ्य को समझा दें, फिर भी श्रोता बिना अभ्यास के वहां तक नहीं पहुंच सकता। यह अनुभव का मार्ग है। अभ्यास करते जाओ, वहां तक पहुंच जाओगे। अभ्यास-काल में अनेक अवरोध आ सकते हैं, रुकना भी पड़ता है, पीछे भी हटना होता है, फिर भी यही एकमात्र मार्ग है अध्यात्म के सुख के अनुभव का।

समूचे विश्व के पौद्गलिक सुखों को हम राशीकृत कर लें फिर भी वे शुद्ध चैतन्य के स्पंदनों से उत्पन्न सुख की तुलना में नगण्य हैं। अध्यात्म के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखों की बात सुनने में अच्छी लग सकती है और साथ ही साथ चित्त में संशय भी पैदा कर सकती है, उत्साह को उत्पन्न भी कर सकती है और नाना प्रकार के विकल्पों को उभार भी सकती है। ये सारी स्थितियां हैं। ये होती हैं। भाषा के माध्यम से कहने वाला, चाहे फिर वह केवली हो या तीर्थंकर या सामान्य साधक, दोनों स्थितियों से बचा नहीं सकता। सुनने वाले कुछ लोगों का मन प्रेरणा से भरेगा तो कुछ लोगों का मन संशय से व्याप्त होगा। दोनों बातें हो सकती हैं। प्रेरणा पाकर चलने वाले का भी एक ही मार्ग है—अनुभव का और संशय को मिटाने का भी एक ही मार्ग है—अनुभव का। इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं है। साधना का एकमात्र प्रयोजन यही है कि वे स्पंदन पकड़ में आ जाएं, रास्ता खुल जाए और यह स्पष्ट अवभाषित हो कि ऐसा भी सुख है जिसका बाहर से कोई नाता नहीं है।

जो अध्यात्म के स्पंदनों को जानता है वह भीतर के स्पंदनों को जानता है और जो बाहर के स्पंदनों को जानता है वह भीतर से स्पंदनों को जानता है। दोनों को जानकर ही वह भीतर के स्पंदनों के प्रति अनुरक्त हो जाता है। वह साक्षात् कर लेता है कि ये स्पंदन अधिक सुखद, अधिक निरपवाद, अधिक लाभदायी और अधिक आनन्दमय हैं। वह उसी ओर चल पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ८

संकलिका

- आयकदंसी न करेई पावं [आयारो, ३।३३]
- समत्तदंसी न करेई पावं [आयारो, ३।२८]
- जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे ।
  जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी । [आयारो, २।१७३[
  - ० जो हिंसा आदि में आतंक देखता है, वह पाप नहीं करता ।
  - ० जो समत्वदर्शी है, वह पाप नहीं करता ।
  - ० जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य में रमण करता है ।
    जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है ।
- खोज अपने से ही प्रारम्भ करें, जीवन से ही प्रारम्भ करें ।
- श्वास से जी रहे हैं, शरीर में जी रहे हैं, मन और चित्त से यात्रा चल रही है, चैतन्य से प्रकाश मिल रहा है ।
- बंद, खुली या अधमुंदी आंखों से देखें—नासाग्र पर, वस्तु पर—स्पंदन ।
- उपलब्ध होंगे—
  - ० प्रज्ञा, ० द्रष्टाभाव, ० साक्षित्व, ० साम्य, ० माध्यस्थ ।
- क्या देखें ?—
  - ० क्रोधदर्शी—क्रोध को देखें ।
  - ० आतंकदर्शी—विपाक को देखें ।
  - ० समत्वदर्शी—साम्य को देखें ।
  - ० अनन्यदर्शी—केवल आत्मा को देखें ।
  - ० परमदर्शी—केवल परम को देखें ।
  - ० नैष्कर्म्यदर्शी—अकर्म को देखें ।
  - ० लोकदर्शी—शरीर को देखें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य की खोज

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है—**'सच्चव्वतं उवसपज्जामि'**—सत्य का व्रत स्वीकार करता हूं। ध्यान का सारा प्रयोजन है—सत्य की खोज। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता वह सत्य की खोज की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। हमारे चारों ओर इतने सत्य हैं, इतने सूक्ष्म सत्य हैं, जिन्हें स्थूलदृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उन्हें स्थूल मन से भी नहीं पकड़ा जा सकता। वे स्थूल चेतना के विषय नहीं बनते। उन्हें जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, सूक्ष्म मन की आवश्यकता है और सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता है। ध्यान के बिना दृष्टि को सूक्ष्म नहीं किया जा सकता, मन को पटु और सूक्ष्म नहीं बनाया जा सकता। ध्यान के बिना चेतना भी सूक्ष्म नहीं बन सकती। चेतना पर राग-द्वेष और मल के आवरण जमे हुए हैं। वे जब तक नहीं टूटते तब तक चेतना में सूक्ष्मता नहीं आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारम्भ करता है। वह सत्य को बाहर नहीं खोजता, अपने में ही खोजता है।

हम सबसे पहले श्वास की प्रेक्षा करते हैं, श्वास को देखते हैं। हमारे जीवन का पहला तत्त्व है—श्वास। हम श्वास से जी रहे हैं इसलिए सबसे पहले हमारी सत्य की खोज श्वास से ही प्रारम्भ हो रही है। हम शरीर में जी रहे हैं, इसलिए हमारी सत्य की खोज का दूसरा विषय बनता है शरीर, शरीर-प्रेक्षा। हमारी जीवन-यात्रा मन से चलती है, विचार से चलती है, विकल्प से चलती है, चिन्तन से चलती है। हम विचार की प्रेक्षा करते हैं, मन की प्रेक्षा करते हैं, विकल्पों की प्रेक्षा करते हैं, चिन्तन की प्रेक्षा करते हैं।

हमारे अस्तित्व के मूल में है—चैतन्य। यह सब चैतन्य के द्वारा चलता है। चैतन्य के द्वारा मन चलता है, शरीर चलता है और श्वास चलता है। सबके मूल में है—चैतन्य। इसलिए हम चैतन्य की प्रेक्षा करते हैं। हमारे सत्य की खोज के आयाम आगे से आगे बढ़ते जाते हैं। वे मुख्य रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से चार हैं। पहला आयाम है—श्वास। दूसरा आयाम है—शरीर। तीसरा आयाम है—मन, चित्त, बुद्धि। चौथा आयाम है—शुद्ध चैतन्य, आत्मा। ये सारे के सारे आयाम सत्य की खोज के आयाम हैं। सत्य को खोजते जाएं।

प्रश्न होता है कि श्वास ऐसा कौन-सा बड़ा सत्य है जिनके लिए हम खोज प्रारंभ करें। श्वास बड़ा सत्य है। श्वास भीतर जाता है। उसके साथ अनेक द्रव्य भीतर जाते हैं। प्राणतत्त्व भी भीतर जाता है। जिस किसी ने प्राण की साधना की है, वह जानता है कि श्वास के साथ प्राण की ऊर्जा किस रूप में भीतर जाती है, उसके कितने आकार बनते हैं और वे आकार निरंतर आंख के सामने घूमते रहते हैं। आंख खुली होती है तब भी दिखाई देते हैं और आंख बंद होती है तब भी दिखाई देते हैं।

बहुत वर्षों से मन में एक प्रश्न उठता था कि ओंकार को इतना महत्त्व क्यों दिया गया? साधकों ने उसे ईश्वर का प्रतिरूप माना। यह क्यों? अनेक ग्रन्थ देखे, पढ़े। हमारे मन में एक ग्रन्थि है, वहीं तक ग्रन्थों की बात समझ में आती है। वह बात ग्रन्थि को पार कर आगे नहीं जाती। ग्रन्थों के आधार पर यह बात समझ में आयी कि ओंकार शक्तिशाली बीज-मंत्र है। इसमें अपूर्व शक्ति है। इसकी ध्वनि से अमुक-अमुक परिणाम आते हैं। यह सब कुछ जान लिया। किन्तु जो बात समझ में आनी चाहिए थी, वह ग्रन्थों में कहीं नहीं मिली। अभ्यास करते-करते वह बात स्पष्ट होती गई। अनुभव से वह प्रत्यक्ष होती गई। जब व्यक्ति प्राण की साधना में चलता है तब आकाश मंडल में व्याप्त प्राण के परमाणु आकार लेना शुरू करते हैं। वे इतने आकारों में सामने आते हैं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती। आकार बदलते रहते हैं। बदलते-बदलते जो अंतिम आकार होता है वह ओंकार की प्रतिकृति होता है। प्राणधारा का यह आकार साधक के सामने अभिव्यक्त होता है। यह मैं ग्रन्थ की बात नहीं कर रहा हूं। यह मेरे अनुभव की बात है।

ओंकार प्राणशक्ति का विशेष रूप है। जब प्राणशक्ति का पूरा विकास होता है और जब वह हमारे भीतर प्रवेश करती है तब ओंकार का रूप धारणा कर लेती है। प्राणधारा का विशेष आकार या संस्थान या संस्थान है—ओंकर। इसीलिए इसे इतना महत्त्व दिया गया है।

हमारे जीवन का समूचा क्रम, हमारी सारी प्रवृत्तियां प्राणशक्ति या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणऊर्जा के द्वारा संचालित होती हैं। यदि प्राण की ऊर्जा नहीं है तो फिर या तो मुक्त आत्मा की अवस्था होगी या फिर अचेतन पत्थर की अवस्था होगी। मुक्त आत्मा में प्राण के स्पंदन नहीं होते। उसमें केवल चैतन्य के स्पंदन मात्र होते हैं। अचेतन पत्थर में न चैतन्य के स्पंदन होते हैं और न प्राण के स्पंदन होते हैं।

बोलना, चलना, देखना, इन्द्रियों का गतिशील होना, मन का गतिशील होना, बुद्धि का क्रियाशील होना—ये सब प्राणऊर्जा के कार्य हैं। इनकी सक्रियता की पृष्ठभूमि में प्राण का प्रवाह कार्य करता है। इन्द्रियां अचेतन हैं। प्राणऊर्जा का योग पाकर वे सचेतन हो जाती हैं। मन अचेतन है। प्राणऊर्जा के प्रवाह से वह भी सचेतन हो जाता है। शरीर अचेतन है। प्राणऊर्जा के प्रवाह से वह सचेतन हो जाता है।

प्राणशक्ति का बड़ा स्रोत है—श्वास। श्वास के साथ केवल रासायनिक द्रव्य ही नहीं जाते, प्राणधारा भी जाती है, प्राणशक्ति भी जाती है। जितना गहरा श्वास लेते हैं उतनी ही अधिक प्राणशक्ति जाती है। संकल्प जितना पुष्ट होता है, प्राणशक्ति का प्रवाह भी उतना ही अधिक हो जाता है। जब हम श्वास-दर्शन करते हैं प्राणशक्ति और अधिक बढ़ जाती है। शक्ति के विकास का एक बड़ा सूत्र है—श्वास। जो चमत्कार या प्रदर्शन आज देखने में आते हैं वे सारे श्वास के स्तर पर घटित होने वाले प्रदर्शन हैं, प्राणिक प्रदर्शन हैं। श्वास के आधार पर मोटर या ट्रक को भी छाती पर से निकाला जा सकता है। श्वास का प्रयोग न हो तो सारा शरीर चरमरा जाता है। हड्डियां टूट जाती हैं। श्वास में अथाह शक्ति है। आत्मा की अनन्त शक्ति का एक अंश श्वास के द्वारा प्रदर्शित होता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, अनन्त वीर्य है, यह सच है। श्वास इसे प्रमाणित करता है।

श्वास को हम कहां देखते हैं? हम देखना जानते ही नहीं। हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, उस दुनिया में देखना, जानना जैसा कोई तत्त्व है ही नहीं। वहां केवल है—सोचना, विचारना, तर्क करना। वहां सारा का सारा बौद्धिक व्यायाम है, मन और बुद्धि का कार्य है। सोचो, विचारो, समझो। बस दुनिया समाप्त। यह है हमारी दुनिया।

श्वास का स्तर चेतना का निम्नतर स्तर है। यदि यहीं हम रुक जाते हैं तो चेतना का मूल स्तर बहुत दूर छूट जाता है। आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है। स्वतंत्र द्रव्य वह होता है जिसमें कोई विशेष गुण हो। वैसे द्रव्य द्रव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण-विशेष ही विभाजक रेखा है। वह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करता है। यदि यह विभाजक रेखा न हो तो द्रव्यों को विभाजित नहीं किया जा सकता। उनकी संख्या नहीं हो सकती। आत्मा का विशेष गुण है—चैतन्य। यह विभाजक रेखा है। यह गुण आत्मा में ही मिलता है, दूसरे द्रव्यों में नहीं। यदि यह सामान्य गुण होता, आत्मा में भी मिलता और दूसरे द्रव्यों में भी मिलता, पुद्गल में भी मिलता तो आत्मा के नाम के द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। आत्मा नाम के द्रव्य की स्वतंत्र प्रस्थापना तभी की जा सकती है जब उसमें कोई स्वतंत्र गुण हो, विशिष्ट गुण हो, विभाजक गुण हो। चैतन्य गुण आत्मा में ही है। दूसरे द्रव्य में नहीं है। इसलिए आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है।

चेतना का मूल स्वभाव है—जानना और देखना। ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव। इन्हें हम एक भी कह सकते हैं और दो भी कह सकते हैं। कोई अन्तर नहीं आता। हम जब अपने अस्तित्व में होते हैं, आत्मा की सन्निधि में होते हैं तब केवल जानना और देखना—दो ही बातें घटित होती हैं। किन्तु जब बाहर आते हैं, अपने केन्द्र से हटकर परिधि में आते हैं तब साथ में और कुछ जुड़ जाता है, मिश्रण हो जाता है। इसे पुनः शुद्ध कर पाना कठिन हो जाता है। मिश्रीकरण सरल होता है, शुद्धीकरण कठिन होता है। पुद्गलों का मिश्रण होते ही जानना, देखना छूट जाता है। राग-द्वेष की धारा मिलते ही जानना, देखना छूट जाता है। शेष रहता है—सोचना, विचारना, चिंतन करना, मनन करना। आज की दुनिया में वह आदमी बड़ा माना जाता है जो अच्छा सोच सकता है, चिंतन कर सकता है, मनन कर सकता है, सलाह दे सकता है। उस आदमी को पहचाना ही नहीं जा सकता जो केवल जानता-देखता है, जो केवल ज्ञाता-द्रष्टा है। जो अपने घर में है, जो आत्मा की सन्निधि में है, उसको कौन पूछे? इस दुनिया में जो कुछ घटित होता है वह परिधि में घटित होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि जहां सोचने-विचारने का प्रश्न आया वहां 'अत्थि सत्थं परेण परं'—एक शस्त्र को काटने के लिए दूसरा शस्त्र तैयार हुआ और दूसरे शस्त्र को निस्तेज करने के लिए तीसरा शस्त्र आया और शस्त्रों की यह परंपरा आगे से आगे चलती गई। उसे कहीं विराम ही नहीं मिला। यही सोचने पर घटित होता है। एक ने इतना सोचा तो दूसरे ने उससे आगे सोचा पहले ने जो तर्क दिए, दूसरे ने उन सबको काट डाला। नए तर्क सामने आ गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरे ने उनको भी काट डाला। तर्कवाद बढ़ता ही गया। खंडन-मंडन का कहीं अन्त ही नहीं आया। जानने-देखने की बात छूटी और सोचने-विचारने का क्रम बढ़ा। उसके साथ-साथ शत्रुता का भाव पनपा। जहां सत्य को खोजने की बात है वहां मैत्री ही होगी, शत्रुता नहीं होगी। शत्रुता तब होती है जब सत्य की खोज नहीं होती, सत्य की काट-छांट होती है। चिंतन-मनन सत्य की खोज के साधन नहीं हैं। वे सत्य को तोड़ने-मरोड़ने के साधन हैं। ये साधन जिसके पास अधिक होते हैं, वह विश्वविजेता बन जाता है। जो इन साधनों से शून्य है, वह पराजित हो जाता है।

मध्यकालीन दार्शनिक ग्रन्थों में जय-पराजय का एक चक्र मिलेगा, व्यवस्था मिलेगी। सत्य की खोज वहां दृष्टिगोचर नहीं होगी। सत्य की खोज और जय-पराजय की बात का कोई मेल नहीं है। सत्ता के प्रश्न में जय-पराजय की बात समझ में आ सकती है। भौतिक पदार्थों की छीना-झपटी में जय-पराजय की बात समझ में आ सकती है। किन्तु जहां केवल सत्य का निरूपण हो, सत्य की खोज हो, वहां कैसी जय और कैसी पराजय ? दर्शन का मूल अर्थ था—देखना। दर्शन तो छूट गया और तर्कशास्त्र दर्शन बन गया। अनुमान दर्शन बन गया। परोक्ष दर्शन बन गया। कहां प्रत्यक्ष और कहां परोक्ष ? कहां साक्षात्कार और कहां अनुमान ? इसी दर्शन ने सारे विवादों को जन्म दिया। यह बुद्धि के सहारे चलने वाला दर्शन था। बुद्धि के द्वारा प्रस्थापित किए गए विवाद कभी समाप्त नहीं हो सकते। ये विवाद तभी समाप्त हो सकते हैं जब यथार्थ दर्शन शुरू होता है। विवाद तभी समाप्त होते हैं जब अध्यात्म की चेतना जागृत होती है, जब देखना प्रारंभ होता है।

श्वास को देखना अध्यात्म की दिशा का पहला चरण है। पहला चरण मूल्यवान् होता है। सही दिशा में उठाया गया पहला कदम मंजिल तक पहुंचाने वाले असंख्य कदमों की शृंखला का एक अंश होता है। वही मंजिल का आदि कदम है। मूल्य इस बात का नहीं है कि आदमी कितना चलता है। मूल्य इस बात का होता है कि उसका चलना किस दिशा में हो रहा है। वह सही दिशा में चल रहा है या विपरीत दिशा में चल रहा है ? विपरीत दिशा भटकाती है। मंजिल तक कभी नहीं पहुंचा पाती। उसकी ओर बढ़ने वाले हजारों-लाखों कदम भी भटक जाएंगे। सही दिशा में उठाया गया एक-एक कदम मंजिल की दूरी कम करता है। एक दिन ऐसा आता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि अन्तिम कदम मंजिल को छू लेता है।

श्वास को देखना आत्म-साक्षात्कार की मंजिल तक पहुंचने का पहला कदम है। जिस सत्य की दिशा में जाना है, उसी दिशा का यह पहला चरण है। श्वास को देखने का अर्थ है—दर्शन की बात पर आ जाना। यहां सोचना छूट जाता है। केवल देखना शेष रहता है। यही दिशा है। देखना शुरू करते ही विचारों पर, विकल्पों पर प्रहार होने लग जाता है। वे बेचारे टूटने लगते हैं। विकल्पों से हट कर अविकल्प पर और चिन्तन से हटकर अचिन्तन पर कदम बढ़ने लगते हैं। यह हमारा पहला प्रस्थान होता है।

हमारे जानने और देखने की यात्रा का, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की यात्रा का पहला प्रस्थान है—श्वास-दर्शन। दूसरा प्रस्थान है—शरीर-दर्शन, शरीर-प्रेक्षा।

शरीर को देखना। यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि जिस शरीर में हम जी रहे हैं, जो हमारा सबसे निकट का मित्र है, उसे हम क्या देखें? उसके भीतर क्या देखें? ये प्रश्न तभी होते हैं जब तक हम देखना प्रारंभ नहीं करते। देखना प्रारंभ करते ही सारे प्रश्न समाहित हो जाते हैं। शरीर में बहुत कुछ है देखने को। देखते रहें। कभी पूरा नहीं होता। प्रतिदिन नए-नए अनुभव होते रहेंगे। फिर लगेगा कि शरीर में इतना है देखने को कि वह कभी पूरा ही नहीं होता। बीमारी का पता लगाने के लिए चिकित्सक भी तो शरीर के भीतर ही देखता है। जो चिकित्सक जितनी अधिक निपुणता और सूक्ष्मता से शरीर के भीतर देख पाता है, वही बीमारी का सही निदान कर सकता है। चिकित्सक नब्ज पर अपनी अंगुलियां टिकाता है। नाड़ी की धड़कन को वह पकड़ता है। अन्यान्य सूक्ष्म उपकरणों से वह शरीर में होने वाली चंचलताओं को पकड़ता है, सूक्ष्म स्पंदनों को पकड़ने का प्रयत्न करता है और फिर उन स्पंदनों के आधार पर बीमारी के मूल को पकड़कर निदान प्रस्तुत करता है। वह सारे शरीर को देख जाता है। उसे पता लग जाता है कि शरीर में क्या घटित हो रहा है। केवल चिंतन के आधार पर ऐसा नहीं हो सकता। चिकित्सक देखने की गहराई में जाकर ही सूक्ष्मतम कारणों को पकड़ पाता है। देखने की गहराई में चाहे वह उपकरणों के माध्यम से ही क्यों न जाए, यह बात दूसरी है। बिना गहराई में गए, जो पाना होता है वह नहीं पाया जाता। ध्यान के द्वारा भी गहराई में जाया जा सकता है और उपकरणों के माध्यम से भी गहराई में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाया जा सकता है। ध्यान दर्शन है, देखने की प्रक्रिया है।

एक चौकीदार था। रात को पहरा दे रहा था। एक दिन अचानक ही वह अपने मालिक के पास आकर बोला—'कल आप ट्रेन से सफर करने वाले हैं। इसे आप स्थगित कर दें। प्रवास न करें। कल प्रवास करना श्रेयस्कर नहीं है।'

मालिक बोला—'भोले हो तुम। बहुत आवश्यक कार्य है। कंपनी के सारे अधिकारी वहां एकत्रित हो रहे हैं। बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय हमें लेने हैं। मैं न जाऊं तो वे सारे निर्णय नहीं ले पाएंगे। मुझे अवश्य ही जाना होगा। सारी तैयारियां की जा चुकी हैं।'

पहरेदार ने कहा—'मैं इस महत्त्व को समझता हूं। परन्तु निषेध करने का भी एक प्रबल हेतु है। कल ही मुझे एक सपना आया था कि जिस ट्रेन में आप जायेंगे वह दुर्घटनाग्रस्त होगी। मेरे कहने से रुक जाइए।'

मालिक ने सोचा—'प्रवासकाल में इस पहरेदार ने अपशकुन कर दिया। चलो, आज रुक जाऊं।'

मालिक रुक गया।

दूसरे दिन ट्रेन दुर्घटनाग्रस्त हो गई। अनेक व्यक्ति मर गए।

मालिक ने पहरेदार को बुलाकर कहा—'तुमने मेरी जान बचाई। इसके लिए मैं तुम्हें एक हजार रुपया इनाम में देता हूं और साथ ही साथ तुम्हें नौकरी से बरखास्त करता हूं।'

पहरेदार यह सुनकर स्तब्ध रह गया। एक ओर पुरस्कार और दूसरी ओर नौकरी की समाप्ति।

मालिक ने कहा—'मैंने तुम्हें सपने लेने के लिए यहां नौकर नहीं रखा है, चौकीदारी करने के लिए रखा है।'

जागरण का सबसे बड़ा सूत्र है—देखना। प्रत्यक्ष सबसे बड़ा प्रमाण है। परोक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। सब प्रमाण प्रत्यक्ष से छोटे हैं। अनुमान प्रमाण उससे छोटा है, स्मृति प्रमाण उससे छोटा है, आगम प्रमाण उससे छोटा है। आगम भी हम उसको मानते हैं जिसने सत्य को साक्षात् देखा है और फिर कहा है। ऐसे व्यक्ति का कथन आगम बनता है। और वही हमें मान्य होता है। आगम का प्रामाण्य भी दर्शन के आधार पर है। अनुमान भी प्रमाण तब बनता है जब उसकी पृष्ठभूमि में दर्शन हो। 'दृष्टपूर्वोऽयं—यह मैंने पहले देखा है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। देखते-देखते यह बात जब पुष्ट होती है तब व्याप्ति बनती है। दर्शन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना व्याप्ति नहीं बनती। व्याप्ति प्रत्यक्षमूलक होती है, परोक्षमूलक नहीं। ज्ञान की सारी धारा प्रत्यक्ष से प्रवाहित होती है, परोक्ष से नहीं।

शरीर की प्रेक्षा। शरीर में क्या-क्या घटित हो रहा है, उसे देखें। प्रत्येक क्षण शरीर में कुछ-न-कुछ घटित होता ही है। उसे देखें। उसकी विपश्यना करें, प्रेक्षा करें। सत्य समझ में आने लगेगा। जब भीतर का सत्य स्पष्ट होगा तो बाहर का सत्य छिपा नहीं रह पाएगा।

देखने के साथ यह प्रश्न होता है कि कैसे देखें? देखने की प्रक्रिया क्या है?

प्रेक्षा तीन प्रकार से की जा सकती है—खुली आंखों से, आंखें बंद रखकर और अधखुली आंखों से।

देखने का एक स्रोत है—आंख। आंख बंद करके भी प्रेक्षा की जा सकती है। आंख बंद कर दी। भीतर के दर्शन की शक्ति को उद्घाटित कर दिया। एक स्रोत खोल दिया जो आंख से भी बड़ा है। दर्शन की शक्ति को हमने खोल दिया और देखना प्रारंभ कर दिया। आंख बंद करके भी देखा जा सकता है और बहुत गहराई तक देखा जा सकता है। जो खुली आंखों से दिखाई नहीं देता वह आंखें बंद कर देने पर प्रज्ञा से देखा जा सकता है।

खुली आंखों से भी देखा जा सकता है। यह अनिमेष प्रेक्षा है। अपलक आंखें, स्थिर आंखें। पलक नहीं झपकना है। अनिमेष प्रेक्षा से भी वस्तु के अन्तस्तल तक पहुंचा जा सकता है। अनिमेष प्रेक्षा प्रारंभ की। सामने एक चेहरा है। उसे देखना प्रारंभ किया। आधा घंटा देखते रहे। चेहरे के हजारों रूप सामने आएंगे। अंत में एक ज्योतिपुंज-सा दीखने लगेगा। प्रकाशपुंज सामने रहेगा। यह अनुभव की बात है, सुनी-सुनाई बात नहीं है।

प्रेक्षा का तीसरा प्रकार है—अधखुली आंखों से देखना। इसका केन्द्र-बिन्दु होता है—अपना ही नासाग्र। जालंधर बंध कर अपने ही नासाग्र को देखना प्रारंभ करें। आधा घंटा तक प्रयोग करने पर आपको विचित्र-सा अनुभव होगा। नासाग्र जो मात्र चमड़ी का एक टुकड़ा था, वह भी कितना प्रकाशमय, ज्योतिर्मय है—यह तभी ज्ञात होगा।

जब हम देखते हैं तब अनेक नए-नए पर्याय सामने आते हैं, नए-नए अनुभव होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आंख खोलकर देखना, आंख मूंदकर देखना, अधखुली आंख से देखना—प्रेक्षा की ये तीन पद्धतियां हैं।

देखना है वहां विचारना नहीं है और विचारना है वहां देखना नहीं है।

देखने की तीन बातें हैं—मृदु, मध्य और अधि। देखना तरल है, मृदु है तो देखने के साथ-साथ चिन्तन भी चलेगा। यदि देखना थोड़ा सघन होता है, मध्य होता है तो विचार कम आएंगे। देखना अधिक चलेगा, विचार कम चलेंगे। जब देखना 'अधि' अत्यन्त सघन हो जाएगा तब विचार समाप्त हो जाएंगे। वहां केवल देखना ही शेष रहेगा। इस अवस्था में दो साथ नहीं चल सकते। केवल एक देखना ही रहेगा।

देखना सघन होना चाहिए। विकल्पों को समाप्त करने का यही एकमात्र साधन है।

एक व्यक्ति ने कहा—'सर्दी लग रही है। ठिठुर रहा हूं।' दूसरे ने कहा—'जाओ, कपड़ा ओढ़ लो।' वह घर में गया और मलमल की चादर ओढ़ आया। आकर बोला—'कपड़ा ओढ़ लिया फिर भी ठंड लग रही है।' उसने कहा—'भले आदमी! मैंने कपड़ा ओढ़ने के लिए कहा था। इस ठिठुरन से बचने के लिए कैसा कपड़ा ओढ़ना है, यह विवेक तो तुम्हें होना ही चाहिए। मलमल से ठंड नहीं रुकती। वह रुकती है मोटे कपड़े से, ऊनी कपड़े से। जब तक मोटा कपड़ा या ऊनी कपड़ा नहीं ओढ़ा जाएगा, ठंड रुकेगी नहीं।'

यही बात देखने के विषय में है। देखना भी चल रहा है और विचार भी चल रहा है, यह नहीं होना चाहिए। देखने में केवल देखना ही चले। यह तभी संभव है जब देखना सघन हो। ठंड का रुकना तभी संभव है जब मोटा कपड़ा ओढ़ा जाए।

प्रश्न होता है कि किसे देखें? क्या देखें? अच्छा-बुरा जो भी आए उसे देखें। क्रोध आए तो उसे भी देखो। मान आए तो उसे भी देखो। वास्तव में जो क्रोध को देखता है, वही मान को देखता है। क्रोध हमारी सबसे स्थूल वृत्ति है। यह सबके समक्ष प्रत्यक्ष होती है। मान छिपा रहता है। प्रकट कम होता है क्रोध तत्काल प्रकट हो जाता है। क्रोध को देखो, मन को देखो। इसका पूरा चक्र है। देखते-देखते दुःख तक चले जाओ। दुःख को देखना प्रारंभ करो। अपायों को देखो, हेतुओं को देखो। आतंक को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखो। परिणाम को देखो। क्रोध का परिणाम है—दुःख। दुःख को देखो। सुख को भी देखो। सुख के स्पंदनों को देखो। दुःख के स्पंदनों को देखो। जो भी अच्छा या बुरा है, उसे देखो। श्वास को देखो। शरीर को देखो। समत्व को देखो। तटस्थता को देखो। अनन्यदर्शी को देखो। उसको देखो जहां दूसरा कोई नहीं हैं। चेतना के उस शुद्ध स्वभाव को देखो जहां जानने-देखने के सिवाय कुछ भी नहीं है। वही परम दर्शन है। उसके आगे कुछ भी नहीं है। देखने में यह भेदरेखा मत खींचो कि इसे देखूंगा और उसे नहीं देखूंगा। अच्छे को देखूंगा, बुरे को नहीं देखूंगा। देखने के क्षेत्र में अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं होता। ये विकल्प होते हैं—सोचने-विचारने के क्षेत्र में। जो भी आए देखते रहो। देखते-देखते वह बिन्दु आ जाएगा जहां आगे देखना शेष नहीं है। परम आ जाएगा। जहां हमारी यात्रा की सम्पन्नता होगी। अनन्य आ जाएगा। तब हम अपने शुद्ध चैतन्य के अनुभव में, ज्ञान और दर्शन की समग्रता में पहुंच जाएंगे। वहां केवल जानना-देखना ही रहेगा और सब समाप्त। यह यात्रा का अन्तिम बिन्दु है। यहां यात्रा संपन्न हो जाती है।

देखने के अभ्यास के बिना जागरण फलित नहीं होता, अप्रमाद फलित नहीं होता। अप्रमाद और जागृति हमारी बुद्धि की पटुता को बढ़ाती है, स्मृति की पटुता को बढ़ाती है, विवेक-चेतना को स्पष्ट करती है। इन सबके मूल में काम करता है देखना। इसीलिए हम सही रूप से देखने का प्रयत्न करें और साथ-साथ अनुप्रेक्षा भी करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ६

संकलिका

- **से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे ।]आयारो, ५।५०]**
  - केवल वही मुनि अपने पथ पर आरूढ़ रहता है जो विषय-लोक और हिंसा-लोक को भिन्न दृष्टि से देखता है, लोक-प्रवाह की दृष्टि से नहीं देखता ।
- अध्यात्म चेतना के जागरण का प्रयत्न गुरुतर दायित्व ।
- अध्यात्म चेतना नहीं जागती तब सब दोष दूसरों पर ।
  उसके जागने पर सारा दायित्व अपने पर ।
- अध्यात्म की साधना से प्रज्ञा जागती है ।
  प्रज्ञा जागती है तब भ्रान्तियां टूटती हैं, सत्य उपलब्ध होता है ।
  - सुख-दुःख का दायित्व स्वयं पर है ।
  - सुख भीतर भी है और वह अधिक महत्त्वपूर्ण है ।
  - शान्ति भीतर भी है ।
  - स्वास्थ्य भीतर भी है ।
  - दीर्घायु की कुंजी अपने हाथ में है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दायित्व का बोध

जो व्यक्ति अध्यात्म की चेतना में प्रवेश करता है, अध्यात्म की चेतना के जागरण का प्रयास करता है, वह अपने पर बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व ले लेता है। इतना बड़ा दायित्व कि दुनिया में कोई भी व्यक्ति उतना बड़ा दायित्व नहीं उठाता। एक पूरे साम्राज्य को चलाने वाले सम्राट् पर भी उतना दायित्व नहीं होता जितना बड़ा दायित्व होता है उस साधक पर जो चेतना के जागरण में लगा हुआ है। यह कैसे? एकान्त में, एक कोने में बैठकर अपने भीतर झांकने वाला, अपने-आपकी साधना करने वाला बड़ा दायित्व कैसे लेता है? यह तर्क-संगत नहीं, किन्तु विरोधी बात है।

साधना का मार्ग तर्क का मार्ग नहीं है, अनुभव का मार्ग है, देखने का मार्ग है, दर्शन का मार्ग है।

साधक का दायित्व गुरुतर कैसे है—इसे हम समझें। प्रत्येक व्यक्ति सुख-दुःख का दायित्व दूसरों पर डालता है। चाहे सम्राट् हो या अन्य कोई—सब अपने-आपका बचाव करते हुए दायित्व दूसरों पर डाल देते हैं। सारा दोष दूसरों में देखते हैं, स्वयं निर्लिप्त रह जाते हैं। किन्तु अध्यात्म की साधना करने वाला, चेतना के जागरण की साधना करने वाला, सारा दायित्व अपने पर लेता है। चाहे सुख का दायित्व हो या दुःख का, वह दायित्व अपने पर लेता है, दूसरों पर नहीं थोपता। कोई शत्रुता करता है तो साधक सोचता है कि कहीं न कहीं मेरी ही भूल हुई है। कितना बड़ा दायित्व है यह? ऐसा दायित्व वही व्यक्ति उठा सकता है जो अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश करता है। आप सारे इतिहास को देखिए, जिन लोगों ने बाहर की दुनिया में विचरण किया है, उन्होंने हमेशा दूसरों पर ही दोषारोपण किया है। सत्ता बदलती है तो नई सत्ता पुरानी सत्ता पर दोषारोपण करती है। बाह्य जगत् में रहने वाला दूसरों के कंधों पर भार डालकर स्वयं हल्का रहना चाहता है। अध्यात्म का साधक दायित्व को ओढ़कर भारी रहता है। वह अपना दायित्व दूसरों पर कभी नहीं डालता।

अध्यात्म साधना की पहली परिणति है—दायित्व को ओढ़ने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध, दायित्व को लेने का साहस ।

अध्यात्म साधक की भ्रांतियां सबसे पहले टूटती हैं । वह असत्य से दूर और सत्य के निकट होता है । सामान्यतया आंखें बन्द करने का अर्थ होता है—नहीं देखना, सो जाना । बाहरी दुनिया में आंखें बन्द करने के दो ही अर्थ होते हैं—सो जाना या नहीं देखना । अध्यात्म के क्षेत्र में ये अर्थ बदल जाते हैं । ठीक विपरीत हो जाते हैं । साधक की भ्रान्ति टूट जाती है । उसके लिए आंखें बन्द करने का अर्थ होता है—जागना । आंख बन्द करने का अर्थ होता है—भीतर झांकना, भीतर की गहराइयों को देखना । अर्थ बदल जाता है ।

जो बाह्य जगत् में जीता है वह मानता है कि सुख बाहर में है । अध्यात्म साधक की यह भ्रान्ति टूट जाती है । वह मानने लगता है कि सुख बाहर नहीं, भीतर है । जिसने कभी अध्यात्म का स्पर्श ही नहीं किया वही बाहर सुख की कल्पना कर सकता है । जिसने एक बार भी अध्यात्म के सुख का स्पर्श कर लिया, उसे बाहर में कभी सुख नहीं लगता । भीतर के सुख की तुलना में बाहर के सारे सुख नगण्य हैं । साधक जब भीतर का थोड़ा मार्ग तय करता है तब उसे लगता है कि जो सुख के स्पंदन यहां हैं, वे बाहर दुर्लभ हैं । जो रंग यहां दीखते हैं, उनका अस्तित्व बाहर है ही नहीं । भीतर में जब सुख के स्पंदनों की अनुभूति होने लगती है तब साधक आत्मविभोर होकर उसी में खो जाता है ? उसका सारा सम्पर्क अध्यात्म से होता है, बाहर से सारे सम्पर्क टूट जाते हैं । अब वह उसे छोड़ना नहीं चाहता । इतना तन्मय हो जाता है वह उसमें कि वह अपना भान ही भूल जाता है ।

जिस व्यक्ति ने भीतर जाने का प्रयास ही नहीं किया, जिसने भीतरी द्वार का उद्घाटन ही नहीं किया, वह कभी यह अनुभव नहीं कर सकता कि भीतर में क्या कुछ घटित हो रहा है । यह तर्क के द्वारा समझाया नहीं जा सकता । इसका अनुभव ही किया जा सकता है । जो इस मार्ग से नहीं गुजरा है, उसके सामने तर्क व्यर्थ है; मौन श्रेयस्कर है ।

अध्यात्म साधना की दूसरी परिणति है—भ्रान्तियों का टूट जाना ।

चिकित्सा की भांति साधक भी पहले विवेक करता है और फिर प्रत्याख्यान । विवेक का अर्थ है—पृथक् करना और प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोड़ना । जब प्रत्याख्यान होता है तब संयम की चेतना जागती है । संयम अर्थात् अपने में रहो । कम बोलो । कम घूमो । प्रवृत्ति कम करो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका परिणाम यह होता है कि साधक की प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ जाती है। जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रबल होती है वह बाहर से कम प्रभावित होता है। बाहर के कीटाणु उस पर आक्रमण नहीं कर पाते। उस साधक में लड़ने की क्षमता जाग जाती है। इससे दो लाभ होते हैं—बाहर के कीटाणु निष्प्रभ होते हैं और भीतर के कीटाणु नष्ट होने लगते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य—दोनों अपेक्षित होते हैं सुखी जीवन के लिए। जो मानसिक स्वास्थ्य की साधना नहीं करता वह शारीरिक स्वास्थ्य कैसे बनाए रख सकता है? अध्यात्म की साधना करने वाले साधक की यह भ्रान्ति टूट जाती है कि स्वास्थ्य केवल शारीरिक ही होता है। उसे मानसिक स्वास्थ्य बहुत ऊंचा लगता है। अध्यात्म की साधना से दोनों प्रकार के स्वास्थ्य सधते हैं। यह शारीरिक रोगों से मुक्ति दिलाती है और साथ ही साथ आन्तरिक रोगों को भी नष्ट करती है।

मनुष्य स्वास्थ्य चाहता है, दीर्घायु चाहता है, सुख और शान्ति चाहता है। अध्यात्म की साधना से ये सारी बातें फलित होती हैं। एक प्रश्न होता है कि अध्यात्म चेतना से दीर्घायु कैसे मिल सकती है?

अल्पायु का सबसे बड़ा कारण है—राग-द्वेष का अध्यवसाय। जितने भी मानसिक आवेग हैं वे सब अल्पायु के कारण बनते हैं। वे आयुष्य को क्षीण करते चले जाते हैं। भीतर-ही-भीतर काटते चले जाते हैं। अध्यात्म का मार्ग अध्यवसायों को रोकने का मार्ग है। राग-द्वेष कम करो, समभाव रखो, तटस्थ रहो। आने वाले स्पंदनों की उपेक्षा करो। प्रिय-अप्रिय भाव से बचो। अध्यात्म की साधना से अध्यवसाय निर्मल बनते हैं। वे अनजाने ही आयुष्य को लम्बा कर देते हैं।

श्वास-प्रेक्षा का आध्यात्मिक मूल्य है—मन का जागरण और व्यावहारिक मूल्य है—प्राण-ऊर्जा का बढ़ जाना। दीर्घश्वास का प्रयोग होता है तब घर्षण बढ़ता है। घर्षण से प्राणऊर्जा बढ़ती है, प्राणशक्ति बढ़ती है। कायोत्सर्ग से भेदज्ञान पुष्ट होता है, शरीर की जड़ता समाप्त होती है, सुख-दुःख में सम रहने की वृत्ति जागती है, चेतना जागती है, प्रज्ञा जागती है।

शरीर-प्रेक्षा को ठीक से समझना है। लोग शरीर को निस्सार मानते हैं। उसे केवल हाड़-मांस का समूह मानते हैं। लोग उसमें केवल निस्सार को ही देखते हैं। सार जैसा उन्हें कुछ लगता ही नहीं। आत्मा का निवास शरीर में है। आत्मा ज्ञानमय है, दर्शनमय है, चेतनामय है। यही सार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका हमें बोध होना चाहिए। चैयन्यमय आत्मा सबसे बड़ा सार है।

इस जगत् का सबसे बड़ा सार तत्त्व हमारे शरीर के भीतर है। उसके दर्शन से जैविक-रासायनिक परिवर्तन होते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को रसायन बदलते हैं। नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण स्थापित होता है। मूर्च्छा टूटती है और चैतन्य जागृत होता है। आत्मा का अस्तित्व किसी शरीर के माध्यम से प्रकट होता है। जो शरीर को देखना नहीं जानता, उसके अन्तर्भाव में अवस्थित चैतन्य-केन्द्रों का दर्शन करना नहीं जानता, वह अपने अस्तित्व को भी नहीं जानता। जिसे अपने अस्तित्व का बोध नहीं होता उसे दायित्व का बोध नहीं होता।

प्रेक्षा-ध्यान की निष्पत्तियां

व्यावहारिक	आध्यात्मिक
• दीर्घश्वास-प्रेक्षा से—	
प्राण-ऊर्जा जागृत होती है	प्रज्ञा जागृत होती है।
• समवृत्तिश्वास-प्रेक्षा से—	
नाड़ी-संस्थान शुद्ध होता है।	संकल्पशक्ति जागती है।
• देह-प्रेक्षा से—	प्रज्ञा जागती है।
रासायनिक क्रिया बदलती है।	मूर्च्छा टूटती है।
स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव होता है।	चैतन्य जागृत होता है।
• कायोत्सर्ग से—	
देह की जड़ता नष्ट होती है।	चैतन्य और पुद्गल का भेद-ज्ञान स्पष्ट होता है।
हल्कापन आता है।	सुख-दुःख में मध्यस्थता आती है।
मति की जड़ता नष्ट होती है।	
• अनुप्रेक्षा से—	
सूक्ष्म विद्युत् उत्पन्न होती है।	प्रज्ञा जागती है।
व्यवहार का परिवर्तन होता है।	सघन मूर्च्छा टूटती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शारीरिक	मानसिक
स्वास्थ्य ।	स्वास्थ्य ।
प्रतिरोधात्मक शक्ति ।	संयम ।
रोग के अणुओं का निकलना ।	क्रोध आदि के विकल्पों को क्षीण करना ।
विश्राम ।	नैष्कर्म्य ।
स्वास्थ्य-सिद्ध ।	स्वास्थ्य-सिद्धि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति-जागरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. उपसंपदा

साधना-केन्द्र साधना का स्थल है। यहां साधक खाली आते हैं और भरकर जाते हैं या यों कहें कि भरे हुए आते हैं और खाली होकर जाते हैं। दोनों बातें संभव हैं। जो भरकर आए हैं उन्हें खाली होकर जाना है और जो खाली होकर आए हैं, उन्हें भरकर जाना है। अध्यात्म-साधना खाली होने का भी प्रयत्न है और भरने का भी प्रयत्न है। जो वमनीय है, जो परित्याग के योग्य है उसे छोड़ना है और जो भरने योग्य है उसे भरना है।

साधना प्रारंभ करने से पूर्व सब प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करें। सभी साधक सुखासन में बैठ, बद्धांजलि होकर सुनें। शरीर शिथिल, मन तनावमुक्त रहे। मैं कुछ सूत्रों का उच्चारण करूंगा। आप उसी लय में उनका प्रत्युच्चारण करें—

'अब्भुट्ठिओमि आराहणाए।'

मैं प्रेक्षा-ध्यान की आराधना के लिए उपस्थित हुआ हूं।

'मग्गं उवसंपज्जामि।'

मैं अध्यात्म-साधना का मार्ग स्वीकार करता हूं।

'सम्मत्तं उवसंपज्जामि।'

मैं अन्तर्दर्शन की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।

'संजमं उवसंपज्जामि।'

मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।

यह प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा है। इसके पांच सूत्र हैं। इसका पहला सूत्र है—भावक्रिया। इसके तीन अर्थ हैं—

१. वर्तमान में जीना।

२. जानते हुए करना।

३. सतत अप्रमत्त रहना।

पहली बात है—वर्तमान में जीना। हमारा अधिकांश समय अतीत की उधेड़बुन में या भविष्य की कल्पना में बीतता है। समय का नब्बे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिशत भाग ये दोनों काल खा जाते हैं। आदमी मुश्किल से समय के दस प्रतिशत भाग में वर्तमान में रह पाता है। अतीत भी वास्तविक नहीं है और भविष्य भी वास्तविक नहीं है। अतीत मात्र स्मृति है और भविष्य मात्र कल्पना है। वास्तविक है वर्तमान। उसमें आदमी बहुत कम रहता है। वह या तो स्मृति में उलझा रहता है या कल्पना के मधुर स्वप्न देखता है। वर्तमान उसके हाथ से छूट जाता है। वह उसे पकड़ ही नहीं पाता। वास्तविकता यह है कि जो कुछ घटित होता है, वह होता है वर्तमान में। किन्तु आदमी उसके प्रति जागरूक नहीं रहता। भावक्रिया का अर्थ है—वर्तमान में रहना।

भावक्रिया का दूसरा अर्थ है—जानते हुए करना। हम जो भी करते हैं वह पूरे मन से नहीं करते। मन के टुकड़े कर देते हैं। काम करते हैं, पर मन कहीं भटकता रहता है। वह काम के साथ जुड़ा नहीं रहता। काम होता है अमनस्कता से। वह सफल नहीं होता।

कार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हुए बिना उसका परिणाम अच्छा नहीं आता। इसमें शक्ति अधिक क्षीण होती है, अनावश्यक व्यय होती है और काम पूरा नहीं होता। अतः हम जिस समय जो काम करें उस समय हमारा शरीर और मन—दोनों साथ-साथ चलें। दोनों की सह-यात्रा हो।

भावक्रिया का तीसरा अर्थ है—सतत अप्रमत्त रहना। साधक को ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त और जागरूक रहना चाहिए। ध्यान का पहला ध्येय है—चित्त की निर्मलता। चित्त को हमें निर्मल बनाना है। ध्यान का दूसरा ध्येय है। इनके प्रति शक्तियों को जागृत करना। हमारी ध्यान-साधना के दो ध्येय हैं। इनके प्रति सतत जागरूक रहना भावक्रिया है।

उपसंपदा का दूसरा सूत्र है—क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना। आदमी प्रतिक्रिया का जीवन जीता है। वह कपड़ा पहनता है, ओढ़ता है, इसलिए कि उसे सर्दी लगती है, उसे लज्जा को ढकना है। अतः कपड़ा पहनना या ओढ़ना भी प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। आदमी खाता है। वह भी प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। भूख लगती है, पेट में पीड़ा होती है, उसे शांत करने के लिए आदमी खाता है। हमारा खाना, पीना, कपड़े पहनना आदि सारी प्रतिक्रियाएं हैं। ये सब स्वतंत्र क्रियाएं नहीं हैं, प्रतिक्रियाएं हैं। हम प्रतिक्रिया का जीवन न जीएं, क्रिया का जीवन जीएं। अध्यात्म-साधना का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ है—प्रतिक्रिया से बचना। प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है, उसकी स्वतंत्र सत्ता है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व और सत्ता तब स्थापित होती है जब वह स्वतंत्र क्रिया करे। यदि उसकी सारी प्रवृत्तियां प्रतिक्रियात्मक ही होती हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। वह अपनी स्वतंत्रता का स्वयं ही खंडन कर रहा है। वह पूर्ण परतंत्रता को घोषित करता है और दूसरों के हाथ का एक खिलौना मात्र बन जाता है। साधक को ऐसा नहीं होना चाहिए। वह क्रिया करे, प्रतिक्रिया नहीं।

आज का आदमी स्वतंत्र बुद्धि से काम नहीं कर रहा है। वह बाह्य वातावरण, परिस्थिति और आसपास के कार्य-कलापों से प्रभावित होकर कार्य करता है। यह प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। वह आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर कार्य करता है, वह भी प्रतिक्रिया है।

सारा का सारा इन्द्रिय-व्यवहार प्रतिक्रियात्मक होता है। हम आंख से देखें और कान से सुनें, किन्तु कोई संस्कार प्रतिक्रिया पैदा कर रहा है इसलिए देखें या सुनें तो यह देखना और सुनना स्वतंत्र क्रिया नहीं है, प्रतिक्रियात्मक क्रिया है। स्वतंत्र चेतना से देखना या सुनना ही स्वतंत्र देखना या सुनना है।

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है—मैत्री। साधक का पूरा व्यवहार मैत्री से ओतप्रोत हो। उसमें मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। किसी व्यक्ति को सांप काटे और वह सोचे—'कितना अज्ञानी है! नहीं समझ पा रहा है। व्यर्थ ही क्रोध के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट देता है! इसका भी कल्याण हो। इसे सही दृष्टि मिले। इसका क्रोध शांत हो। यह किसी को न काटे।' इस प्रकार सांप पर भी जो गीले नेत्रों से इस प्रकार करुणावृष्टि करता है वह सबका मित्र होता है। उसमें मैत्री का विकास चरम बिन्दु पर है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति प्रतिक्रिया से सर्वथा मुक्त हो जाता है। अन्यथा गाली के प्रति गाली, ईंट का जवाब पत्थर से, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'—ये सब बातें चलती हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें केवल वही व्यक्ति रोक सकता है जिसने इस सचाई को समझ लिया है कि स्वतंत्र अस्तित्व का धनी आदमी प्रतिक्रिया का जीवन न जीए। वह क्रिया का जीवन जीए। वह सचाई जब हृदयंगम हो जाती है तब मैत्री स्वयं फलित होती है।

उपसंपदा का चौथा सूत्र है—मिताहार। परिमित भोजन का महत्त्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ण स्थान है साधना में। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता, ध्यान और चेतना पर भी उसका प्रभाव होता है। आदमी अनावश्यक बहुत खाता है। इसके पीछे देशगत, परम्परागत, समाजगत या भोजन के ज्ञान का अभाव—कुछ भी कारण हो सकता है। यह चल रहा है। अनावश्यक भोजन विकृति पैदा करता है। खाया हुआ पच नहीं पाता क्योंकि उसको पचाने वाला रस पूरी मात्रा में नहीं मिलता। भोजन उतना ही पचता है जितना उसे पाचन-रस प्राप्त होता है। शेष व्यर्थ हो जाता है। उससे अनेक विकृत्तियां पैदा होती हैं। उससे सड़ांध पैदा होती है। मल आंतों में जम जाता है। इससे सारा नाड़ी-मंडल दूषित हो जाता है। इससे मन और विचार भी दूषित होते हैं। आदमी स्वस्थ चिंतन नही कर पाता। चेतना पर आवरण आता चला जाता है। हम यह प्रयत्न करते हैं कि हमारी चेतना की निर्मलता हो, मन की निर्मलता हो, शक्ति का जागरण हो। यह तभी संभव है जब हमारा नाड़ी-संस्थान शुद्ध होता है, निर्मल होता है। जब कांच साफ होगा तब ही उसमें निर्मल प्रतिबिम्ब पड़ेगा, उससे प्रकाश बाहर आएगा। जब नाड़ी साफ नहीं, नाड़ी-संस्थान निर्मल नहीं, उसके बिना हमारी चेतना का प्रकाश बाहर कैसे आएगा ? कोई रास्ता नही है दूसरा। वह प्रकाश भीतर-ही-भीतर दबा रह जाएगा, विकसित नहीं हो पाएगा।

जिस व्यक्ति को केवल जीभ का स्वाद लेना है, वह भोजन के प्रति अ-जागरूक रह सकता है। जो व्यक्ति अपने मन और मस्तिष्क को विकृत रखना चाहता है, वही भोजन के प्रति लापरवाह रह सकता है। उसको केवल अपनी जीभ को ही संतुष्ट करना होता है। जिस व्यक्ति का यह ध्येय हो कि मस्तिष्क को बहुत काम में लेना है, सुप्त शक्तियों को जागृत करना है, शक्तियों से काम लेना है, कोई-न-कोई बड़ा काम कर दिखाना है, वह व्यक्ति खाने के प्रति कभी लापरवाह नहीं हो सकता। स्वाद उसके लिए गौण है। वह भोजन करता है केवल शरीर के पोषण के लिए, स्वाद के लिए कभी नहीं खाता।

साधक ने एक विशिष्ट मार्ग पर चलने के लिए कदम बढ़ाए हैं। जीभ को संतोष देना उसका ध्येय नहीं है। उसका ध्येय है—शक्तियों को जागृत करना, गति करना, उपलब्धि करना। इसलिए साधक को भोजन का पूरा ज्ञान होना चाहिए और कौन-सा भोजन क्या परिणाम लाता है, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी ज्ञान होना चाहिए।

उपसंपदा का पांचवां सूत्र है—मितभाषण या मौन। बोलना इसलिए जरूरी होता है कि हम जन-सम्पर्क में हैं। बोले बिना रहा नहीं जाता। किन्तु कम बोलना साधना है। मैं नहीं कहता कि जीवन-भर मौन रहें। अनावश्यक न बोलें। बोलना पड़े तो धीमे बोलें। हम रहस्यों को ढूंढ़ने के लिए साधना में प्रवृत्त हुए हैं। इसलिए बात भी अरहस्यमय क्यों? रहस्य की भाषा बोलें, गुप्त भाषा बोलें। कान के पास धीरे से कुछ कहें।

भगवान् का सारा व्यवहार 'अबहुभाषा' से ओतप्रोत था। वे अबहु-भाषी थे। यह नहीं कहा गया कि भगवान् बोलते ही नहीं थे। यह कहा गया है कि भगवान् बहुत नहीं बोलते थे। यह मध्यम मार्ग अच्छा है। इससे व्यवहार भी नहीं टूटता और शक्ति का अनावश्यक व्यय भी नहीं होता।

कुछ व्यक्ति मौन कर लेते हैं। मन में विचारों का तूफान उठता है। वे उसे रोक नहीं पाते। फिर पन्ने के पन्ने भर डालते हैं। यह कैसा मौन! सारी शक्ति लिखने में खर्च कर डाली। मौन किसलिए। वे मौनी साधक इंगितों से सारी बात कर डालते हैं। एक मिनट की बात को वे इंगितों से पांच मिनट में समझा पाते हैं। शक्ति का कितना अपव्यय! इससे तो अच्छा है बोलना। मित बोलना साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। इससे शक्ति संचित होती है।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा के ये पांच सूत्र हैं। इनको हृदयंगम कर यदि हम साधना में प्रवृत्त होते हैं तो साधना सुखपूर्वक चल सकती है।

हम ध्यान का अभ्यास किसलिए करेंगे—इस ध्येय की प्रतिमा भी बहुत स्पष्ट होनी चाहिए। साधना के पहले दिन ही वह प्रतिमा स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठापित हो जानी चाहिए।

प्रेक्षा-ध्यान की साधना का पहला ध्येय है—मन को निर्मल बनाना। मन कषायों से मलिन रहता है। कषायों से मलिन मन में ज्ञान की धारा नहीं बह सकती। हमारे भीतर ज्ञान होते हुए भी वह प्रकट नहीं होता क्योंकि बीच में मलिन मन का पर्दा आ जाता है, अवरोध आ जाता है। मन की निर्मलता होते ही ज्ञान प्रकट होता है, उसका अवरोध समाप्त हो जाता है। वह पारदर्शी बन जाता है।

जब मन की निर्मलता होती है तब शांति का अनुभव स्वतः होने लगता है। मन का संतुलन, मन की समता और आनन्द का अनुभव होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगता है। साधना की पहली निष्पत्ति है—आनन्द की अनुभूति। साधना का प्रारम्भ होता है—तेजोलेश्या से। तेजोलेश्या का पहला लक्षण है—आनन्द की अनुभूति। जैसे ही तैजस की विद्युत्धारा हमारे शरीर में प्रवाहित होती है, आनन्द की रश्मियां फूट पड़ती हैं। जितना आनन्द है, जितना सुख है, वह सब विद्युत्कृत है। तेजोलेश्या आती है तब सुख-स्रोत फूट पड़ते हैं। तेजोलेश्या से आनन्द, पद्मलेश्या से शान्ति और शुक्ललेश्या से निर्मलता, वीतरागता प्राप्त होती है।

हमारा ध्येय है—मन की निर्मलता। हमारा ध्येय आनन्द की प्राप्ति नहीं है। आनन्द प्राप्त होगा, किन्तु वह ध्येय नहीं है। आनन्द हमारा आलंबन बनेगा। हमें आनन्द भी मिलेगा, शांति भी मिलेगी। किन्तु हमें इनको पारकर आगे जाना है। हमें पहुंचना है मन की निर्मलता तक। मन की निर्मलता—हमारी ध्येय-प्रतिमा है। यह हमारे सामने रहे।

ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व भावना करें। भावना का अर्थ है—कवच का निर्माण। हम हमारे चारों ओर अण्डाकार कवच का निर्माण करें। इससे बाहर का प्रभाव सक्रांत नहीं होगा। जो कुछ करना होगा वह सुचारु रूप से चलेगा। कोई बाधा नहीं आएगी। कवच का निर्माण कैसे हो—यह एक प्रश्न है। साधक अपने स्थान पर बैठे और 'अर्हं' 'अर्हं' का मानसिक जाप करे और साथ-साथ यह कल्पना करे कि अर्हं की रश्मियां चारों ओर फैल रही हैं। वे सघन हो रही हैं। कवच का निर्माण हो रहा है। थोड़े समय बाद यह अनुभव होने लगेगा जैसे समूचे शरीर के बाहर दो-तीन फुट की दूरी तक एक कवच बन गया है। उसमें साधक सुरक्षित बैठा है। यह भावना-योग साधना का बहुत बड़ा आलंबन है। साधक इसका अभ्यास करे।

उपसंपदा के पांच संकल्पों का स्वीकार, ध्येय-प्रतिमा का निर्माण और भावना-योग अर्थात् कवच-निर्माण की प्रक्रिया का उपयोग—ये सब ध्यान-साधना की प्रारम्भिक तैयारियां हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन ११

संकलिका

- जीवन की दो धाराएं—(१) शक्तियुक्त धारा (२) शक्तिशून्य धारा।
- शक्ति अविकसित ० शक्ति अप्रयुक्त।
- शारीरिक शक्ति—जो प्राणशक्ति शरीर के माध्यम से प्रकट।
- मानसिक शक्ति—जो प्राणशक्ति मन के माध्यम सें प्रकट।
- शक्ति प्रत्येक पदार्थ में—

  चेतन में चेतना, आनन्द और शक्ति का समन्वय।
- मनुष्य विकसित चेतना वाला अतः शक्ति का विकास कर सकता है।
- विकसित शक्ति खतरनाक : उसका सम्यक् उपयोग, उसका दिशा-दर्शन अध्यात्म द्वारा।
- हम सूक्ष्म से परिचय प्राप्त करें।
- शक्ति जागरण का पहला सूत्र—सूक्ष्म की शक्ति से परिचित होना।
- स्थूल शरीर की सूक्ष्म रचना—
  - ० मस्तिष्क में १ खरब न्यूरॉन।
  - ० ज्ञान-तंतु—एक लाख मील लंबे।
  - ० कोशिकाएं—साठ अरब।
- शक्ति विकास के तीन आयाम—
  - ० शक्ति को जगाना।
  - ० शक्ति को संभालना।
  - ० शक्ति का सही उपयोग करना।
- अध्यात्म-योग के तीन उपाय—
  - ० प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन।
  - ० चिंतन और अचिंतन का संतुलन।
  - ० वाक् और मौन का संतुलन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति-जागरण : मूल्य और प्रयोजन

जब से मनुष्य चिंतन करता रहा है तब से वह मूल तत्त्व को खोजता रहा है। मूल तत्त्व की खोज पांच हजार वर्ष पहले भी चलती थी, पचीस सौ वर्ष पहले भी चलती थी और आज भी चल रही है यह आगे भी अनन्त काल तक चलती रहेगी।

सत्य अनन्त है। अनन्त सत्य को सदा खोजा जा सकता है। पचीस सौ वर्ष पहले की घटना है। एक राजा था। उसका नाम था प्रदेशी। एक महामेधावी मुनि केशीकुमार वहां आए। राजा उनकी उपासना में गया। राजा ने मुनि से कहा—"महाराज ! आत्मा नहीं है। चेतन तत्त्व का अस्तित्व नहीं है। जो शरीर है वही आत्मा है। आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है। जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है। शरीर प्रत्यक्ष है। उससे अतिरिक्त आत्मा नहीं है। अचेतन ही वास्तविक है। वह भी अनन्त शक्तिशाली होता है। कुछ अचेतन तत्त्वों का योग होता है और चेतना निर्मित हो जाती है। कुछ क्षण ऐसे आते हैं और एक दिन चेतना खंडित हो जाती है, अचेतन रह जाता है। चेतन जैसा कुछ है ही नहीं।" राजा ने एक उदाहरण से अपने मत की पुष्टि करते हुए कहा—"एक बालक है। उसकी शक्ति विकसित नहीं है। वह धनुष पर बाण नहीं चढ़ा सकता। वही बालक जब तरुण हो जाता है, उसके सारे अवयव विकसित हो जाते हैं, वह शक्ति-संपन्न हो जाता है, तब वह सुगमता से धनुष पर बाण चढ़ा सकता है और दूर तक बाण फेंकने में सफल हो जाता है। यदि आत्मा और शरीर भिन्न होते हैं तो यह अन्तर आ नहीं सकता क्योंकि बालक में भी वही आत्मा है और तरुण में भी वही आत्मा है। इसलिए आत्मा और शरीर भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं।"

मुनि केशरीकुमार ने कहा—"राजन् ! तुम्हारी बात में जो सचाई है मैं उसे स्वीकार करता हूं। किन्तु एक बात मैं पूछता चाहता हूं कि धनुष खंडित है, प्रत्यंचा टूटी हुई है, तो क्या कोई उस धनुष्य पर बाण चढ़ा सकेगा ? बाण चढ़ाने वाला तरुण है, समर्थ है, शक्तिशाली है, फिर भी वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस धनुष्य पर बाण नहीं चढ़ा पाता। यदि धनुष्य अखंडित है, प्रत्यंचा टूटी हुई नहीं है तो फिर कोई भी युवा उस पर बाण चढ़ा सकता है। धनुष्य पुराना है, उससे बाण नहीं फेंका जा सकता। धनुष्य नया है, उससे बाण फेंका जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि बालक के उपकरण पर्याप्त नहीं हैं। वह धनुष्य पर बाण नहीं चढ़ा सकता। युवा के उपकरण पर्याप्त हैं, वह धनुष्य पर बाण चढ़ा सकता है। यह अन्तर उपकरणों की पर्याप्तता या अपर्याप्तता का है, आत्मा का नहीं। बच्चे की आत्मा और युवा की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु बच्चे के उपकरण अभी अपर्याप्त हैं, जैसे टूटे हुए धनुष्य के उपकरण अपर्याप्त हैं। नए धनुष्य के उपकरण पर्याप्त हैं जैसे युवा के उपकरण पर्याप्त होते हैं।"

प्रश्न है उपकरण का, आत्मा का प्रश्न नहीं है। इस घटना से हम यह समझ सकते हैं कि हमारा जीवन तीन आयामों में चलता है—आत्मा, शरीर और शरीर की शक्ति। आगमों में कहा गया है कि हमारा जीवन 'त्रिदंड' है—एक दंड है शक्ति, एक है शरीर और एक है आत्मा। आत्मा बहुत दूर है। मैं क्षेत्रीय दूरी की बात नहीं कर रहा हूं। आत्मा इतना भीतर है, इतना भीतर कि वह चर्मचक्षुओं से दीखता ही नहीं। वहां हमारी पहुंच नहीं है।

हम इन तीन आयामों में जीते है—आत्मा, शरीर और शक्ति। हमारी एक कठिनाई है। हम स्थूल को बहुत जानते हैं, सूक्ष्म को नहीं जानते। हम सूक्ष्म को जानने का प्रयत्न भी कहां करते हैं? इसीलिए नहीं करते कि हमारा उससे परिचय नहीं है। जिससे परिचय नहीं होता है, उसके विषय में कुछ भी नहीं जाना जा सकता है। जिससे परिचय होता है, उसी के विषय में हम कुछ जान सकते हैं। हम सूक्ष्म से अपरिचित हैं।

दर्शनशास्त्र में एक प्रश्न बहुत चर्चित होता रहा है कि सूक्ष्म का अस्तित्व है या नहीं? जो इन्द्रियों के द्वारा दिखाई दे रहा है, वही है या उससे परे भी कुछ है? इस चर्चा से दो शब्द प्रस्तुत हुए—इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रियगम्य अथवा हेतुगम्य और अहेतुगम्य।

कुछ दार्शनिकों ने उसे ही सत्य माना जो इन्द्रियगम्य है। जो इन्द्रिय-गम्य होता है वह निश्चित ही हेतुगम्य होता है। उसे सिद्ध करने के लिए हेतु और तर्क दिए जाते हैं। हेतु और तर्क उसको गम्य कराने में सक्षम होते हैं, इसलिए वह हेतुगम्य कहलाता है। इस रेखा पर दार्शनिकों की एक विचार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारा चलती रही।

दर्शन की दूसरी विचारधारा ने इससे आगे बढ़कर कहा—सत्य अतीन्द्रियगम्य भी है। जो दीखता है वही सत्य नहीं है, जो नहीं दीखता वह भी सत्य है। इन्द्रियों से परे भी सत्य का अस्तित्व है। उसका साक्षात्कार इन्द्रियों से नहीं होता। वह अतीन्द्रियगम्य होता है। हेतु और तर्क उसके क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते। वह अहेतुगम्य और अतर्कगम्य होता है। फिर एक प्रश्न आया कि अतीन्द्रियगम्य को कैसे जाना जा सकता है? उसके साधन क्या हैं? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया कि जो अतीन्द्रिय द्रष्टा ऋषि हैं, जिनकी अतीन्द्रिय शक्ति विकसित हो चुकी है, जिन्होंने सूक्ष्म सत्य का साक्षात् कर लिया है, उनके कथन के द्वारा ही उस सूक्ष्म सत्य को जाना जा सकता है।

भौतिक जगत् में भी सारे स्थूल पदार्थों को हम इन इन्द्रियों से कहां देख या जान पाते हैं? कुछ स्थूल पदार्थों को हम देख लेते हैं, जान लेते हैं, किन्तु ऐसे अनन्त स्थूल पदार्थ हैं जिन्हें हम देख नहीं पाते, जान नहीं पाते। भौतिकी वैज्ञानिकों ने इनका देखने के लिए सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया और उन उपकरणों ने स्थूल से कुछ सूक्ष्म पदार्थों को देखने का रास्ता खोल दिया।

शरीर के भीतर हम इन स्थूल आंखों से नहीं झांक सकते। एक्सरे का आविष्कार हुआ। शरीर की अतल गहराइयों तक उसकी पहुंच हुई और आज शरीर के भीतर हम अणु-अणु में झांक सकते हैं। एक्सरे भी एक प्रकार से अतीन्द्रिय ही है। जो बात इन्द्रियों द्वारा नहीं जानी जाती वह इन सूक्ष्म उपकरणों द्वारा जान ली जाती है।

हमारा यह शरीर स्थूल है। किन्तु इसमें भी गजब की सूक्ष्मता है। हमारा मस्तिष्क हमारे शरीर का केवल दो प्रतिशत भाग है। किन्तु इस छोटे-से मस्तिष्क में एक खरब 'न्यूरॉन्स' है। ये साढ़े 'न्यूरॉन्स' स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक की स्वतंत्र इकाई है। सबका स्वतंत्र अस्तित्व है।

इस शरीर में साठ खरब कोशिकाएं हैं। प्रत्येक कोशिका अपना-अपना काम करती है, अपनी विद्युत् पैदा करती है। प्रतिक्षण कोशिकाएं नष्ट हो रही हैं, नयी कोशिकाओं का निर्माण हो रहा है। प्रत्येक कोशिका में अनेक संस्कार संगृहीत हैं। इनमें सूक्ष्म शरीर से उपलब्ध संस्कार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। सभी प्रकार के संस्कारों को वहन करना इनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य है ।

इस शरीर में ज्ञानतंतुओं का एक जाल बिछा हुआ है । यदि इनको एक रेखा में बिछाया जाए तो एक लाख वर्ग मील तक पहुंच जाते हैं । हमारा यह संसार केवल पचीस हजार वर्गमील में आ जाता है । ज्ञानतंतु इससे चार गुना अधिक तक पहुंच जाते हैं । ये ज्ञानतंतु हमारी विद्युत् के संवाहक हैं ।

शरीर की यह एक संरचना भी स्थूल ही है । इसकी भी हमें पूरी जानकारी नहीं है । हमारा ज्ञान सीमित है । हम शरीर के कुछ एक भाग को ही स्थूल रूप से जानते हैं । उसकी सूक्ष्मता से आज भी हम अनभिज्ञ हैं ।

जब हम स्थूल शरीर के बारे में भी पूरा नहीं जानते तब सूक्ष्म शरीर की जानने की बात बहुत दूर रह जाती है । जब सूक्ष्म शरीर नहीं जाना जाता तब आत्मा को जानने की बात बहुत ही दूर रह जाती है ।

हम अपनी सुप्त चेतना को जागृत करना चाहते हैं, अपनी शक्तियों के स्रोतों को उद्घाटित करना चाहते हैं । इसका पहला सूत्र है—सूक्ष्म से परिचित होना । जो व्यक्ति सूक्ष्म से परिचित नहीं होता वह अपनी शक्ति का जागरण नहीं कर सकता । शक्ति के जागरण के लिए सूक्ष्म से संबंध स्थापित करना होता है, उससे परिचित होना पड़ता है ।

यदि हमें सूक्ष्म से परिचित होना है, उसके साथ संपर्क स्थापित करना है तो सबसे पहले हम स्थूल को सम्यक् प्रकार से जानें । बाहर का दरवाजा खोले बिना भीतर के दरवाजे तक नहीं पहुंचा जा सकता । पहले सोपान पर चढे बिना पचीसवें सोपान तक नहीं पहुंचा जा सकता । हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करनी होगी ।

ध्यान में हम श्वास का आलंबन लेते हैं । यह पहला सोपान है । इससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति प्रारंभ हो जाती है । श्वास ही एक ऐसा तत्त्व है जो बाहर भी आता है और भीतर भी जाता है । दूसरा ऐसा कोई भी साधन नहीं है जो बाहर भी रहे और भीतर भी रहे । मन है । पर मन बेढंगा है । वह स्वयं इतना चंचल है कि उसे आलंबन नहीं बनाया जा सकता । उसको तो आलंबन देना पड़ेगा ।

मन एक नटखट बच्चे की तरह है जो अपनी चोटी पकड़ने की कोशिश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर रहा था। एक बच्चा खेल रहा था। धूप थी। परछांई में बच्चे ने अपनी चोटी देखी। वह उसे पकड़ने दौड़ा। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता, परछांई भी आगे बढ़ जाती। इधर-उधर दौड़ता रहा। चोटी पकड़ में नहीं आयी। एक समझदार आदमी ने कहा—"बच्चे ! परेशान क्यों हो रहे हो ? चोटी ऐसे हाथ नहीं आएगी। तुम अपना हाथ अपने सिर पर रखो, चोटी पकड़ में आ जाएगी।" बच्चे ने हाथ उठाया। चोटी पर रखा। अब उसने परछांई में देखा कि चोटी हाथ में आ गई है।

मन भी परछांई की चोटी है। हम उसे जितनी बार पकड़ने का प्रयत्न करेंगे, वह आगे से आगे भागता चला जाएगा। मन को वश में करने का प्रयत्न करेंगे, वह आगे से आगे भागता चला जाएगा। मन को वश में करने का प्रयत्न करते हैं तो मन दूर भागता जाता है। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं तो मन और अधिक चंचल होता है। न जाने कितने लोगों ने मन को वश में करने का प्रयत्न किया, पर मन कभी उनके वश में नहीं आया। इस चोटी को पकड़ने का प्रयत्न किया पर यह चोटी कभी पकड़ में नहीं आई। इन व्यर्थ प्रयत्नों से घबराकर हजारों-हजारों व्यक्ति निराश होकर मन को वश में करने की बात ही भुला बैठे हैं। वे यह धारणा बना चुके हैं कि मन को वश में नहीं किया जा सकता।

कुछेक मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि मन को पांच सेकेण्ड से अधिक स्थिर नहीं किया जा सकता। उसका स्वभाव ही है चंचलता। स्वभाव को कैसे बदला जा सकता है ?

मनोवैज्ञानिकों की यह बात सही है किन्तु योग के आचार्यों ने मन को वश में करने का एक उपाय भी बताया है। वह उपाय है—श्वास। श्वास को पकड़ते ही मन पकड़ में आ जाता है। तब मन इतना सरल, सीधा हो जाता है कि उसकी चंचलता मिट जाती है।

इसीलिए हमने इस प्रक्रिया में श्वास को आलंबन बनाया है। यह श्वास वह यात्री है जो बाहर की यात्रा भी करता है और भीतर की यात्रा भी करता है। यह वह दीप है जो भीतर को भी प्रकाशित करता है और बाहर को भी प्रकाशित करता है। यदि हम भीतर की यात्रा करना चाहें तो हमारे पास एकमात्र उपाय है कि हम मन को श्वास के रथ पर चढ़ा दें और उसके साथ-साथ भीतर चले जाएं। हमारी अन्तर्यात्रा प्रारंभ हो जाएगी। हम अन्तर्मुखी हो जाएंगे। हम आध्यात्मिक बन जाएंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक बनने का सबसे सरल उपाय यह है कि श्वास के साथ मन को जोड़ देना, दोनों का योग कर देना। यह है शक्ति-जागरण का पहला सूत्र। यह है नये प्रस्थान का आरंभ बिन्दु।

मन श्वास के साथ जुड़ गया। अन्तर्यात्रा प्रारंभ हो गयी। अब प्रश्न है शक्ति के जागरण का। इस प्रश्न को समाहित करने के लिए हमें शक्ति के स्वरूप को समझाना होगा।

विश्व में जितने तत्त्व हैं, सब में शक्ति है। कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो शक्ति-शून्य हो। जो शक्ति-शून्य है वह तत्त्व नहीं हो सकता।

दर्शनशास्त्र में सत् और असत्—इन दो तत्त्वों की चर्चा है। सत् वह है जिसमें अर्थ-क्रियाकारिता है। असत् वह है जिसमें अर्थ-क्रियाकारित्व नहीं है। दो शब्द हैं—वृक्ष-कुसुम और आकाश-कुसुम, वृक्ष का फूल और आकाश का फूल। दोनों में अन्तर क्या है? एक सत् है, एक असत् है। एक का वास्तविक अस्तित्व है और एक केवल कल्पनामात्र है। वृक्ष का फूल सत् है क्योंकि वह वास्तविक है। वह वास्तविक इसलिए है कि उसमें अर्थक्रिया है। उसमें निरन्तर क्रिया चलती है। उसमें शक्ति है। वह चल रही है। जिसमें प्रतिक्षण शक्ति चल रही है, वह सत् है, वास्तविक है। आकाश-कुसुम में कोई क्रिया नहीं होती। उसकी कोई शक्ति नहीं है। वह असत् है। शक्ति सत् का लक्षण है। प्रश्न होता है—क्या चेतन का लक्षण भी शक्ति है? यहां एक बात और जुड़ जाती है। जिसमें शक्ति है वह सत् है और जिसमें शक्ति और चेतना—दोनों होते हैं वह चेतन है। परमाणु में शक्ति है, किन्तु चेतना नहीं है। आत्मा में शक्ति भी है और चेतना भी है।

शक्ति और चेतना का योग—यह हमारी विशेषता है। इसीलिए हम चेतनावान् हैं, संवेदनशील हैं। हम अनुभव करते हैं, संवेदन करते हैं और अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। आज के विज्ञान ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि एक परमाणु में इतनी शक्ति है कि यदि उसका विस्फोट हो जाए (किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है) तो सारा संसार नष्ट हो सकता है। परमाणु में अनन्त शक्ति होती है। आत्मा में भी अनन्त शक्ति होती है। परमाणु में कभी विस्फोट होता नहीं, यह जागतिक सचाई है, यूनिवर्सल ट्रुथ है।

परमाणु में जब इतनी शक्ति है तब कल्पना करें कि चेतना में कितनी शक्ति होगी। शक्ति भी अनन्त और चेतना भी अनन्त। दोनों का योग है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य में। अब उसके सामर्थ्य का अन्दाजा लगाया जा सकता है? शक्ति के इस अक्षय भंडार का स्वामी मनुष्य क्या नहीं कर सकता? धर्म को साधना, मन को पकड़ना—ये तो प्रारंभिक बातें हैं। हमारी साधना मन को पकड़ने की साधना नहीं है, मन को समाप्त करने की साधना है, अमन होने की साधना है।

कुछ प्राणी समनस्क होते हैं और कुछ अमनस्क। कुछ प्राणियों को मन प्राप्त है और कुछ प्राणियों को मन प्राप्त नहीं है। समनस्क प्राणी संज्ञी कहलाते हैं और अमनस्क प्राणी असंज्ञी।

मनुष्य समनस्क प्राणी है। उसे संज्ञा उपलब्ध है। उसका मन विकसित है। किन्तु एक अवस्था ऐसी भी होती है जिसमें मनुष्य 'नो-संज्ञी नो-असंज्ञी' बन जाता है। वह 'नो-मन' बन जाता है। मन नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है। मन उत्पन्न ही नहीं होता। उस अवस्था में केवल चेतना शेष रहती है। यह शक्ति के विस्फोट का परिणाम है, शक्ति की निष्पत्ति है। मनुष्य अपनी इस अनन्त शक्ति को पहचाने और उसको विकसित करे।

शक्ति का विकास प्रयत्न-सापेक्ष है। जितनी भी साधनाएं चलती हैं, वे सब शक्ति के विकास के लिए ही हैं। साधना इसीलिए होती है कि सुप्त चेतना जागे, सुप्त शक्तियों का विकास हो। मनुष्य में शक्ति है, पर जब तक वह सुप्त रहती है तब तक कोई निष्पत्ति नहीं आती। सांप कुंडली लगाकर बैठा है। शान्त है। किसी को उसका भय नहीं सताता। जब वही सांप फुफकारता है, तब सारा वातावरण भय से कांप उठता है। बुझी हुई आग पर बच्चा भी पैर रखकर चल पड़ता है। जब वह आग धधकती है, तब बड़े-बड़े भी उसके पास जाने से झिझकते हैं।

जब शक्तियां सोई हुई रहती हैं तब मनुष्य बुझी हुई आग की भांति निष्क्रिय जीवन जीता है। जब शक्तियों का जागरण होता है तब वही मनुष्य प्रज्वलित अग्नि की भांति दीप्त होकर क्रियाशील जीवन जीने लगता है। यह सारा अन्तर सुषुप्ति और जागृति का है। यह सारा अन्तर सुप्त शक्तियों का और जागृत शक्तियों का है।

हमारा सारा प्रयत्न एक दिशागामी है। हम सुप्त शक्तियों को जानने के लिए ही साधनों से गुजरते हैं। हम चाहते हैं कि जो चेतना सुप्त है, वह जाग जाए। शक्ति के जागने से बहुत-से अनुभव होने लगते हैं। दबी हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीमारियां बाहर आती हैं और उनका अनुभव होने लगता है। बीमारियां थीं, वे सुप्त पड़ी थीं। शक्ति का थोड़ा-सा विस्फोट हुआ, ध्यान-साधना के द्वारा शक्ति का कुछ जागरण हुआ और बीमारियों का अनुभव होने लगा। साधक को लगता है कि ये बीमारियां, पीड़ाएं और व्यथाएं ध्यान से उद्भूत हैं। नहीं, ये तो शरीर के तह में पहले से ही मौजूद थीं, आज उनका उभारमात्र हुआ है। शक्ति के जागरण को संभालना भी बहुत कठिन होता है।

एक साधक मेरे पास आया। उसने कहा—"मैंने आपकी कुछेक पुस्तकें पढ़ीं। ध्यान प्रारंभ किया। जाप करने लगा। एक दिन में १५-१५ हजार जाप करने प्रारंभ किए। प्रारंभ में कुछेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ा। मस्तिष्क पागल-सा लगने लगा। कुछ समय बीता। अब ऐसी स्थिति बन गई है कि ध्यान और जाप करने से अपूर्व आनन्द आता है, इसलिए उसे किए बिना भी नहीं रहा जाता और करता हूं तो कभी-कभी इतनी भयंकर स्थिति बन जाती है कि उसे संभाल पाना भी कठिन होता हैं। कभी-कभी पागल-सा हो जाता हूं। जब शक्ति जागती है तब अघटित घटनाएं घटित होती हैं और कभी-कभी दुर्घटना भी घटित हो जाती है।" शक्ति को जगाना, शक्ति को संभालना और शक्ति का सही उपयोग करना—इन तीनों आयामों से हमें सोचना होगा।

सबसे पहले हम शक्ति को जगाएं। शक्ति की जागृति किसी अनुभवी साधक की देख-रेख में करनी चाहिए। अन्यथा जो सोई हुई शक्ति जागती है तो वह उस सांप की भांति फुफकारती है जिस सांप पर किसी का पैर पड़ गया हो। मनुष्य घबरा जाता है। वह न शक्ति को संभाल पाता है और न अपने-आपको ही संभाल पाता है। वह दुविधा में डूब जाता है। यदि कोई सही मार्ग-दर्शन होता है तो वह इस स्थिति को संभाल लेता है, अन्यथा दुर्घटना घटित हो जाती है।

दूसरी बात है—शक्ति को संभालना। शक्ति को संभालने में साधक सक्षम हो। समय-समय पर वह अपनी साधना में हेर-फेर करे और उस शक्ति को संजोने में प्रयत्नशील रहे।

तीसरी बात है—शक्ति का सही उपयोग। जब शक्तियां जागती हैं तब अनेक उपलब्धियां होती हैं। कभी-कभी साधक इन उपलब्धियों में भटक जाता है। वह चमत्कार के चकाचौंध में अपनी साधना को विस्मृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर देता है। अब प्रदर्शन प्रारंभ होता है। साधक प्रदर्शन में फंसकर कभी पानी पर चलता है, कभी आकाश में अधर टिका रहता है और कभी और कुछ दिखाता है। साधना का भाव धूमिल हो जाता है, लक्ष्य टूट जाता है।

लोग बहुत बार पूछते हैं—'इतने वर्ष साधना की, उससे क्या चमत्कार प्राप्त हुए ?' मैं कहना चाहता हूं कि चमत्कार का नाम ही झूठ है। वह कोरा भुलावा, कोरी छलना, कोरी ठगाई है। चमत्कार कोई है नहीं। सारा है प्रकृति का नियम। जो उस प्रकृति के नियम को नहीं जानते वे उसे चमत्कार कह देते हैं। कोई आदमी अधर में उठ गया, हम मान लेते हैं कि चमत्कार हो गया। यह कैसा चमत्कार ! यह तो प्रकृति का प्रभाव मात्र है।

हम अपने शरीर को ठोस मानते हैं। ठोस चीज जब ऊपर उठती है तब आश्चर्य होना स्वाभाविक है। क्या यह मानना सही है ? शरीर ठोस कहां है ? यदि शरीर ठोस होता तो सर्दी उसके भीतर कैसे प्रवेश कर लेती। गर्मी कैसे अन्दर जाती ? पसीना भीतर से बाहर कैसे आता ? दूसरी वस्तुओं का प्रभाव, भीतर कैसे जाता ? इतनी सारी वस्तुओं का संक्रमण कैसे होता है ? शरीर ठोस नहीं है। विज्ञान के छात्र जानते हैं कि विश्व के सभी पदार्थों को कूट-पीटकर यदि एक गोली बनाई जाए तो वह एक छोटी-सी ही गोली बन पाएगी।

अतः ठोसता बहुत कम है, पोल ही पोल है। हमारा शरीर पुद्गलों का पिंड है। एक-दूसरे परमाणु के बीच इतना व्यवधान है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। शरीर असंख्य परमाणु का पिंड है। एक-एक परमाणु के बीच बहुत बड़ा व्यवधान होता है। इसका साक्षात् अनुभव हमें शरीर-प्रेक्षा से प्राप्त होता है। शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास पुष्ट होने पर शरीर ठोस होने की भ्रांति टूट जाती है। हमें परमाणु-परमाणु के बीच रही विरलता का अनुभव होने लगता है। हमें एक-एक कण अलग-अलग दीखने लगेगा। जब हम एक-एक कोशिका को पृथक्-पृथक् देखने का अभ्यास करेंगे तो शरीर की ठोसता की भ्रांति मिट जाएगी। हमें लगेगा कि शरीर रुई के पुंज जैसा है, समुद्र के फेन जैसा है। यदि यह विरलता की अनुभूति भर जाती है और प्रत्येक कोशिका पर हमारा ध्यान होने लगता है तब समुदाय या घनत्व या एकत्व की बात टूट जाती है। इसके टूटते ही लघुत्व अपने-आप आ जाता है। हल्कापन आते ही शरीर ऊपर उठ जाता है, अधर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में लटक जाता है। घनत्व की भावना के कारण ही हम जमीन पर टिके हुए हैं। जब विरलता की भावना पुष्ट हो जाती है तब शरीर ऊपर उठ जाता है। यह कोई चमत्कार नहीं, प्रकृति का नियममात्र है।

स्पर्श आठ हैं—शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, हल्का-भारी, और कर्कश-मृदु।

इसमें स्निग्ध-रूक्ष और शीत-उष्ण—ये चार स्पर्श मौलिक हैं। शेष चार स्पर्श संयोग से बनते हैं। अतः हल्का, भारी—यह वस्तु का मूल धर्म नहीं है। यह संयोग के कारण होता है। परमाणुओं की स्थूल परिणति के कारण तथा अपनी अनुभूति के कारण ऐसी स्थूलता आती है। यदि यह परिणति बदल जाए तो स्थूलता समाप्त हो जाती है, गुरुता समाप्त हो जाती है, लघुता भी समाप्त हो जाती है, तब न कोई हल्का होता है और न कोई भारी। केवल अगुरुलघु।

गुरुता और लघुता, भारीपन और हल्कापन—ये मूल बातें नहीं हैं, जब हम इस सत्य को समझ लेते हैं तब आकाश में उठना कोई बड़ी बात नहीं रह जाती है।

जादूगर अनेक चमत्कार दिखाते हैं। जादूगर के लिए कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार उसके लिए है जो जादू नहीं जानता। जब साधारण व्यक्ति भी जादू के नियम जान लेता है तब उसके लिए चमत्कार जैसी कोई बात ही नहीं रहती। सारे चमत्कार समाप्त हो जाते हैं।

कुछेक रसायनों का प्रयोग कर सफेद पन्नों पर कुछ लिखा। अक्षर नहीं दिखेंगे। पन्ने को पानी में डुबोते ही अक्षर अभिव्यक्ति हो जाएंगे। देखने वाले को आश्चर्य-सा लगेगा। किन्तु जो व्यक्ति इस विधि को जानता है उसके लिए कोई चमत्कार नहीं है।

जिस दिन पहली बार आग जली होगी, न जाने कितना बड़ा चमत्कार लगा होगा। अरे! यह क्या? यह प्रकाश! यह ताप! आज आग चमत्कार की वस्तु नहीं है, क्योंकि सभी उसके नियम को जानते हैं। वह कैसे उत्पन्न होती है और कैसे बुझती है, सब जानते हैं।

ध्यान कोई चमत्कार नहीं है। अध्यात्म कोई चमत्कार नहीं है। साधना कोई चमत्कार नहीं है। केवल प्रकृति के नियमों की समझ है। आत्मा, शरीर की शक्ति और उपकरणों की शक्ति—इनके नियमों की समझ है। जो इनके नियमों को समझ लेता है, वह बहुत सारी नयी बातें करने में सक्षम होता है। सामान्य आदमी उन्हें नहीं कर सकता। जो इनके नियमों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को नहीं जानता, वह चमत्कार की भ्रान्तियों में पलता रहता है।

योग कोई चमत्कार नहीं है। यह सामान्य प्रक्रिया है। यह अध्यात्म विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं होता। मनुष्य शरीर से काम लेता है, वाणी से काम लेता है और मन से काम लेता है। योग में कुछ नया करना नहीं होता। शरीर, वाणी और मन से काम लिया जाता है। किन्तु वहां एक बात स्पष्ट समझ लेनी होती है कि किन-किन कारणों से शक्ति सुप्त रहती है और किन-किन कारणों से वह जागती है? जिन-जिन कारणों से वह सुप्त रहती है, क्षीण होती है, उन कारणों को रोकना होता है। जिन कारणों से वह निद्रित रहती है, उन कारणों को रोकना होता है, जिन कारणों से वह निद्रित रहती है, उन कारणों को नष्ट करना होता है। इतना करने से योग सध जाता है, हमें केवल संतुलन स्थापित करना पड़ता है।

शरीर से काम लेना है, किन्तु ऐसी स्थिति भी आनी चाहिए कि शरीर से कोई काम न लें। शरीर से प्रवृत्ति करनी है तो शरीर से निवृत्ति भी करनी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन।

वाणी से काम लेना है तो मौन भी करना है। वाक् और मन का संतुलन।

सोचना है तो नहीं भी सोचना है। चिंतन और अचिंतन का संतुलन।

इस संतुलन के स्थापित होते ही योग सध जाता है। इससे शक्ति-जागरण का मार्ग खुल जाता है। शक्ति को क्षीण करने के मार्ग बंद हो जाते हैं। सक्रियता को अवरुद्ध करते ही शक्ति का व्यय रुक जाता है। शक्ति अर्जित होने लगती है और भीतर विस्फोट होने लगता है। शक्ति जाग उठती है।

- अपनी शक्तियों से परिचित होना, सूक्ष्म की शक्तियों से परिचित होना—यह शक्ति-जागरण का पहला सूत्र है।
- शक्ति के स्रोतों में संतुलन स्थापित करना—यह शक्ति जागरण का दूसरा सूत्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १२

संकलिका

- मृत्यु के साथ तीन तत्त्व निकलते हैं—
  - आत्मा
  - कर्मशरीर
  - तैजस शरीर।
  - एक अमूर्त, दो मूर्त।
  - शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन।
  - पूरी शृंखला है जीवन की—जीव से शरीर, शरीर से वीर्य, वीर्य से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-बंध।
  - समूची सृष्टि के विस्तारक दो तत्त्व—जीवयुक्त शरीर या जीव-मुक्त शरीर।
- शक्ति-जागरण के तीन सूत्र—
  दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास प्रेक्षा, सूक्ष्मश्वास-प्रेक्षा
- श्वास का सम्बन्ध प्राण से, प्राण का सम्बन्ध सूक्ष्म प्राण से और सूक्ष्म प्राण का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से।
- श्वास को पकड़ना समूची प्रक्रिया को पकड़ना है।
- शरीर में अनेक संवादी-केन्द्र हैं। उन पर मन को एकाग्र करने से विभिन्न शक्तियों का विकास होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति-जागरण के सूत्र

वर्तमान युग ने शल्य-चिकित्सा में कीर्तिमान स्थापित किए हैं। मनुष्य (प्राणियों) के शरीर की चीर-फाड़ जितनी इस युग में हुई है उतनी अतीत में नहीं हुई। यदि हुई हो तो भी उसका विशद उल्लेख प्राप्त नहीं है। आज के शल्य-चिकित्सक ने शरीर के प्रत्येक हिस्से को खोलकर देख लिया है, जान लिया है। उससे कोई भी हिस्सा अज्ञात नहीं है। समूचे शरीर की चीर-फाड़ कर लेने पर भी उसे शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिला। बहुत सूक्ष्म निरीक्षण के बाद कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ। इसके आधार पर यह धारणा बनी कि शरीर में शरीर के अतरिक्त और कुछ है ही नहीं।

प्राचीन काल की बात है। महाराजा प्रदेशी ने आत्मा के विषय में कुछ प्रयोग किए थे। वह आत्मा को प्रत्यक्ष देखना चाहता था, जानना चाहता था। उसने जीवित शरीर को तोला, मृत शरीर को तोला। वह जानना चाहता था कि आत्मा का वजन कितना है? वह भारहीन है या भारयुक्त? वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया है। उनके पास सूक्ष्मतम उपकरण हैं। प्राचीन मान्यता में कुछ अन्तर आया है। महाराज प्रदेशी के पास सूक्ष्म उपकरण नहीं थे। वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका।

उसने दूसरा प्रयोग किया। आदमी के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। प्रदेशी पास में बैठा रहा। वह यह देखना चाहता था कि यदि शरीर में आत्मा नाम का कोई तत्त्व होगा तो वह अवश्य ही किसी अवयव से बाहर निकलेगा। वह देखता रहा। कुछ भी नहीं दीखा।

प्रयोग पहले भी होते थे। प्रयोग आज भी होते हैं। किन्तु आज भी यह प्रश्न असमाहित ही है कि आत्मा है या नहीं? उसमें भार है या नहीं? वह दृश्य है या नहीं?

रूस के डॉक्टर किरलियान दम्पति के अन्वेषण से एक नए तथ्य को अभिव्यक्ति मिली। उन्होंने ऑरा का फोटो लिया। ऑरा या आभामंडल स्थूल दृष्टि से दृश्य नहीं होता। उसके लिए अति संवेदनशील कैमरे की आव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्यकता होती है। उसी कैमरे के द्वारा किरलियान दम्पत्ति ने फोटो लेकर यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी के चारों ओर आभामंडल होता है।

डॉ० जे० सी० ट्रस्ट ने भी आभामंडल के फोटो लिये। उससे एक नई दिशा का उद्घाटन हुआ कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त भी इसमें कुछ और है। सूक्ष्म का एक आयाम खुला। आज के वैज्ञानिक सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने में भी सफल हो चुके हैं।

एक व्यक्ति मर गया। मरते ही उसके फोटो लिये गए। कुछ धुंधले और कुछ चमकीले द्रव्य था वह संभवतः तैजस शरीर था, सूक्ष्म शरीर था। जब प्राणी मरता है तब शरीर में से तीन तत्त्व निकलते हैं—आत्मा, कर्म-शरीर और तैजस शरीर। कर्मशरीर और तैजस शरीर—ये आत्मा को कभी नहीं छोड़ते। ये सदा आत्मा के साथ रहते हैं। ये तब तक आत्मा के साथ रहते हैं जब तक कि आत्मा पूर्णरूप से बंधन-मुक्त नहीं हो जाती। अनादि-काल से ये साथ हैं और अनन्तकाल तक साथ रह सकते हैं। तीनों तत्त्व साथ निकलते हैं। इनमें कभी वियोग नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि आत्मा अकेला निकल जाए, कर्मशरीर और तैजस शरीर पीछे रह जाएं। कर्मशरीर निकल जाए और तैजस शरीर रह जाए—ऐसा कभी नहीं होता। तीनों साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ ही शरीर से निकलते हैं। तीनों का घनिष्ठ संबंध है। वह कभी टूटता नहीं।

एक प्रश्न होता है कि तैजस शरीर के फोटो ले लिये गए, परन्तु कर्मशरीर के फोटो क्यों नहीं लिये गए? जैन दर्शन की व्याख्या के अनुसार कर्मशरीर के फोटो नहीं लिये जा सकते। यह संभव भी नहीं है। तीन हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और आत्मा। उनका संबंध इस प्रकार है—आत्मा, कर्मशरीर, तैजस शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर के परमाणु स्थूल हैं। वे हमारी पकड़ में आ जाते हैं। उसके पश्चात् आता है तैजस शरीर। वह स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है। फिर है कर्मशरीर। वह तैजस शरीर से भी सूक्ष्म है। फिर है आत्मा। वह सूक्ष्मतम है, अमूर्त है, अपौद्गलिक है। स्थूल शरीर से चलते हैं तो सूक्ष्मता आगे से आगे बढ़ती जाती है। स्थूल शरीर को देखा। तैजस शरीर को देखना उससे कठिन हुआ। तैजस शरीर को देखा। कर्म शरीर को देखना कठिन हो गया। मान लें कि कर्मशरीर को भी देख लिया तो भी आत्मा को देख पाना असंभव है, क्योंकि वह अमूर्त है, दीखता वही है जो मूर्त है। चाहे फिर वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो या सूक्ष्मतम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो।

शरीर के अणु-अणु को देख लिया। हड्डियां, मांस, मज्जा, रक्त आदि दिखाई दिए। और आगे बढ़े। सूक्ष्मता में प्रवेश किया। वृत्तियों के केन्द्रों की जानकारी हुई। कुछ और आगे बढ़े और सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को न मानने की बात समाप्त हो गई। अतीन्द्रिय द्रष्टाओं ने जो प्रत्यक्ष किया था, जिन्होंने सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकारा था, आज का विज्ञान सूक्ष्म उपकरणों से वहां तक पहुंच गया। उसने तैजस शरीर के अस्तित्व को स्वीकार लिया। आत्मा को मानने की बाधा पूर्णतः समाप्त नहीं हुई है। विज्ञान उस दिशा में गतिशील है, परंतु अभी तक वह किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया है। अतीन्द्रिय द्रष्टाओं की दृष्टि से आत्मा की स्वीकृति में कोई बाधा नहीं है किन्तु विज्ञान के आधार पर उसे पूर्ण स्वीकृति देना संभव नहीं है।

साधना का प्रयोजन है स्थूल शरीर को भेद कर सूक्ष्म शरीर तक पहुंचना। हम पहले स्थूल शरीर के प्रकंपनों को देखें, स्थूल शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों को देखें, स्थूल शरीर में घटित होने वाले जैविक परिवर्तनों को देखें और ग्रंथियों के स्रावों को देखें--समझें।

शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है; एक पर्याय प्रकट हो रहा है, दूसरा पर्याय नष्ट हो रहा है। यह उत्पाद और व्यय का चक्र निरंतर चल रहा है। उस चक्राकार पर्याय के स्रोत को हम देखें। इतना ही देखना पर्याप्त नहीं है। यह तो केवल स्थूल को देखना ही हुआ। हमें सूक्ष्म को भी देखना है। हम देखने की अपनी शक्ति को इतना विकसित करें कि किसी उपकरण या यंत्र की सहायता के बिना भी हम तैजस शरीर को साक्षात् देख सकें, आभा-मंडल को देख सकें और आगे बढ़कर कर्म शरीर को भी देख सकें। उसमें होने वाले कर्म-विपाकों को भी देख लें। इन सबको देखकर हम उसको भी देख लें जहां देखने वाला और देखना दो नहीं रहते। देखने वाला स्वयं देखने वाला ही रहे, द्रष्टा ही रहे। द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, उसे भी देखें। हम चलते-चलते अपने चैतन्य के मूल स्वरूप में चले जाएं, उसमें अवस्थित हो जाएं। बहुत लंबी यात्रा है। अभी हमने यात्रा का प्रारंभ ही किया है। हमें बहुत दूर पहुंचना है। हम उत्साह, वीर्य और शक्ति को बढ़ाएं जिससे कि यात्रापथ निर्बाध हो सके और हम यात्रा को आनन्दपूर्वक संपन्न कर लक्ष्य तक पहुंच सकें।

भगवान् महावीर से पूछा—"भंते! प्रमाद किससे प्रवाहित होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ?"

"वत्स ! प्रमाद योग (प्रवृत्ति) से प्रवाहित होता है।"

"भंते ! योग किससे प्रवाहित होता है ?"

"वत्स ! योग वीर्य से प्रवाहित होता है।"

"भंते ! वीर्य किससे प्रवाहित होता है ?"

"वत्स ! वीर्य शरीर से प्रवाहित होता है।"

"भंते ! शरीर किससे प्रवाहित होता है ?"

"वत्स ! शरीर जीव से प्रवाहित होता है।"

आगे प्रश्न के लिए अवकाश नहीं रहा। प्रश्न समाप्त हो गया। जीव से शरीर, शरीर से वीर्य, वीर्य से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-बन्ध—यह एक पूरा चक्र है, पूरी शृङ्खला है।

वेदांत ने यदि इस बात को स्वीकृति दी कि चेतन अचेतन से पैदा होता है, तो यह सापेक्ष-दृष्टि से सही हो सकती है। भगवान् महावीर ने और क्या कहा ? वे कहते हैं—जीव से शरीर उत्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ—चेतन से अचेतन उत्पन्न होता है। सापेक्ष दृष्टि से देखें तो कोई कठिनाई नहीं है। निरपेक्ष दृष्टि से देखेंगे तो कठिनाई आएगी, अन्यथा नहीं। जीव से अजीव (शरीर) उत्पन्न होता है, यह सापेक्ष कथन सत्य है।

शरीर का निर्माता कौन है ? शरीर का निर्माता एकमात्र जीव है। जीव ने अपने-आप शरीर का निर्माण किया है। यदि जीव न हो तो शरीर का निर्माण हो नहीं सकता। शरीर पर्याप्ति, आहार पर्याप्ति, भाषा, मन और श्वास—इन सबका निर्माता है जीव। ये सब पौद्गलिक हैं किन्तु पुद्गलों की निर्मिति नहीं है। केवल पुद्गल इनका निर्माण नहीं कर सकते। केवल पुद्गल न शरीर का निर्माण कर सकते हैं, न भाषा का निर्माण कर सकते हैं, न आहार, मन और श्वास का निर्माण कर सकते हैं। ये सब पौद्गलिक हैं, किन्तु इनका निर्माता पुद्गल नहीं है। आकाश में वे पुद्गल व्याप्त हैं जिन्हें भाषा के रूप में, मन के रूप में, श्वास के रूप में, शरीर के रूप में और आहार के रूप में बदला जा सकता है। किन्तु वे पुद्गल स्वयं इन सब रूपों में परिवर्तित नहीं हो सकते। जीव ही उनको इन रूपों में परिवर्तित कर सकता है। जीव की बहुत बड़ी सृष्टि है। सूक्ष्म से स्थूल का निर्माण जीव ही करता है। जितने भी दृश्य पदार्थ हैं, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, सबका घटक जीव है। जो पुद्गल हमारे उपयोग में आ रहे हैं, वे सब जीव के ही व्यक्त शरीर हैं। आप खाते हैं तो जीव के शरीर को ही खाते हैं। आप पह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नते हैं तो जीव के शरीर को ही पहनते हैं। जिस पर बैठते हैं, सोते हैं, वे सब जीव के ही शरीर हैं।

हमारे सामने दो ही पदार्थ हैं—जीवयुक्त शरीर या जीवमुक्त शरीर। सृष्टि का सारा विस्तार जीव से ही हुआ है, किन्तु सृष्टि का विस्तार करने वाला यह जीव पर्दे के पीछे रहता है। ईश्वरवादी भी यही मानते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया किन्तु वह स्वयं पर्दे के पीछे रहता है। हम भी भाषा को बदलकर कह सकते हैं कि जीव ने सृष्टि का निर्माण किया, किन्तु वह स्वयं पर्दे के पीछे रहता है। यदि गहराई से देखें तो दोनों बातों में बहुत कम अन्तर है। जीव ईश्वर है। वह कर्ता है। उसने ही सारा निर्माण किया है।

हमें जीव तक पहुंचना है। उस द्रष्टा और ज्ञाता तक पहुंचना है, जो पर्दे के पीछे है। किन्तु वहां तक पहुंचने के लिए पैरों में शक्ति चाहिए। पंगु पहाड़ पर नहीं चढ़ पाता। पंगु लम्बी यात्रा नहीं कर पाता। पैरों में पर्याप्त शक्ति चाहिए। पैरों की सुविधा के लिए हम जिन वाहनों का उपयोग करते हैं, वे भी शक्तिशाली होने चाहिए। शक्ति चाहे पैरों की हो या वाहन की। शक्ति की प्रमुखता है। शक्तिशून्य का उपयोग नहीं है। एक आसन में बैठने के लिए शक्ति चाहिए। साधना करने के लिए शक्ति चाहिए। लम्बे ध्यान के लिए शक्ति चाहिए। शक्तिहीन कुछ नहीं कर पाता।

शक्ति को जागृत कैसे करें? शक्ति-जागरण के सूत्र कौन-से हैं? हम शक्ति-जागरण के सूत्रों को खोजें। उन्हें उपलब्ध कर शक्ति को जागृत करें।

शक्ति-जागरण का पहला सूत्र है—दीर्घ श्वास-प्रेक्षा। यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसे समझने से पहले हम श्वास को समझ लें। श्वास का सम्बन्ध बहुत गहन है। वह बहुत गहराई में चला जाता है। इसे समझने के लिए जड़ को समझना जरूरी है, फूल को समझना जरूरी नहीं है। बहुत साधारण बात है कि जो जड़ को नहीं समझता वह फूल के रहस्य को भी नहीं समझ सकता। जिसका ध्यान जड़ की ओर जाता है, जो जड़ों को समझ लेता है, उसके लिए सब बातें सरल हो जाती हैं।

श्वास की जड़ को समझें। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का सम्बन्ध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से और पर्याप्ति का सम्बन्ध है कर्म-शरीर से। कर्मशरीर श्वास की जड़ है। श्वास इससे जुड़ा हुआ है। जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल में उसके दो शरीर होते हैं—एक तैजस शरीर और दूसरा कार्मण शरीर। इन दोनों शरीर के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति-स्थान तक पहुंच जाती है। उत्पत्ति के पहले क्षण में आत्मा कर्मशरीर के द्वारा आहार ग्रहण करती है। उसे कर्मशास्त्रीय भाषा में ओज आहार कहते हैं और विज्ञान की भाषा में उसे ऊर्जा का आहार कह सकते हैं। हमारा जीवन तब तक रहता है जब तक ओज आहार है, ऊर्जा का आहार है। जब ओज आहार समाप्त हो गया, ऊर्जा समाप्त हो गई तो लाख उपाय करने पर भी जीवन टिकता नहीं, समाप्त हो जाता है। इसके बिना प्राणी जी नहीं सकता। यही है जीवनी शक्ति, जो जीवन को टिकाए रखती है।

ओज आहार या ऊर्जा के आहार का संचय जीव पहले ही क्षण में पूरा कर लेता है। उसके पश्चात् स्थूल शरीर का निर्माण होता है। हमारे स्थूल शरीर का जितना विकास होता है, उसमें जितनी नाड़ियां बनती हैं, जितने चक्र और जितने प्रकार के संस्थान बनते हैं वे सबके सब संवादी हैं, मूल नहीं हैं। उनका मूल है कर्मशरीर में। कर्म शरीर में जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति-विकास के केन्द्र हैं, जितने चैतन्य-केन्द्र हैं, उनका संवादी है यह स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्मशरीर में एक इन्द्रिय का विकास है तो स्थूल शरीर की संरचना में केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का ही विकास होगा, शेष इन्द्रियों का स्थान नहीं बनेगा। उनके केन्द्र नहीं बनेंगे। उनके गोलक निर्मित नहीं होंगे। न आंख का निर्माण होगा, न कान का निर्माण होगा, न नाक का निर्माण होगा और न जीभ का निर्माण होगा। यदि कर्म-शरीर में दो इन्द्रियों का विकास है तो स्थूल शरीर में दो इन्द्रियों के संस्थान बनेंगे; यदि कर्मशरीर में पांच इन्द्रियों का विकास है तो स्थूल शरीर में पांचों इन्द्रियों के संस्थान बन जाएंगे और यदि मन का विकास है तो स्थूल शरीर में मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवों में मन का विकास नहीं है, उनके पृष्ठरज्जु भी नहीं होता और मस्तिष्क भी नहीं होता। पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क उन्हीं में होता है जिनमें मन का विकास होता है। इस प्रकार रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म शरीर के आधार पर होता है। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि सूक्ष्म शरीर है 'बिम्ब' और यह स्थूल शरीर है 'प्रति-बिम्ब'। सूक्ष्म शरीर है 'प्रमाण' और यह स्थूल शरीर है 'संवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण'।

आज के शरीरशास्त्रियों ने शरीर में अवस्थित ग्रंथियों के विषय में बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। कोई आदमी बौना होता है। इसका कारण है कि थाइराइड ग्रन्थि के हारमोंस संतुलित नहीं है। इसी प्रकार लंबा होना, सुन्दर या असुन्दर होना, स्वस्थ या बीमार होना, बुद्धिमान या बुद्धिशून्य होना, विश्लेषण की शक्ति होना या न होना, जितने भी हमारे शारीरिक, मानसिक या मस्तिष्कीय परिवर्तन होते हैं वे सब भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों के स्राव पर निर्भर हैं। ग्रन्थियों के स्राव इन सबको नियंत्रित करते हैं। इनके ह्रास या विकास में ये ही निमित्त हैं।

कर्मशास्त्रीय भाषा में हम इसे समझें। आठ कर्मों में एक कर्म हैं—नामकर्म। उसकी अनेक प्रकृतियां हैं, विभाग हैं। मनुष्य लंबा या बौना होता है—संस्थान नामकरण के कारण। इसी प्रकार सुन्दर-असुन्दर होना, सुस्वर वाला या दुःस्वर वाला होना, सुभग या दुर्भग होना—यह सब नामकर्म की विभिन्न प्रकृतियों के कारण होता है। अध्यात्म के तत्त्ववेत्ताओं ने कर्मशरीर के आधार पर सारा विश्लेषण किया। नामकर्म का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे शरीर का सारा निर्माण, यश-अपयश, आदेश-अनादेश—यह सब नामकर्म के आधार पर होता है। सूक्ष्म शरीर में जिस प्रकार के रसविपाक हो रहे हैं उन रस-विपाकों के आधार पर शरीर का सारा चक्र चलता है साधकों ने ध्यान की गहराई में जाकर सूक्ष्म शरीर से साक्षात् किया और सारी सूक्ष्मताओं का प्रतिपादन किया। विज्ञान अभी तक वहां नहीं पहुंच पाया है। उसकी पहुंच स्थूल शरीर तक हुई और उसने उस स्थूल शरीर की सूक्ष्मतम व्याख्या की। हम दोनों—कर्मशास्त्रीय विश्लेषण और शरीर-शास्त्रीय विश्लेषण को मिलाकर देखें। हमें प्रतीत होगा कि दोनों का स्वर एक है। दोनों एक ही बात बता रहे हैं। केवल भूमिका का भेद मात्र है। धर्मशास्त्रीय भूमिका शरीरशास्त्रीय भूमिका से केवल ऊपर है। कर्मशास्त्र के वेत्ताओं ने मूल बिम्ब को देखकर प्रतिपादन किया और शरीरशास्त्र के वेत्ता प्रतिबिम्ब को देखकर प्रतिपादन कर रहे हैं। वे बिम्ब की भाषा में बोले और ये प्रतिबिम्ब की भाषा में बोल रहे हैं। भाषा तो एक ही होगी। कांच में प्रतिबिम्ब पड़ता है। आदमी बाहर खड़ा है। उसी का प्रतिबिम्ब कांच में पड़ता है। प्रतिबिम्ब वही होगा जो मूल बिम्ब है। इसमें अन्तर कैसे आएगा? बिम्ब कुछ हो और प्रतिबिम्ब कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ही आए, यह नहीं हो सकता। जो बिम्ब है उसी का प्रतिबिम्ब आएगा। कर्मशास्त्रियों ने बिम्ब की भाषा में सारा प्रतिपादन किया और शरीर-शास्त्रियों ने प्रतिबिम्ब की भाषा में सारा प्रतिपादन किया। दोनों में भाषा का अन्तर हो सकता है, तथ्य का नहीं। शरीरशास्त्रीय हारमोंस, सिक्रिशन ऑफ ग्लैन्ड्स्, ग्रन्थियों का स्राव कहते हैं। कर्मशास्त्री कर्मों का रस विपाक, अनुभावबंध कहते हैं। वह भी रस और यह भी रस। भाषा भी मिल गई।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है उसका रसस्राव ग्रन्थियों के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियों को संचालित करता है, प्रभावित करता है। यदि हम इसे उचित रूप में जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर तक कभी नहीं रुकेंगे, और आगे बढ़ेंगे। साधना का यही प्रयोजन है कि हम आगे से आगे बढ़ते जाएं, स्थूल शरीर पर ही न रुकें, उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुंच जाएं। हमें उन रसायनों तक पहुंचना है जो कर्म के द्वारा मिश्रित हो रहे हैं। वहां भी हम न रुकें, आगे बढ़ें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुंचें जो उन स्रावों को मिश्रित कर रहे हैं।

स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल है आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ़कर, आत्मपरिणामों तक पहुंचें।

उपादान और निमित्त को समझे बिना साधना को ठीक से नहीं समझा जा सकता। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा, परिणामों को भी समझना होगा। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरंतर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं तो परिणाम विशुद्ध होते हैं और यदि वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियों को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होते हैं। जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, जो चैतन्य-केन्द्र आहार-संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा को उत्तेजना देते हैं, यदि इन चैतन्य-केन्द्रों की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे।

आज यह परम आवश्यक हो गया है कि इस ओर गहरी खोज हो। खोज के द्वारा यह स्पष्ट हो जाए कि शरीर के किस भाग में मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और शरीर के किस भाग में मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम आ सकते है। यदि यह सारा स्पष्ट हो जाए तो हम हमारी सारी वृत्तियों पर नियंत्रण पा सकते हैं। और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओं में प्रवेश कर सकते हैं, अशुभ लेश्याओं से दूर रह सकते हैं। किन्तु यह स्थिति अन्वेषण-सापेक्ष है।

आज ऐसे वैज्ञानिकों की आवश्यकता है जिनकी अध्यात्म में आस्था हो, रुचि हो और जिनमें साथ ही साथ वैज्ञानिक पद्धति का स्पष्ट बोध हो, वैज्ञानिक तथ्यों की अवगति हो। ऐसे वैज्ञानिक यदि शरीर के प्रत्येक अवयव की छानबीन करें, आत्मा के परिणाम की दृष्टि से और वृत्ति की दृष्टि से, तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। इसके फलस्वरूप अनेक नए-नए तथ्य सामने आ सकते हैं।

मैंने एक प्राचीन ग्रंथ देखा। वह गुजराती-मिश्रित राजस्थानी भाषा में लिखा हुआ था। उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रतिपादित थे। पता नहीं लेखक ने उन तथ्यों का अनुभव कर फिर उनको लिपिबद्ध किया या किन्हीं दूसरे ग्रन्थों के आधार पर उन्हें लिखा। कुछ भी हो, वह ग्रन्थ कुछेक नई जानकारी प्रस्तुत करता है। उसमें लिखा है—नाभि कमल की अनेक पंखुड़ियां हैं। जब आत्म-परिणाम अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब माया की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है।

जब आत्म-परिणाम नाभि-कमल से ऊपर उठकर हृदय-कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तियां उभरती हैं।

जब आत्म-परिणाम दर्शन-केन्द्र पर पहुंचता है तब चौदह पूर्वों के ग्रहण करने की क्षमता जागती है।

जब आत्म-परिणाम ज्ञान-केन्द्र पर पहुंचता है तब केवल ज्ञान की क्षमता जागृत हो जाती है। अमुक स्थान पर आत्म-परिणाम पहुंचता है तो अवधिज्ञान की क्षमता जागती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस प्रतिपादन में एक बहुत बड़ी सचाई का उद्घाटन होता है कि शरीर में अनेक संवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रों पर मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को एकाग्र कर, मन से उनकी प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारों का उद्घाटन कर सकते हैं, ऐसी खिड़कियां खोल सकते हैं, जिनके द्वारा चेतना की रश्मियां बाहर निकल सकें और अपघटित को घटित कर सकें।

हम मूल को समझें। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का संबंध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से। यह जीवन के पहले ही क्षण में निर्मित हो हो जाता है प्राण को भी प्राण चाहिए। जो सूक्ष्म शरीर का प्राण है, उसे भी प्राण चाहिए। वह प्राण आकाश-मंडल से प्राप्त होता है। सारे शरीर में, सारे आकाश-मंडल में प्राणचक्र फैला हुआ है, आहार पर्याप्ति के योग्य वर्गणाएं सारे आकाश में फैली हुई हैं। ऊर्जा की या प्राणशक्ति की वर्गणाएं फैली हुई हैं, वे प्राप्त होती हैं श्वास के माध्यम से। हम केवल श्वास ही नहीं लेते, उसके साथ प्राण भी लेते हैं। शरीरशास्त्र के अनुसार भी जब हम श्वास लेते हैं तो ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं, नाइट्रोजन लेते हैं और भी न जाने कितनी गैसें और कितने तत्त्व ग्रहण करते हैं। किन्तु कर्मशास्त्र की भाषा में हम प्राण लेते हैं। श्वास के साथ जाने वाला प्राण उस प्राण को संवर्द्धित करता है, पोषण देता है।

जैन आगमन भगवती और प्रज्ञापना में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव कब आहार लेता है और कितनी दिशाओं से आहार लेता है? प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व दिशा और अधोदिशा—छहों दिशाओं से आहार लेता है। वहां केवल आहार का प्रसंग ही नहीं है। रोम आहार भी अल्प मात्रा में होता है। वहां आहार का अर्थ ही है—प्राणतत्त्व का आहार। जीव जीवित रहने के लिए निरंतर बाहर से आहरण करता है, वह निरंतर प्राणऊर्जा लेता है। यह आहरण कभी नहीं रुकता।

ऊर्जा या प्राण के आहरण का सशक्त माध्यम है श्वास। यह निरन्तर चलता है तो आहरण भी निरंतर चलता है। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का संबंध है सूक्ष्म प्राण से और सूक्ष्म प्राण का संबंध है सूक्ष्म शरीर से, कर्म शरीर से। हम दीर्घश्वास लेते हैं, दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि हम शक्ति के मूल स्रोतों को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। दीर्घश्वास को देखने की बात बहुत छोटी-सी लगती है, किन्तु यह बहुत गहरी बात है। एक अंगुली को पकड़कर समूचे घर के स्वामी बन जाने की बात है। हम इस प्रक्रिया में केवल प्राण को ही नहीं पकड़ रहे हैं, समूची

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणशक्ति को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे-जैसे हम श्वास को दीर्घ करते हैं, हम पूरी ऊर्जा को खींचते हैं और उसे देखते हैं तो शक्ति के मूल स्रोत को जागृत कर लेते हैं, जिसके विस्फोट के द्वारा हमें नई-नई उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। नई दिशाओं के उद्घाटन के लिए श्वास-प्रेक्षा बहुत ही महत्त्व पूर्ण है। इसे सामान्य न मानें।

जैसे दीर्घश्वास-प्रेक्षा शक्ति जागरण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वैसे ही समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा भी शक्ति-जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे से निकालना—यह है समवृत्ति श्वास। इसे देखना, इसके साथ मन का योग करना महत्त्वपूर्ण बात है। मनोकायिक चिकित्सक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि समवृत्ति श्वास के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जागृत किया जा सकता है। उन्होंने यहां तक प्रतिपादित किया है कि इसके पुष्ट अभ्यास से अतीन्द्रियज्ञान उपलब्ध किया जा सकता है। क्लेवोयेन्स की उपलब्धि इससे संभव हो सकती है। समवृत्ति श्वास का सतत अभ्यास अनेक उपलब्धियों में सहायक हो सकता है।

श्वास के अनेक प्रयोग हैं—दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास-प्रेक्षा, सूक्ष्म-श्वास-प्रेक्षा आदि। और भी अनेक प्रयोग हैं। मूल बात हमें ज्ञात हो जानी चाहिए कि श्वास बहुत ही मूल्यवान् है। इसे छोटा न समझा जाए। यदि यह छोटी-सी बात भी समझ में आ जाती है तो साधना की बड़ी-बड़ी बातें स्वतः समझ में आ जाएंगी। मनुष्य की कठिनाई यह है कि वह सदा ध्वजा को देखता है, नींव को नहीं देखता। अध्यात्म की साधना में श्वास को देखना नींव को देखना है। यह नींव का पत्थर है। इसी पर साधना का महल खड़ा किया जा सकता है।

यदि हम श्वास की बात को ठीक से पकड़ लेते हैं तो अगले द्वार अपने-आप उद्घाटित होते चले जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १३

संकलिका

- विश्व में सब कुछ यौगिक, शुद्ध कुछ भी नहीं।
- ज्ञान अनन्त, भाषा सान्त, अनुभव अनन्त।
- रूपी सत्ता, अरूपी सत्ता।
- सूक्ष्म रचना—चतुःस्पर्शी पुद्गलों की संरचना।
- स्थूल रचना—अष्टस्पर्शी पुद्गलों की संरचना।
- कोशिका की रचना अत्यन्त सूक्ष्म, जटिल और आश्चर्यजनक।
- कर्म-शरीर की कोशिकाएं—एक वर्ग इंच में अरबों-खरबों।
- ज्ञान की क्षमता का होना एक बात है। ज्ञान की अभिव्यक्ति को झेलना दूसरी बात है।

स्थूल शरीर की क्रियाओं का ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र—वे क्रियाए क्यों—विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं।

स्थूल शरीर और कर्म-शरीर का सेतु है—तैजस शरीर।

भाषा अचेतन, भाषायोग चेतन।

मन अचेतन, मनोयोग चेतन।

काया अचेतन, कायायोग चेतन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल और सूक्ष्म की मीमांसा

विश्व में जितने प्राणी हैं, सब यौगिक हैं, कोई भी शुद्ध नहीं है। जीव है। शरीर है। चेतना शरीर के बिना अभिव्यक्ति नहीं होती और शरीर चेतना के बिना निर्मित नहीं होता। चेतना और शरीर—इन दोनों का योग है, इसलिए सभी प्राणी यौगिक हैं। शुद्ध चेतना जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती। यह मात्र भावी की कल्पना हो सकती है। न जाने जीव और शरीर, चेतना और शरीर कब से साथ हैं? इसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। यह कब से है? क्यों है? कैसे है?—ये प्रश्न अनुत्तरित ही हैं: इसके लिए इतना मात्र कहा जा सकता है कि यह सब अनादि काल से है। वह काल जिसका आदि नहीं है, शुरूआत नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे पास इसका कोई उत्तर नहीं है। यह योग अनादि है। ऐसा लगता है कि जीव और पुद्गल में एक समझौता है, पुद्गल की एक शर्त है जीव के साथ कि तुम मेरी सीमा से बाहर नहीं जा सकते, मेरे प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नहीं हो सकते। जीव अनादिकाल से शरीर के प्रभाव-क्षेत्र में रह रहा है, उसकी सीमा से मुक्त नहीं हो रहा है। जीव की भी एक शर्त है पुद्गल (शरीर) के साथ कि तुम मेरे मौलिक अस्तित्व को निर्मूल नहीं कर सकते, विभक्त नहीं कर सकते। शरीर अपनी शर्त को निभा रहा है। वह जीव के मौलिक स्वरूप को विकृत नहीं कर रहा है। जीव मौलिक स्वरूप में है, पर वह शरीर के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नहीं है। शरीर जीव पर अपना प्रभाव डाल रहा है, किन्तु उसकी मौलिक सत्ता को कभी निर्मूल नहीं कर पाता। इसी आधार पर बहुत कुछ बताया गया है।

जानना एक बात है और उसे बताना दूसरी बात है। जानना स्वगत होता है। बताने में भाषा का माध्यम लिया जाता है। भाषा की अपनी सीमा है अतः बताना भी सीमित हो जाता है। जानने को अनन्त है किन्तु भाषा में अनन्त जैसा कुछ भी नहीं है। भाषा में सीमित अभिव्यक्ति ही हो सकती है। भाषा अनन्त नहीं और भाषा में जो प्रतिपाद्य होता है, वाच्य होता है, वह अनन्त हो ही नहीं सकता। जब भाषा अनन्त नहीं, सीमित है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सान्त है, तब वह सीमित तत्त्व असीमित या अनन्त को अपने माध्यम से कैसे अभिव्यक्त कर सकता है ? सान्त में अनन्त को कैसे उतारा जा सकता है। जो जाना गया, वह सारा का सारा बताया जा सके, ऐसा कोई माध्यम हमारे पास नहीं है। अनन्त की चर्चा को हम छोड़ दें। किन्तु प्रतिदिन होने वाले ध्यान के अनुभवों को भी हम भाषा का परिधान नहीं दे सकते। उनको भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर सकते। जो कुछ बताया जाता है वह अधूरा ही होता है। हम प्रतीक के रूप में उसे थोड़ी-सी अभिव्यक्ति दे पाते हैं, पूरी अभिव्यक्ति नहीं दे पाते। अनुभवों को भाषा के माध्यम से बाहर नहीं लाया जा सकता। कोई माध्यम नहीं है, कोई वाहन नहीं है, जिस पर अनुभव अपनी यात्रा कर दूसरों तक पहुंच सके।

जब सुख की अनुभूति होती है तब मुख-मुद्रा प्रसन्न हो जाती है। जब क्रोध की अनुभूति होती है तब भौंहें तन जाती हैं, सारा शरीर तनाव ग्रस्त हो जाता है। यह सुख की या क्रोध की पूरी अभिव्यक्ति नहीं है। उसका केवल एक अंश मात्र ही अभिव्यक्त हो पाया है। न पूरा सुख अभिव्यक्त हुआ है और न पूरा क्रोध अभिव्यक्त हुआ है। उनका केवल एक अंश ही बाहर फूटा है।

तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। जीव वह है जिसमें चेतना है। जीव वह है जो अरूपी सत्ता है। जीव और अजीव के बीच जो भेद-रेखा है वह है चेतना। चेतना दोनों को विभक्त करती है। जिसमें चेतना है वह जीव और जिसमें चेतना नहीं है वह अजीव। यह एक बात है।

दूसरी है—अरूपी सत्ता। अरूपी—यह शब्द हमारे लिए बिलकुल अपरिचित है। यह अपरिचित इसलिए है कि हम इन्द्रियों के जगत् में जीते हैं, इन्द्रियों से परिचित हैं। हम मनस् और बुद्धि के जगत् में जीते हैं, उनसे परिचित हैं। बुद्धि, मन और इन्द्रियों के पास अरूपी को पहचानने का कोई साधन नहीं है, जानने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए यह 'अरूपी' शब्द बहुत अपरिचित है। इस शब्द की खोज उसी व्यक्ति ने की जिसने इन्द्रियों के परे, मन और बुद्धि के परे जाकर कुछ देखा, जाना। अवधिज्ञानी भी अरूपी को देख नहीं पाते, नहीं जान पाते। मनः-पर्यवज्ञानी भी अरूपी को नहीं देख सकता, जान सकता। अवधिज्ञान और मनः-पर्यवज्ञान—ये दोनों अतीन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान हैं, पर ये भी अरूपी को जानने-देखने में असमर्थ हैं। अतीन्द्रियज्ञान की एक अन्तिम सीमा है जहां पहुंचकर व्यक्ति ने उद्घोषणा की कि हम जिस जगत् में जी रहे हैं वहां एक ऐसा भी तत्त्व है जो अरूपी है। जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—कुछ भी नहीं है। जिसमें संघटन और विघटन नहीं है। जो न जुड़ता है और न बिखरता है। जो न स्कंध बनता है और न कुछ और। वह आकाश का अवगाहन करता है पर उसको रोकता नहीं। वह अप्रतिहत है। ऐसा एक भी स्थान नहीं जहां वह न हो, जहां वह न रहे। यह है अरूपी सत्ता।

अरूपी सत्ता और चेतना सत्ता—दोनों इन्द्रिय और मन के परे हैं। यदि हम इन्हें इन्द्रियों, मन और बुद्धि के माध्यम से जानना चाहें तो हम कभी नहीं जान पायेंगे। क्योंकि इन्द्रिय, मन या बुद्धि के ये विषय नहीं बनते। जो जिसका विषय नहीं है, उसे उसके द्वारा समझने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, प्रयत्न की कोई सार्थकता नहीं हो सकती। हम उसी के द्वारा उस विषय को जान सकते हैं जो जिसका साधन बन सके, गमक और ज्ञापक बन सके। दूसरे-दूसरे साधनों की क्षमता के परे की बात है। उन्हें कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

यदि कोई व्यक्ति चेतनसत्ता को स्वीकार नहीं करता, अरूपी सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो कोई आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य तब हो जब बुद्धि से जानने की बात भी बुद्धि से न जानी जाए। तब माना जा सकता है कि इस व्यक्ति में बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है। इसके लिए उपाय करना चाहिए। एक मंदबुद्धि का आदमी है और एक प्रखर बुद्धि का आदमी है। दोनों में तरतमता है। इस तरतमता को मिटाने के लिए प्रयत्न होता है। बुद्धि का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। एक व्यक्ति की स्मृति कमजोर है और दूसरे व्यक्ति की स्मृति प्रखर है। तब कमजोर व्यक्ति की स्मृति को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु जहां कोई तारतम्य का प्रश्न ही नहीं है, वहां विकास की बात प्राप्त नहीं होती। बुद्धि और स्मृति के विकास को चरम बिन्दु तक पहुंचाया जा सकता है, फिर भी अरूपी तत्त्व को नहीं देखा जा सकता। किन्तु अतीन्द्रियज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचकर जिन्होंने इस अरूपी सत्ता का साक्षात्कार किया, वह बुद्धि के परे का ज्ञान था।

यह शरीर हमारी इन्द्रियों का विषय है, बुद्धि का विषय है। हम इसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों द्वारा देख सकते हैं और बुद्धि के द्वारा इसकी व्याख्या कर सकते हैं। प्राचीन-काल में भी शरीर की व्याख्या बहुत की गई और आज के शरीरशास्त्रियों ने भी इसका बहुत विश्लेषण किया है। शरीर के एक-एक अवयव की सूक्ष्मतम व्याख्या आज प्राप्त है। शरीर का छोटा या बड़ा—ऐसा कोई भी अवयव नहीं, जिसका सूक्ष्मतम विश्लेषण आज उपलब्ध न हो। प्राचीन काल में जो विश्लेषण किया गया वह देखने के आधार पर या अनुमान के आधार पर किया गया था। आज का विश्लेषण वैज्ञानिक परीक्षणों और प्रयोगों के आधार पर हुआ है। शरीर अचेतन है, रूपीसत्ता है। वह दीखता है, इन्द्रिय-गम्य है, इसलिए उसकी इतनी व्याख्याएं संभव हैं; आज एक-एक कोशिका की संरचना भी अज्ञात नहीं है।

डॉ० हुक शीशी का कार्क देख रहा था। उसने देखा कि कार्क में जालियां-ही-जालियां हैं। वह जालियों से संकीर्ण है। वह आश्चर्य में डूब गया। खुली आंखों से जो कार्क केवल एक कार्कमात्र ही दीख रहा था, एक भी जाली नहीं दीख रही थी, वह माइक्रोस्कोप से देखा खाने पर जालीदार दीखने लगा।

शरीर को देखा। उसमें असंख्य प्रकोष्ठ दीखे। उनका नाम रखा 'सैल्स' (Cells)। शरीर में और भी अनेक आश्चर्यजनक तत्त्व देखे। कोशिकाओं की संरचना देखी। आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

यह सारी स्थूल संरचना की कहानी है। यह हमारे स्थूल शरीर की बात है। हम आगे चलें। सूक्ष्म शरीर को देखने का प्रयत्न करें।

पौद्गलिक रचना दो प्रकार की होती है। एक है सूक्ष्म रचना और दूसरी है स्थूल रचना। जैन पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सूक्ष्म रचना अर्थात् चतुःस्पर्शी पुद्गलों की रचना और स्थूल रचना अर्थात् अष्टस्पर्शी पुद्गलों की रचना। जिसमें आठ स्पर्श होते हैं वह स्थूल होता है और जिसमें केवल चार स्पर्श होते हैं वह सूक्ष्म होता है। स्थूल अष्टस्पर्शी है और सूक्ष्म चतुःस्पर्शी। अष्टस्पर्शी पौद्गलिक संरचना को देखा जा सकता है। चर्मचक्षुओं के द्वारा तथा वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा उसे पकड़ा जा सकता है। किन्तु चतुःस्पर्शी पौद्गलिक संरचना को देखना या जानना बहुत कठिन है, सरल नहीं है।

मनोविज्ञान तीन प्रकार का मन मानता है—अवचेतन मन, चेतन मन और अचेतन मन। तीनों मस्तिष्क के ही विभाग हैं। सूक्ष्म शरीर की सत्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे परे हैं। आज तक जो कोशिकाओं और गुणसूत्रों की व्याख्या हुई है वह स्थूल शरीर के आधार पर ही हुई है। कोशिका की अत्यन्त सूक्ष्म संरचना को देखकर वैज्ञानिक आश्चर्य में डूब गए। एक सूक्ष्म कोशिका और इतनी जटिल संरचना। एक वर्ग इंच में ग्यारह लाख सतहत्तर हजार पांच सौ कोशिकाएं होती हैं। इतनी सूक्ष्म है इनकी संरचना! इनका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। जितने भी आनुवंशिक गुण और अवगुण हैं, उन सबका नियंत्रण ये छोटी-छोटी कोशिकाएं करती हैं। उनका लेखा-जोखा रखती हैं। पहली कोशिका जब नष्ट होती है और दूसरी कोशिका का निर्माण होता है तब पहली पीढ़ी वाली कोशिका अपनी भावी पीढ़ी की कोशिका को सारा दायित्व सौंप जाती है, सारी सूचनाएं दे जाती है। क्या करना है, कैसे करना है, कब करना है—यह सारा बता जाती है। यह कितना आश्चर्यकारी कार्य है! प्रश्न होता है कि यह घटित कैसे होता है? आज का शरीर-विज्ञान भी इस गुत्थी को नहीं सुलझा पा रहा है। शरीर-वैज्ञानिकों ने कुछेक युक्तियां निकाली हैं और इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न किया है। विविध प्रकार की कोशिकाएं नाना प्रकार के प्रोटीनों का उत्पादन करती हैं और प्राकृतिक जगत् में विविधता बनाए रखती हैं। किन्तु आज भी यह समस्या सुलझ नहीं पाई है। यह एक बिन्दु है। इस पर खड़े होकर यदि हम आगे की ओर देखते हैं तो पता चलता है कि हमारे पास इस गुत्थी को सुलझाने का एक साधन है। वह है—कर्मशरीर। यह सूक्ष्मतम है। सारी व्यवस्था इसी से आ रही है। यह व्यवस्था स्वतः चालित है। अनन्त-अनन्त परमाणु हैं। सबका संचालन स्वतः होता है।

कर्म पुद्गलों का स्कंध अनन्तप्रदेशी होता है। वैसा स्कंध ही कर्म योग्य होता है। कर्म के अनन्तप्रदेशी स्कंध आत्मा के प्रदेशों से चिपके हुए हैं। इतना सूक्ष्म जगत्! इतना विशाल जगत्! एक वर्ग इंच में ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएं होती हैं किन्तु यदि सूक्ष्म शरीर—कर्मशरीर—की कोशिकाओं का लेखा-जोखा किया जाए तो एक वर्ग इंच में अरबों-खरबों कोशिकाओं का अस्तित्व ज्ञात होगा।

स्थूल या सूक्ष्म—सारे नियमन सूक्ष्म शरीर से होते हैं। वह नियंता है नियमन करने वाला है उसके आठ विभाग हैं। नियमन के आठ विभाग हैं। सब अपना-अपना काम संभाले हुए हैं।

एक विभाग है—ज्ञान के नियमन का। वह जीव के ज्ञान का नियमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। वह इसका नियमन करता है कि इतना ज्ञान बाहर प्रकट होना चाहिए, इतना नहीं।

हमारे शरीर में भी एक व्यवस्था है। व्यक्ति को जब ज्यादा कष्ट होता है तब उसे मूर्च्छा आ जाती है। जब व्यक्ति पूरे कष्ट को सहन नहीं कर पाता तब वह मूर्च्छित हो जाता है। यह प्रकृतिगत व्यवस्था है। जब तक व्यक्ति कष्टों को सहन करने की सीमा में रहता है तब तक उसे कोई मूर्च्छा नहीं आती। जब कष्ट सीमा को पार कर जाता है, तब प्रकृति इसे मूर्च्छित कर देती है, जिससे कि उसे कष्टानुभूति न हो।

वैसे ही ज्ञान की व्यवस्था भी स्वतःचालित है। किस व्यक्ति को कितना ज्ञान मिलना चाहिए, कौन व्यक्ति कितने ज्ञान को वहन कर सकता है—यह सब सूक्ष्म शरीर—कर्म शरीर की व्यवस्था है। यदि इस व्यवस्था का अतिक्रमण होता है तो व्यक्ति पागल बन जाता है, मूर्च्छित हो जाता है। उस व्यक्ति में ज्ञान की क्षमता इतनी जागृत है तो उसे उतना ही ज्ञान प्राप्त होगा, कम या अधिक नहीं। अधिक को झेलने की क्षमता नहीं है तो अधिक टिक नहीं पाएगा।

हम पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति को जातिस्मृतिज्ञान (पूर्वजन्मज्ञान) हुआ। उसे पूर्वजन्मों की स्मृति हुई। अब उसका जीना दूभर हो गया। क्योंकि वह प्रत्यक्ष देखता है कि उसने यह किया, वह किया। उससे लड़ा, इससे लड़ा। उसे मारा, इसे मारा। वह घबरा जाता है। वह पागल हो जाता है। ऐसा इसीलिए होता है कि वह उन स्मृतियों के भार को झेल नहीं सकता। उसमें इतनी क्षमता विकसित नहीं है।

किसी की तीसरी आंख खुलती है। वह देखता है—अमुक दस दिन बाद मर जाएगा। अमुक का आज एक्सीडेंट होगा। अमुक का पति मर जाएगा। ऐसा होगा, वैसे होगा। संसार के सारे झंझट उसके सामने आ खड़े होते हैं। वह घबरा जाता है। घबराहट इसलिए होती है कि उसमें इन तथ्यों को झेलने की क्षमता नहीं होती।

जब तक झेलने की क्षमता पूरी नहीं जागती तब तक यदि ज्ञान अधिक प्रकट होता है तो संतुलन बिगड़ जाता है। बिजली के वोल्टेज ज्यादा होते हैं और यदि इंसुलेशन नहीं होता है तो खतरा ही खतरा है। जब ज्ञान के वोल्टेज, चेतना के वोल्टेज ज्यादा जाग जाते हैं और यदि क्षमता के विकास का इंसुलेशन नहीं होता है तो व्यक्ति उसे झेल नहीं पाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान भी उसे पागल बना देता है, मूर्च्छा में डाल देता है। संतुलन आवश्यक होता है।

ज्ञान का विभाग इस बात को संभालता है कि ज्ञान उतना ही बाहर जाना चाहिए जितना कि क्षमता का विकास है। पारिभाषिक शब्दावली में कहा गया है कि जितना अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होगा, उतना ही ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा, उतना ही ज्ञान काम में आएगा।

शिष्य ने पूछा—"भंते ! इन्द्रियों की उपलब्धि कैसे होती है ?"

गुरु ने कहा—"ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों की उपलब्धि होती है। अन्तराय कर्म इंसुलेशन की भांति जुड़ा ही रहेगा। यदि अन्तराय कर्म को छोड़कर केवल यह कहा जाए कि इन्द्रियों की उपलब्धि का मूल हेतु है—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षयोपशम तो यह उत्तर अधूरा होगा। ज्ञान का विभाग और दर्शन का विभाग ज्ञान और दर्शन का नियंत्रण करता है तो अन्तराय का विभाग क्षमता का नियंत्रण करता है। वह इस बात को सोचता है कि व्यक्ति की मूर्च्छा कितनी टूटी, पागलपन कितना टूटा, मोह का आवरण कितना हटा। मोह प्रबल हो और यदि क्षमता को अधिक जगा दिया जाता है तो संतुलन बिगड़ जाता है। फिर अणुबम बनता है और विश्व के संहार की बात सामने आ जाती है।

शक्ति का विकास उतना ही हो, जितना कि मोह टूटा है। ऐसा होने पर ही संतुलन बना रह सकता है।

जब ज्ञान का विकास, दर्शन का विकास और क्षमता का विकास संतुलित होता है तब उसके अनुपात में मूर्च्छा टूटती है। वीतरागता का विकास या राग-द्वेष के मल से मुक्ति पाने का विकास भी उसके संतुलन से प्रकट होता है।

ये चारों विभाग—ज्ञान का विभाग, दर्शन का विभाग, अन्तराय का विभाग और मोह का विभाग—अपना-अपना काम संभाले हुए हैं। सूक्ष्म शरीर की संरचना में इन चारों का बहुत बड़ा योग है। चारों विभागों के कार्य स्वतः संचालित हो रहे हैं या ये चारों इन कामों को करते हैं, आप किसी भी भाषा में कहें, कोई अन्तर नहीं आता। सूक्ष्म शरीर के चार विभाग और हैं—नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय। इन सबमें बड़ा विभाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—नाम का। हमारा स्थूल शरीर नामकर्म के कारण बनता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को बनाए बिना नहीं रहता, क्योंकि इसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए कुछ न कुछ चाहिए। सारी अभिव्यक्ति स्थूल शरीर के माध्यम से होती है, इसलिए स्थूल शरीर का निर्माण होता है। नामकर्म के उपविभागों की संख्या भी सबसे अधिक है। किसी कर्म के विभाग हैं आठ, किसी के पांच, किसी के दो तो किसी के अट्ठाईस। नामकर्म के विभाग सौ से अधिक हैं। उनमें एक विभाग है—निर्माण नामकर्म। यही शरीर का निर्माता है। यह एक शिल्पी है। कोशिकाओं का निर्माता भी यही है। वह पुरानी कोशिकाओं को नष्ट कर रहा है और नई कोशिकाओं का निर्माण कर रहा है। वह जीर्ण-शीर्ण अंगों को नष्ट कर नये अंगों का निर्माण कर रहा है। वह सदा कर्मरत है, जागृत है, निरन्तर काम में लगा रहता है। वह दोनों काम करता है—उत्पन्न भी करता है और व्यवस्था भी करता है। वह नए अवयव को उत्पन्न करता है, उसके परिणाम का निश्चय करता है कि वह कितने भाग में होगा और उसकी व्यवस्था भी करता है।

आज का शरीर विज्ञान बतलाता है कि कोई व्यक्ति काला है और कोई गोरा। इसका नियामक सूत्र क्या है? उसका मानना है कि यह सब गुणसूत्र के द्वारा होता है। कर्मशास्त्री कहते हैं कि नामकर्म का एक विभाग है 'वर्ण नामकर्म'। इसी के द्वारा प्राणियों का वर्ण निर्धारित होता है। यही नियामक है।

जीन के आविष्कार ने वैज्ञानिक जगत् में हलचल पैदा कर दी है। उसमें सारे संस्कार सूक्ष्म शरीर से प्रवाहित होकर आते हैं और इस स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं।

आज एक नई खोज और हुई है। एक व्यक्ति कमरे में बैठा है। वह एक घंटा उस कमरे में बैठकर चला गया। बाद में उस कमरे के वायुमंडल के विश्लेषण के आधार पर उस व्यक्ति को पहचान लिया जाता है।

सूंघने के आधार पर अपराधी को पहचानने में कुत्तों का उपयोग हो रहा है। वैज्ञानिकों ने गंध-विश्लेषकों का निर्माण किया है। उसके आधार पर अमुक क्षेत्र के वायुमंडल को सूंघकर वह बता देता है कि अमुक प्रकार का व्यक्ति यहां आया था, बैठा था आदि-आदि। यह शरीर की गंध के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार पर होता।

तीर्थंकरों के लिए कहा जाता है कि उनके शरीर से पद्मकमल जैसी सुरभि-गंध निकलती है। यह उनकी विशेषता मानी गयी है। प्रत्येक प्राणी के शरीर से गंध निकलती है। वह अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है। सबके शरीर से पद्म जैसी ही गंध निकले यह आवश्यक नहीं है।

स्त्रियों के वर्णन में प्राचीन ग्रंथों में यह उल्लेख है कि जो स्त्री पद्मिनी होती है, उसके शरीर में पद्म जैसी सुगंध आती है। उस स्त्री के माध्यम से अनेक प्रकार की विद्याओं की सिद्धि की जाती थी।

प्रत्येक प्राणी के शरीर से गंध निकलती है। प्रत्येक व्यक्ति में हथेली और पैरों के तलवे से गंध प्रवाहित होती है पसीने के माध्यम से। चोरों को इस गंध के आधार पर पकड़ा जाता है। उनके हथेली और पैरों से निकलने वाले पसीने के आधार पर यह होता है। आज के चोर इससे बचने के लिए हाथ में मोजे और पैरों में जूते पहनकर चोरी करते हैं। किन्तु गंध के परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे इनको पार कर पृथ्वी पर या पदार्थ पर अपना चिह्न छोड़ जाते हैं।

नामकर्म की एक प्रकृति है—गंध नामकर्म। यह एक विभाग है। इसके द्वारा ही गंध का स्रवण होता है। इसी प्रकार नामकर्म के और-और विभाग भी हैं—रस नामकर्म, स्पर्श नामकर्म, आदि-आदि। हमने नामकर्म को भुला दिया है। मैं कई बार सोचता था कि नामकर्म की प्रकृतियों का इतना लंबा जाल क्यों बिछाया गया है—आतप नामकर्म, उद्योत नामकर्म, पराघात नामकर्म, श्वासोच्छ्वास नामकर्म, शरीर नामकर्म, गति नामकर्म। इतने नामों का प्रयोजन क्या है? शरीर के साथ ये सारी बातें जुड़ी हुई हैं। सामने दीख रही हैं। फिर इनको गिनाने का प्रयोजन ही क्या है? कोई नई बात बताते। नई खोज प्रस्तुत करते।

ऐसा सोचना अज्ञान का द्योतक है। ग्रन्थियों के आधार पर जब इस कर्मशास्त्रीय वर्णन को समझने का प्रयत्न किया जाता है तो यह सचाई सामने आ जाती है कि ग्रन्थियां जो काम हमारे स्थूल शरीर में कर रही हैं वे सारे कार्य सूक्ष्म शरीर में भी हो रहे हैं। जो कार्य सूक्ष्म शरीर में हो रहे हैं, उनके ही संवादी कार्य स्थूल शरीर में हो रहे हैं। सूक्ष्म शरीर नियंता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास का नियन्त्रण सूक्ष्म शरीर करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारी प्रज्ञा का नियन्त्रण सूक्ष्म शरीर करता है। हमारी इन्द्रियों की शक्ति का तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का नियन्त्रण सूक्ष्म शरीर करता है। हमारी सारी शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर। दूसरों को चोट पहुंचाने की क्षमता या दूसरों से चोट न खाने की क्षमता का नियन्त्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस प्रकार नामकर्म के अनेक उपविभाग हैं। उनका अपना-अपना कार्य है। सब कार्य स्वतःसंचालित हैं।

स्थूल शरीर में जो क्रियाएं हो रही हैं, विज्ञान उनको जानता है। किन्तु वह यह नहीं जानता कि वे क्यों हो रही हैं। वह उन क्रियाओं के पीछे कारण-शृंखला को नहीं जानता। वह यदि इस बात को भी समझ पाता कि स्थूल शरीर से आगे सूक्ष्म शरीर का भी अस्तित्व है, जिसके द्वारा सारी व्यवस्थाएं हो रही हैं, जो एक कंट्रोल-रूप की तरह हैं, जो सारे नियंत्रण कर रहा है—यदि यह तथ्य समझ में आ जाए तो बहुत सारी समस्याएं सुलझ सकती हैं।

शरीर नामकर्म अनेक शरीरों का निर्माण करता है। एक है स्थूल शरीर। यह हाड़-मांस और रक्तमय शरीर है। एक है तैजस शरीर। यह हमारा विद्युत् शरीर है। सारी व्यवस्था के संचालन में इसका योग है। इसके आगे है कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है तैजस शरीर।

मैं बोल रहा हूं। मेरे सामने माइक है। मेरे शब्द दूर तक संचरण कर रहे हैं। यह विद्युत् के सहारे हो रहा है। विद्युत् का काम संवहन करना है। तैजस शरीर यही काम करता है। कर्म शरीर के द्वारा जो कुछ स्थूल शरीर में आ रहा है वह सारा तैजस शरीर के द्वारा आ रहा है। यदि यह सेतु नहीं होता तो सूक्ष्म शरीर या कर्म शरीर कुछ नहीं कर पाता। कर्म शरीर कर्म शरीर बना रहता। अकेला पड़ जाता। स्थूल शरीर कुछ भी संक्रांत नहीं होता। वह अकेला पड़ जाता। दोनों के बीच कोई सम्बन्ध-सूत्र नहीं रहता। तैजस शरीर विद्युत् शरीर है। यही माध्यम बनता है। सूक्ष्म शरीर का बिम्ब स्थूल शरीर में प्रतिबिम्बित होता है।

हम श्वास लेते हैं। श्वास के साथ प्राण का ग्रहण होता है। यदि तैजस शरीर न हो तो प्राण कर्म शरीर या सूक्ष्म शरीर तक नहीं पहुंच पाता। इसी प्रकार तैजस शरीर के अभाव में सूक्ष्म शरीर की प्राणशक्ति स्थूल शरीर तक नहीं पहुंच पाएगी। हमारी भाषा की शक्ति, मन की शक्ति और स्थूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर की शक्ति—ये सारी शक्तियां कर्म शरीर से स्थूल शरीर तक तैजस शरीर के माध्यम से पहुंचती हैं। एक होती है भाषा और एक होता है—भाषायोग। एक होता है मन और एक होता है—मनयोग। एक होता है शरीर और एक होता है—शरीरयोग। योग तब बनता है जब तैजस शरीर अपने संवाहन का कार्य प्रारम्भ कर देता है। तैजस शरीर का योग मिलते ही भाषा वचनयोग बन जाती है। तैजस शरीर का योग मिलते ही मन मनयोग बन जाता है। तैजस शरीर का योग मिलते ही शरीर शरीरयोग बन जाता है। भाषा, मन और शरीर अचेतन है। वे जीव की शक्ति के साथ तैजस शरीर के माध्यम से जुड़कर चेतन हो जाते हैं।

भाषा अचेतन, भाषायोग चेतन।
मन अचेतन, मनयोग चेतन।
काया अचेतन, कायायोग चेतन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १४

संकलिका

- व्यग्रता • एकाग्रता ।
- एक साथ अनेक काम···एक ही काम ।
- हठधर्मिता···समन्वय ।
- क्रोध, चिन्ता, निराशा, भय, चिड़चिड़ापन ।
- आकांक्षा से—ऐसा होता तो अच्छा होता । स्मृति, कल्पना ।
- प्रतीक्षा या धृति का विकास ।
- उपचार चेतन मन के स्तर पर ।
- उपचार अचेतन मन के स्तर पर ।
- बिम्ब का परिष्कार हो, प्रतिबिम्ब का नहीं ।

  श्वासप्रेक्षा—वर्तमान में जीना ।
- शरीरप्रेक्षा वर्तमान में जीना ।

  जो वर्तमान में जीता है, उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है ।
- श्वासप्रेक्षा—समभाव में जीना ।
- शरीरप्रेक्षा—समभाव में जीना ।

  जो समभाव में जीता है, उसका तनाव अपने-आप विसर्जित हो जाता है ।
- तनाव के मुख्य कारण—अतीत में जीना, भविष्य में जीना ।
- उत्सुकता, व्यग्रता, आकांक्षा, आर्त्त-रौद्र-ध्यान ।
- शारीरिक-मानसिक तनाव क्रोध आदि आवेग पैदा करते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक तनाव का विसर्जन

हम श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा और कायोत्सर्ग का अभ्यास करते हैं। प्रश्न होता है कि श्वास को देखने का प्रयोजन क्या है? शरीरप्रेक्षा की निष्पत्ति क्या है? कायोत्सर्ग का फलित क्या है?

आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई है—भारानुभूति। इसे हम तनाव कहते हैं। तनाव अर्थात् भारीपन। जब शरीर हल्का होता है तब अनुभूति अच्छी होती है। जब शरीर भारी होता है तब अनुभूति अच्छी नहीं होती। जब दिमाग भारी होता है तब एक प्रकार की अनुभूति होती है और जब दिमाग हल्का होता है तब दूसरे प्रकार की अनुभूति होती है।

हम भारमुक्त रहना चाहते हैं। हम हल्का रहना चाहते हैं। हम लघुता या लाघव का अनुभव करना चाहते हैं।

साधना की प्रारंभिक निष्पत्ति है—लाघव, हल्कापन, भारमुक्त अवस्था, तनावमुक्ति।

आज का आदमी तनाव का शिकार है। उसे शान्ति का अनुभव नहीं होता। वह निरंतर बेचैन रहता है। जब वह काम करते-करते थक जाता है तब वह विश्राम करता है। थकान के बाद विश्राम, श्रम के बाद विश्राम। एक आदमी कंधे पर भार ढो रहा है। चलते-चलते जब कंधा दर्द करने लगता है तब वह भार को दूसरे कंधे पर रखकर आगे बढ़ जाता है। जो कंधा थक गया था, उसे वह विश्राम देता है। चलते-चलते वह भार को नीचे रखकर पूरा विश्राम करता है। फिर वह भार को उठाकर चलता है और अपने गन्तव्य तक पहुंच जाता है। वहां भार को उतारकर ऐसा महसूस करता है कि मानो वह बिल्कुल भारमुक्त हो गया हो। वह भारमुक्त का अनुभव करता है, सुख की श्वास लेता है।

हम शरीर के श्रम को भी जानते हैं और उस श्रम को मिटाने का उपाय—विश्राम को भी जानते हैं। दोनों से हम परिचित हैं। दोनों का हम निरंतर उपयोग करते जा रहे हैं। श्रम के बाद विश्राम और विश्राम के बाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रम । यह चक्र चलता रहता है ।

हम मन का श्रम तो करते हैं, बहुत करते हैं किन्तु उसको विश्राम देना नहीं जानते । हम चिन्तन करना जानते हैं किन्तु अचिंतन की बात नहीं जानते, चिंतन से मुक्त होना नहीं जानते । जब हम सोचना प्रारंभ करते हैं, उसको तोड़ना कठिन हो जाता है । कठिन इसलिए कि हम अचिंतन बात नहीं जानते ।

शरीर थक गया । हम लेट जाते हैं, विश्राम कर लेते हैं, थकावट मिट जाती है । शरीर में स्फूर्ति आ जाती है । नींद ले लेते हैं तो भी शरीर को आराम मिल जाता है किंतु दिमाग को आराम नहीं मिलता । नींद में चिन्तन चालू रहता है, मन का तनाव बना रहता है सपने आते रहते हैं । उसकी शृंखला नहीं टूटती । मन उनमें उलझा रहता है । उसका तनाव नहीं टूटता । कुछ व्यक्ति पूरी नींद में सपने ही देखते रहते हैं । सारी नींद सपना बन जाती है । जब वे उठते हैं तब यह शिकायत करते हैं कि सात घंटा तक सोते रहे, नींद लेते रहे, किन्तु दिमाग हल्का नहीं हुआ । वह भारी ही बना रहा । नींद में भी मन को विश्राम नहीं मिलता । हम मन को विश्राम देना जानते ही नहीं तब मन विश्रान्त कैसे हो ?

हम श्वास की प्रेक्षा इसीलिए कर रहे हैं कि मन को कुछ विश्राम मिले । हम शरीरप्रेक्षा इसालिए कर रहे हैं कि मन को कुछ विश्राम मिले । हम मन को सुला सकें । सुलाने का अर्थ है उसे भारमुक्त कर देना, उसे भार से छुटकारा दिला देना, हल्का कर देना, खाली कर देना, उसे चिंतन से अचिंतन की अवस्था तक पहुंचा देना ।

मन को विश्राम देना तभी संभव है जब हम वर्तमान में रहना सीख जाएं । मनुष्य अतीत या भविष्य में अधिक रहता है, वर्तमान में बहुत ही कम रहता है । वह स्मृतियों की उधेड़बुन में या कल्पनाओं के ताने-बाने बुनने में व्यस्त रहता है । वह अनावश्यक स्मृतियां और कल्पनाओं के जाल में फंसा रहता है, अतः वर्तमान में रहने के लिए उसे बहुत अल्प समय मिलता है या समय मिलता ही नहीं ।

मनुष्य सोचता है कि यदि अतीत की स्मृतियां न की जाएं तो काम कैसे चल सकता है ? अतीत सुरक्षित कैसे रह सकता है ? यदि अतीत की स्मृति को छोड़ दें तो घर कैसे पहुंचेंगे ? घर की स्मृति करेंगे तभी घर पहुंचेंगे, अन्यथा नहीं । स्मृति के बिना हमारी जीवन-यात्रा चल नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती।

यदि हम कल्पना को छोड़ दें, भविष्य की योजनाओं से छुटकारा पा लें भविष्य की बात ही न सोचें तो कल रोटी कैसे बनेगी। यदि हम भविष्य की कोई योजना ही न बनाएं तो कल कौन बाजार जायेगा ? कौन सामान लायेगा और कार्य कैसे संपन्न होगा ? ये प्रश्न उठते हैं। इन्हीं के आधार पर सामान्य व्यक्ति कह देता है कि अध्यात्मवादियों की ये बहकी-बहकी बातें हैं। वे कहते हैं—"स्मृति को छोड़ दो, कल्पना को छोड़ दो।" इनके बिना जीवन चल नहीं सकता। आदमी एक दिन भी नहीं जी सकता।

ऐसा सोचना ठीक है। मन का यह संदेह भी उचित है। किन्तु अध्यात्मवादियों के कथन को हम यथार्थ में समझें।

अध्यात्मवादी यह कभी नहीं कहते कि स्मृति को सर्वथा छोड़ दें, स्मृति-शून्य हो जाएं। वे यह नहीं कहते कि कल्पना को छोड़कर अपने जीवन की गाड़ी रोक दें। उनके कथन को समझें, उनके हार्द को समझें, उनके मर्म को समझें। उनके कथन का तात्पर्य है कि मनुष्य अनावश्यक स्मृतियों और कल्पनाओं के भार से मुक्त हो जाए। वह जितना समय उन स्मृतियों और कल्पनाओं में बिताता है, उसको कम कर दे। आवश्यक स्मृति और कल्पना के लिए जितना समय आवश्यक हो उतना लगाएं, किन्तु अनावश्यक समय लगाने की मनोवृत्ति से छुटकारा पा लें।

हमारा पूरा समय स्मृतियों के उधेड़-बुन में और कल्पनाओं को संजाने में बीत जाता है। सोते समय भी कल्पनाएं होती हैं और जागते समय भी कल्पनाएं होती हैं। ये स्वप्न क्या हैं ? जागते समय की कल्पना और जागते समय की स्मृतियां सोते समय स्वप्न बन जाते हैं। सोते-जागते स्मृतियों और कल्पनाओं का चक्र चलता रहता है। साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने का अर्थ ही है कि हम इन स्मृतियों और कल्पनाओं के चक्र को तोड़ दें। जीवन में केवल वही बचे जो अनिवार्य है। आवश्यक स्मृति और कल्पना का अपना उपयोग है। अनावश्यक स्मृति और कल्पना का कोई उपयोग नहीं है। वे केवल तनाव का सृजन करती हैं। मन को भटका देती हैं।

अनावश्यक स्मृतियों के साथ कभी गुस्सा आता है, कभी लोभ जागता है, कभी मान उभरता है। सारे आवेग चक्कर काटने लग जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खाना-पीना हराम हो जाता है। यह क्यों होता है? यह इसलिए होता है कि मनुष्य वर्तमान में नहीं रहता। उसने वर्तमान में रहना नहीं सीखा। वर्तमान में रहने का मतलब है कि हम जब जो कार्य करते हैं, उसके अतिरिक्त कोई भी स्मृति न सताए। खाने बैठे हैं, तो मन खाने में ही रहे। चलते हैं तो मन चलने में ही रहे। इधर-उधर न भटके। न अतीत में दौड़े और न भविष्य में छलांग लगाए। केवल वर्तमान की क्रिया के साथ संलग्न रहे। यह है वर्तमान में जीना। यह है वर्तमान क्षण में रहना।

सामने थाली परोसी हुई है। सारी सामग्री उपलब्ध है। व्यक्ति खा भी रहा है। फिर भी न जाने उसका मन कहां-कहां भटकता रहता है। मन दुनिया-भर की थालियों पर घूमने लग जाता है। किसने कब कैसे अपमान किया? किसने कब क्यों गाली दी? ये सब स्मृतियां उभर आती हैं। खाना तब केवल खाना नहीं रहता, और बहुत कुछ बन जाता है।

अध्यात्म कहता है—खाने के समय केवल खाएं। व्यर्थ ही संसार का चक्कर न लगाएं। इन स्मृतियों का प्रयोजन ही क्या है? स्मृतियों या कल्पनाओं में फंसना मूर्खता है।

नास्तिक भी यही बात कहते हैं कि वर्तमान को छोड़कर, भविष्य की कल्पना करना मूर्खता है। प्राप्त सुखों को छोड़कर, अनागत सुखों को पाने की इच्छा करना अज्ञान है। वर्तमान में जीने की उनकी बात अच्छी है।

समझदारी की बात यह है कि जिस समय जो काम करना है उस समय वही काम करें, केवल वही काम करें। यह है वर्तमान में रहना। अतीत का द्वार भी बंद और भविष्य का द्वार भी बंद। दोनों द्वार बंद कर आराम से वर्तमान में रहें।

यदि हमें स्मृति करनी है या योजनाएं बनानी हैं तो हम उसी उद्देश्य से बैठें और जो आवश्यक स्मृतियां हों उन्हें करें, जो आवश्यक योजनाएं हों, उन्हें बनाएं। इसमें कोई हानि नहीं है। किन्तु बैठें किसी उद्देश्य से और करें कुछ और ही, यह उचित नहीं है। यहां तनाव उत्पन्न होता है, खिंचाव उत्पन्न होता है।

यह काल का द्वन्द्व है। वर्तमान काल यह कभी पसन्द नहीं करता कि उसके कार्य में अतीत हस्तक्षेप करे या भविष्य हस्तक्षेप करे। वह अतीत और भविष्य को अपनी सीमा में नहीं रखना चाहता। वह निर्द्वन्द्व अकेला ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना चाहता है। कोई भी व्यक्ति अपने कार्य में हस्तक्षेप सहन नहीं करता तो फिर काल में हम हस्तक्षेप क्या करें ? हम वर्तमान को वर्तमान ही रहने दें, भविष्य को भविष्य ही रहने दें और अतीत को अतीत ही रहने दें। जब कभी आवश्यकता महसूस हो तो स्मृति को स्थान दें, और कल्पना को भी स्थान दें। जब आवश्यक न हो तो वर्तमान के काम में स्मृति और कल्पना को हस्तक्षेप न करने दें।

वर्तमान में जीने का अर्थ है—मन को विश्राम देना, भार से मुक्त होना, मानसिक तनाव से छुटकारा पाना।

श्वासप्रेक्षा करने का अर्थ है—वर्तमान में जीने का अभ्यास करना। श्वास एक घटना है। यह वर्तमान की घटना है, अतीत की नहीं। यह वर्तमान की घटना है, भविष्य की नहीं। जिस क्षण में हम श्वास ले रहे हैं, उसी क्षण में उसे देख रहे हैं। यह वर्तमान का क्षण है। यह है वर्तमान में जीने का अभ्यास, वर्तमान में रहने का अभ्यास। जब हम वर्तमान में हैं, उसे देख रहे हैं, उस समय न कोई राग है, न कोई द्वेष है। क्योंकि जब स्मृति नहीं है तो राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है। हम स्मृति और कल्पना से मुक्त तथा राग-द्वेष से मुक्त क्षण में जी रहे हैं। यह है शुद्ध चेतना का क्षण। यह है वर्तमान का क्षण। यहां न प्रियता है और न अप्रियता। न कोई अतीत का अनुभव है और न कोई भविष्य की चिंता। केवल वर्तमान के क्षण का जीवन है।

श्वास को देखने का अर्थ है—समभाव में जीना। श्वास को देखने का अर्थ है—वीतरागता के क्षण में जीना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है, उनका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है। जो वर्तमान में जीता है, उसका तनाव अपने-आप विसर्जित हो जाता है।

हम शरीर को देखते हैं। शरीर को देखने का यह अर्थ नहीं है कि हम केवल चमड़ी को देखें। अवयवों के आकार-प्रकार को देखें। यह तो हम अनेक बार देख चुके हैं। शरीर-प्रेक्षा में हम ऐसा नहीं करते हैं। हम देखते हैं कि इस क्षण में हमारे शरीर में क्या घटित हो रहा है। सुख का संवेदन हो रहा है या दुःख का संवेदन हो रहा है। प्रियता का संवेदन हो रहा है या अप्रियता का संवेदन हो रहा है। क्या-क्या रासायनिक परिवर्तन हो रहा है। इन सबको हम देखते हैं। हमारे शरीर में वर्तमान क्षण में जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटित हो रहा है उसे हम देखते हैं, चाहे फिर वह भीतर घटित हो रहा है या बाहर घटित हो रहा है। शरीर में खुजली हो रही है, उसे भी हम देख रहे हैं, क्योंकि वह भी एक घटना है, सचाई है। पसीना आ रहा है उसे देखते हैं, क्योंकि यह भी सचाई है, घटना है। गर्मी का अनुभव हो रहा है, सर्दी का अनुभव हो रहा है, जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसे हम तटस्थ भाव से देख रहे हैं, क्योंकि यह वर्तमान की घटना है, यथार्थ है सचाई है, कोरी स्मृति या कल्पना नहीं है। घटना को देखना, तटस्थभाव से देखना, समभाव से देखना, राग-द्वेषमुक्त भाव से देखना, वर्तमान में जीना है, वर्तमान का अनुभव करना है, वर्तमान का उपयोग करना है।

शरीरप्रेक्षा से समभाव का विकास होता है। शरीरप्रेक्षा से राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीने का अभ्यास बढ़ता है। इस अभ्यास से हम मानसिक तनाव से बच जाते हैं।

तनाव तीन प्रकार के हैं—शारीरिक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव। प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों प्रकार के तनावों से घिरा हुआ है। शारीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत उपयोगी है। दो घंटे तक सोने से जितना आराम नहीं मिलता, मांसपेशियों को विश्राम नहीं मिलता, उतना विश्राम आधे घंटे तक विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है। उससे अधिक विश्राम मिलता है।

आज के वैज्ञानिक विद्युत् के झटके देकर बीमार व्यक्ति को नींद दिलाते हैं। पचीस मिनट की नींद से व्यक्ति को छह घंटे की नींद जैसा विश्राम महसूस होता है। यदि आधा घंटा कायोत्सर्ग किया जाए तो वह दो-तीन घंटे नींद की पूर्ति करता है। इससे इतनी भारहीनता की अनुभूति होती है कि नींद से भी वह नहीं होती।

मानसिक तनाव मिटाने के लिए ध्यान बहुत उपयोगी है। किसी एक विषय पर हम ध्यान करें। वर्तमान में रहें। मानसिक तनाव क्रमशः मिटता जाएगा। ध्यान करने वाले यह महसूस करते हैं कि जैसे-जैसे ध्यान की परिपक्वता आती जाती है, मानसिक तनाव विसर्जित होता है, मानसिक हल्केपन का अनुभव होता जाता है।

मानसिक तनाव का मुख्य कारण है—अधिक सोचना। सोचने की भी एक बीमारी है। कुछ लोग इस बीमारी से इतने ग्रस्त हैं कि प्रयोजन हो या न हो, वे निरंतर कुछ-न-कुछ सोचते ही रहते हैं। वे इसी में अपने जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सार्थकता समझते हैं। प्रयोजनवश कोई प्रवृत्ति होती है, तो वह सार्थक मानी जा सकती है। प्रयोजन के लिए सोचना पड़े तो वह समझ में आ सकता है। किन्तु यह नहीं कि व्यक्ति सोचता ही रहे। अधिक सोचना तनाव पैदा करता है। मन भारी हो जाता है। ध्यान के द्वारा हम इस पर नियंत्रण पा सकते हैं। हम उतना ही सोचें जितना आवश्यक है। जरूरत पूरी होते ही सोचने का दरवाजा बंद कर दें, चिन्तन बंद कर दें। मन शांत हो जाएगा।

उज्जैन चातुर्मास की घटना है। आगम-कार्य प्रारंभ करने की योजना बन चुकी थी। मैंने सोचा—बहुत विशाल कार्य है। समय-साक्षेप और श्रम-साध्य। इस दीर्घकालीन कार्य के लिए कुछ विशेष तैयारी अपेक्षित है। हम निरन्तर एक ही कार्य नहीं कर सकते। अनेक कार्यों में समय लगाना होता है अतः मैंने एक व्यवस्था सोची। दिन के तीन भाग कर दिए। एक भाग ज्ञान की आराधना के लिए, एक भाग दर्शन की आराधना के लिए और एक भाग चारित्र की आराधना के लिए। मैंने तीन घंटे का समय चारित्र की आराधना के लिए निश्चित किया। चारित्र की आराधना अर्थात् अपनी साधना। चारित्र का अर्थ है—आनन्द। चारित्र और आनन्द दो नहीं, एक ही हैं। वह चारित्र नहीं हो सकता जिसकी अनुभूति आनन्द नहीं है।

ज्ञानाराधना अर्थात् आगमों का पारायण। तीन घंटा आगम कार्य में लगाना। आगम के विषय में जो कुछ करना है वह इन तीन घण्टों के समय में करना और शेष समय में इसकी स्मृति से भी मुक्त हो जाना।

तीसरी है—सम्यग्दर्शन की आराधना। इस विभाग में मुझे जो कुछ नया लिखना होता, कुछ भी निर्माण करना होता, वह मैं करता।

पूरे दिन को तीन भागों में बांटने के साथ-साथ मैंने इसके साथ एक महत्त्वपूर्ण बात और जोड़ दी कि जब एक कार्य का समय पूरा हो जाए, तब उसकी बिल्कुल विस्मृति कर, दूसरे काम में लग जाना। दूसरा काम करते समय पूर्व कार्य की स्मृति ही नहीं करना। जब मैं एक कार्य पूरा कर उठता हूं तब सोचता हूं—'यह काम पूरा हो गया।' अगले दिन क्या करना है, कोई चिन्ता नहीं, कोई स्मृति नहीं। मानो कि वह काम आज ही पूरा हो गया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विधि से कार्य किया। कार्य चलता रहा। शक्ति लगी, किन्तु उसकी क्षीणता का अनुभव नहीं हुआ। स्मृति से छुटकारा पा जाने से शक्ति का संवर्धन होता है। वहां कम शक्ति क्षीण होती है। शक्ति कम क्षीण हो और कार्य अधिक हो, यह है उसकी व्यवस्था और निष्पत्ति। कार्यान्तर में प्रवेश करना—यह है विश्राम। इसी को मैंने विश्राम माना। शक्ति की सुरक्षा हो गयी। एक सूत्र और काम में लिया। एक कार्य करके उठे। मन में यह सूत्र जम गया कि 'निःशेषम्'—कुछ भी शेष नहीं है। जो करना था वह सारा संपन्न हो गया, अब कुछ भी बाकी नहीं है। यदि हम शेष की अनुभूति संजोए रहेंगे तो तनाव उत्पन्न होगा। 'कल मुझे यह करना है, वह करना है'—यह शेष का चिन्तन तनाव पैदा करता है। जब यह सूत्र हाथ लग गया कि 'निःशेषम्'—कुछ भी बाकी नहीं। जो करना था सब संपन्न हो गया। यदि करेंगे तो कल से नया अध्याय प्रारंभ करेंगे। आज कुछ भी शेष नहीं है। यदि कल रहेंगे तो आगे करेंगे, यदि नहीं रहेंगे तो करने की बात ही प्राप्त नहीं होगी। संपन्न। सारी यात्रा संपन्न। इस स्थिति में तनाव को अवकाश ही नहीं मिलता। मन भारमुक्त होता है। तनाव विसर्जित और मन शांत। जब तक 'कल करेंगे' की बात बनी रहती है तब तक 'यह करना' 'वह करना'—यह सूची इतनी लंबी हो जाती है कि उसका कहीं भी अंत नहीं आता। वह आगे से आगे फैलती जाती है। इससे दिमाग भारी बना रहता है। वह कभी हल्का नहीं हो पाता।

हम यह अनावश्यक भार क्यों ढोएं? हम जब सचाई को जानते हैं कि संसार में किसी भी व्यक्ति का काम कभी पूरा नहीं हुआ। काम शेष रहा और वे व्यक्ति चल बसे। मरते समय रावण ने भी कहा—मेरी मन की बातें मन में ही रह गयीं। मैं यह करना चाहता था, वह करना चाहता था। मन की मन में ही रह गयी। रावण की ही यह बात नहीं है, सबकी यही बात है। जो अध्यात्म का जीवन नहीं जीता, वह मरते समय ऐसा ही सोचता है।

अध्यात्म का जीवन जीने वाले व्यक्ति समाधिपूर्ण मृत्यु का वरण करते हैं। वे संतोष के साथ मरते हैं। वे यही सोचते हैं—'कुछ भी शेष नहीं रहा। जो करना था, वह सारा संपन्न हो गया। जीवन की यात्रा सुखपूर्वक संपन्न हो रही है, मरण भी समाधिपूर्ण हो रहा है, सुख से मर रहे हैं, पीछे कुछ भी शेष नहीं है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म का जीवन नहीं जीने वाले, सदा तनावपूर्ण स्थिति में रहने वाले व्यक्ति मरते समय भी दुःख से मरते हैं, अपने साथ दुःखों की गठरी ले जाते हैं और पीछे भी दुःखों का अंबार छोड़ जाते हैं।

अध्यात्म का जीवन जीने वाला व्यक्ति तनावमुक्त जीवन जीता है। वह संतोष के साथ मरता है और दूसरों के लिए भी आनन्द की अनुभूति छोड़ जाता है।

इस स्थिति में चिन्ता का भार ढोना कहां तक बुद्धिसंगत हो सकता है। व्यक्ति क्यों चिन्ता का भार ढोता है और क्यों इस भार से भारी होता चला जाता है। वह क्यों सोचता है कि शेष ही शेष है, निःशेष कुछ भी नहीं।

हम साधना के द्वारा इस मानसिक स्थिति को बदलें। ध्यान के द्वारा हम इस सचाई को उपलब्ध करें कि वर्तमान ही सब कुछ है। वर्तमान में जो होता है, वह संपन्न हो जाता है, शेष कुछ भी नहीं रहता।

तीसरा है—भावनात्मक तनाव। यह बहुत ही जटिल है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। आर्त्त और रौद्र ध्यान इसके मूल कारण हैं। हम इन दो ध्यानों के सैद्धान्तिक पक्ष से परिचित हैं। अब हमें साधना की दृष्टि से इन्हें समझना होगा।

जो वस्तु प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना, उसी प्रयत्न में लगे रहना आर्त्त ध्यान है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति तथा मनोज्ञ, और मनोनुकूल पदार्थ की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहना और अमनोज्ञ, अप्रिय और मन के विपरीत वस्तु से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना—भावनात्मक तनाव पैदा करता है। प्रिय वस्तु कैसे मिले और अप्रिय वस्तु कैसे छूटे—इस चिन्ता में ही सारा समय बीतता जाता है, वर्षों के वर्ष बीत जाते हैं, सारे प्रयत्न उसी दिशा में प्रवाहित होते हैं। प्रिय का वियोग न हो—यह बात भी सताती है और अप्रिय का संयोग न हो यह बात भी सताती है। प्रिय का वियोग हो जाने पर उसे पुनः प्राप्त करने की चिन्ता भी सताती है और अप्रिय का संयोग हो जाने पर उसके वियोग की चिन्ता भी सताती है। यह चिन्ता भावनात्मक तनाव बनाए रखती है। व्यक्ति कभी इससे मुक्त नहीं हो पाता।

सचाई यह है कि विश्व में किसी भी व्यक्ति को प्रिय का संयोग निरंतर नहीं मिलता और अप्रिय का संयोग भी निरंतर नहीं बना रहता। कभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय का संयोग होता है और अप्रिय का वियोग और कभी अप्रिय का संयोग होता है और प्रिय का वियोग। यह चक्र चलता रहता है। ऐसा एक भी प्राणी नहीं मिलेगा जिसके सदा प्रिय का संयोग ही रहे, वियोग हो ही नहीं और ऐसा व्यक्ति भी नहीं मिलेगा जिसके सदा अप्रिय का संयोग ही रहे, वियोग हो ही नहीं। संयोग और वियोग का चक्र निरंतर गतिमान है। यह विश्व का नियम है। कोई भी इसका अपवाद नहीं है। विश्व में ऐसा घटित होता है कि जिसे हम चाहते हैं वह प्राप्त नहीं होता, जिसे हम चाहते हैं वह चला जाता है और नहीं चाहते वह प्राप्त हो जाता है, जिसे हम नहीं चाहते वह नहीं जाता।

जाने वाला चला जाता है। हम व्यर्थ ही दुःखी हो जाते हैं। किसी का लड़का किसी का पति, किसी का भाई, किसी की पत्नी, किसी की बहिन, किसी की संपत्ति, किसी का वैभव, किसी का राज्य और किसी की सत्ता चली जाती है। चलने वाला चला जाता है। फिर सब व्यक्ति दुःखी हो जाते हैं।

संयोग दो तरफ का होता है। जो चला गया वह भी एक संयोग है और जो पीछे बचा, वह भी एक संयोग है। जब जाने वाला चला ही गया तब हमें फिर यह भावना क्यों सताए कि पीछे रहने वाले व्यक्ति रोते ही रहें। यह भावना का आवेग आता है। यह आर्त्तध्यान है। भावनात्मक तनाव कभी समाप्त ही नहीं होता। वर्षों के वर्ष बीत जाते हैं। तनाव बना का बना रहता है। वह सतत शल्य की तरह चुभता रहता है।

जब तक आर्त्तध्यान से छुटकारा नहीं होता तब तक हम सुख की अनुभूति नहीं कर सकते, भारहीनता या लाघव की अनुभूति नहीं कर सकते।

रौद्रध्यान भी भावनात्मक तनाव का कारण बनता है। मन में संकल्प-विकल्प चलता रहता है। कभी हिंसा का भाव पैदा होता है, कभी प्रतिशोध का भाव पैदा होता है। मूल घटना कुछ क्षणों की होती है, किन्तु प्रतिशोध की भावना वर्षों तक चलती रहती है। मन में निरंतर बदला लेने की भावना बनी रहती है। इसी में सारी शक्ति का व्यय होता है। यही तनाव का कारण है।

लोग पहले भी व्यापार करते थे और आज भी करते हैं। पहले के व्यापार में इतना तनाव नहीं रहता था, जितना आज रहता है। आज का व्यापारी जब प्रातःकाल उठता है, तब से ही उसका मन तनाव से भारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। मानो कि वह तनाव को निमंत्रण देकर ही उठा हो। और जब वह रात में सोता है तब भी भारी मन लेकर सोता है। तनाव से भरा रहता है। तनाव को सिरहाने देकर ही सोता है। उसे सारे दिन झूठ को छिपाने के लिए योजना बनानी पड़ती है। किस झूठ को कैसे छुपाया जाए, यह उसे पहले से ही सोचना पड़ता है। यह तनाव पैदा करता है।

झूठ बोलने वाला झूठ बोलने से पूर्व भी चिंता करता है, झूठ बोलते समय भी चिन्ता करता है और झूठ बोलने के बाद भी चिन्ता करता है। पहले इसलिए चिन्ता करता है, कि मैं ऐसा झूठ बोलूं जो दूसरे के सामने प्रकट न हो। वह चिंता का जाल बिछाता है। झूठ भी ऐसा बोलूं जो सच्चा झूठ हो। दूसरों को सच्चा लगे। जब वह झूठ बोलता है तब यह चिन्ता, यह भय बना रहता है कि कहीं मुख मुद्रा से वह वह प्रकट न हो जाए। सामने वाला भांप न ले कि यह झूठ है, मिथ्या है। इसलिए वह कृत्रिम स्वाभाविकता बनाए रखने का प्रयत्न करता है। झूठ बोलने के बाद उसे यह चिन्ता सताती है कि झूठ बोल तो गया, किन्तु कहीं उसका भेद खुल न जाए, कोई जान न ले।

इसलिए पहले चिन्ता, बोलते समय चिन्ता और बोलने के बाद चिन्ता। यह क्रम टूटता ही नहीं। ऐसी स्थिति में आज का व्यापारी तनावग्रस्त न हो—यह कैसे संभव हो सकता है? यह प्रबल रौद्र ध्यान की स्थिति है। रौद्र ध्यान से उत्पन्न भावनात्मक तनाव चार स्थितियों में उत्पन्न होता है। पहली स्थिति है—हिंसानुबंधी—हिंसा का अनुबंध, दूसरी है—मृषानुबंधी—झूठ का अनुबंध, तीसरी है—स्तेयानुबंधी—चोरी का अनुबंध और चौथी स्थिति है—संरक्षणानुबंधी—परिग्रह के संरक्षण का अनुबंध। ये सारी बातें तनाव उत्पन्न करती हैं।

भावनात्मक तनाव पैदा करने के लिए, आर्त्त रौद्र ध्यान मूल कारण हैं।

आज के युग में शारीरिक तनाव एक समस्या है। मानसिक तनाव उससे उग्र समस्या है और भावनात्मक तनाव सबसे विकट समस्या है, भयंकर समस्या है। मानसिक तनाव से भी इसके परिणाम बहुत भयंकर होते हैं। इस समस्या से निबटने के लिए हमने धर्मध्यान का सहारा लिया है, हमने इसका द्वार खोला है। धर्मध्यान के अभ्यास से आर्त्त-रौद्र ध्यान और शुक्लध्यान—ये अपने-आप में जीने के साधन हैं, अपने भाव में रहने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाय हैं।

हम तेजोलेश्या का ध्यान करते हैं। हम पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का ध्यान करते हैं। तेजोलेश्या का ध्यान इसलिए करते हैं कि हम जीवन में प्रकाश प्राप्त कर सकें, आनन्द की अनुभूति कर सकें। हम पद्मलेश्या का ध्यान इसलिए करते हैं कि चित्त को निर्मल और पवित्र बना सकें। हम शुक्ललेश्या का ध्यान इसलिए करते हैं कि कषायों को शान्त कर सकें शान्ति का अनुभव कर सकें।

अब यह स्वतः स्पष्ट हो गया है कि हमारा यह प्रयत्न शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्ति देने वाला है। इन तनावों से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने वाला है। यदि यह सचाई समझ में आ जाए तो इस अभ्यास में और गहरी निष्ठा उत्पन्न हो सकेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १५

संकलिका

- तनाव मुक्ति शक्ति-जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र ।
- तनाव आवेग पैदा करते हैं ।
  कषाय से तनाव, तनाव से कषाय, उससे असन्तुलन ।
- सुख क्या ? दुःख क्या ?
  - जिसकी परिणति सुखद, वह है सुख ।
  - जिसकी परिणति दुःखद, वह है दुःख ।
- तनाव और आवेग एक हैं, दो नहीं ।
- जहां तनाव है वहां आवेग है । जहां आवेग है वहां तनाव है ।
- तनाव दुःखों का मूल ।
- रोग के मुख्य तीन कारण—
  - शरीर
  - मन
  - भोजन
- पदार्थ-मुक्ति और पदार्थ-मुक्ति के परिणाम ।
- मानसिक संतुलन का अर्थ है—न राग और न द्वेष, केवल समभाव ।
- आधि और व्याधि का कारण है—मनुष्य की मूर्खता ।
- केवल जानना नहीं, साक्षात् करना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक संतुलन

'आहंसु विज्जा चरणं पमोक्कणं'—दुःखमुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करें—यह हमारी साधना का मूल सूत्र है।

मनुष्य का सारा प्रयत्न दुःखमुक्ति के लिए होता है। उसकी सारी कल्पनाएं, सारी योजनाएं, सारी चेष्टाएं केवल दुःख से छुटकारा पाने के लिए होती हैं। अध्यात्म की साधना करते हैं तो उसका भी एकमात्र उद्देश्य यही है कि दुःख से पूरा छुटकारा मिल जाए। यदि दुःखमुक्ति नहीं होती है तो अध्यात्म की साधना व्यर्थ है। फिर कोई भी इस दिशा में गतिशील नहीं होगा।

एक प्रश्न होता है कि यदि दुःख से मुक्त होना है तो फिर हम कुछ काम करें। आंखें मूंदकर ध्यान में क्यों बैठें? निकम्मे क्यों बैठें? निकम्मे बैठने से पदार्थों की प्राप्ति नहीं होगी और पदार्थों के अभाव में दुःख नहीं मिट सकता। ध्यान में बैठे रहना, इस दृष्टि से निकम्मापन है। इससे दुःख-मुक्ति कैसे हो सकती है? यह विरोधाभास-सा प्रतीत होता है।

सभी लोग यह मानते हैं कि उत्पादक श्रम के बिना दुःख मिट नहीं सकता। भूख लगती है। वह रोटी के खाने से मिट जाती है। सर्दी लगती है। कपड़े से वह मिट जाती है। भूख दुःख है, सर्दी दुःख है। इनको मिटाने का उपाय है—रोटी और कपड़ा। यह एक वास्तविकता है। साधना में बैठने वाले इसको नकार कर काल्पनिक जगत् में विहरण करते हैं। क्या यह अफल-प्रयत्न नहीं है? क्या अध्यात्म कोरी कल्पना नहीं है।

हम यथार्थ का जीवन जीएं, वास्तविकता से आंखमिचौनी न करें, वास्तविकता को भोगें—यह आज के युग की सचाई है। इस वास्तविकता को समझकर हम दुःखों को कम करने का प्रयत्न करें, कष्टों को मिटाएं। अन्यथा हम कल्पनाओं में बहते रहेंगे, दुःख बढ़ेगा, मिटेगा नहीं।

यह लोक-प्रवाद है। इसे हम समझते हैं। अब हमें यह समझना है कि अध्यात्म-साधना में हम ऐसा कौन-सा प्रयत्न कर रहे हैं जिससे दुःख-मुक्ति हो? धार्मिक लोग, अध्यात्म की साधना करने वाले साधक यह घोषणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं—'धर्म करो, सारे दुःख मिट जाएंगे। अध्यात्म-साधना करो, दुःख-मुक्ति प्राप्त कर लोगे।' यह दुःखों को मिटाने की घोषणा है, पर धर्म या अध्यात्म के पास सुख देने के लिए एक इंच जमीन नहीं है, एक गांव पर आधिपत्य नहीं है, कोई पदार्थ नहीं है, फिर वह सुख कैसे देगा ? फिर वह दुःख से छुटकारा कैसे करा पाएगा ? वह खाली हाथ है। न भूमि है, न पदार्थ है, न सत्ता है और न अधिकार है। फिर भी इतनी बड़ी घोषणा करना 'सव्वदुक्खविमोक्खणं— सभी दुःखों से छुटकारा'—क्या यह हास्यास्पद बात नहीं है ?

यह प्रश्न वे व्यक्ति उठाते हैं जो यह मानते हैं कि सुख देने वाले हैं पदार्थ। अध्यात्म के लोगों ने एक प्रश्न उठाया कि यह बात समझ से परे है कि पदार्थ सुख देते हैं। यह बात मानी जा सकती है कि पदार्थ बीमारी का इलाज करने वाले हैं, किन्तु सुख देने वाले नहीं। रोटी खाने से सुख कहां मिलता। पेट में भूख की पीड़ा पैदा होती है और वह रोटी खाते ही समाप्त हो जाती है, कुछ समय के लिए शांत हो जाती है। इसे सुख मान लिया गया। समय बीतते ही फिर भूख लगती है और पीड़ा प्रारंभ हो जाती है। फिर रोटी खाते हैं और पीड़ा शांत हो जाती है। यह क्रम जीवनपर्यन्त चलता है। पेट की आग जलती है, रोटी का छींटा दिया, वह बुझ जाती है। फिर भभक उठती है। फिर शांत होती है। यह कैसा सुख ? बीमारी हुई। उसकी चिकित्सा की। बीमारी दब गयी। यह कैसा सुख ?

मन अशांत होता है। आदमी सोचता है—शराब पीने से मन शांत हो जाएगा। शराब पीने वाले इसलिए शराब पीते हैं कि वे अपने-आपको भूल जाएं, मन की अशांति को भूल जाएं, मादकता आ जाए, मस्ती में झूम उठें, आनन्द में चले जाएं। शराब पीते हैं। मस्ती आती है। परन्तु यह कौन-सा सुख है ? यह कैसा सुख ? शराब पीने से विष शरीर में जाता है। स्नायुमंडल प्रभावित होता है। वह सताता रहता है। वह मिटता नहीं, शराब पीने से वह उपशांत होता है। जब तक मादकता रहती है तब तक पीड़ा उपशांत रहती है। ज्यों-ज्यों नशा उतरता है, पीड़ा उभर आती है। इसे हम सुख कैसे मानें ?

अध्यात्म के साधकों ने सुख की पहचान को एक कसौटी दी है। सुख वह है जो परिणामभद्र हो—जिसका परिणाम, जिसकी परिणति सुखद हो। परिणाम में जो दुःख पैदा न करे, वही वास्तव में सुख है। वर्तमान में जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखद अनुभूति का कारण बनता है किन्तु परिणाम में वह दुःख देता है तो समझ लेना चाहिए कि वह सुख नहीं है। सुख वही हो सकता है जो वर्तमान में भी, प्रयोग-काल में भी सुख देता हो और परिणाम-काल में भी सुख देने वाला हो। पारिभाषिक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो आपातभद्र और परिणामभद्र हो, वही सुख है।

युद्ध जीतने वाले सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु एक युद्ध कितने संकटों को जन्म देता है, यदि इसका विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि युद्ध दुःखों का ही सर्जक है, सुखों का नहीं। विजेता भी दुःख भोगता है और पराजित भी दुःख भोगता है, वर्षों तक उन दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। विजयोल्लास एक पागलपन है, मादकता है, उन्माद है। यह सुख नहीं हो सकता। दोनों ओर ध्वंस ही ध्वंस। कोई सुख नहीं, कोई प्रसन्नता नहीं।

वह सुख, सुख नहीं होता जिसका परिणाम दुःखमय हो। वह सुख, सुख नहीं होता जो दुःखों की लंबी शृंखला को उत्पन्न करे। वही सुख सुख होता है जिसकी निष्पत्ति सुखद हो। यह कसौटी है। इसके आधार पर हम समझें कि सुख क्या है और दुःख क्या है? अध्यात्म-साधना सुख देने वाली है या दुःख देने वाली? अध्यात्म-साधना की निष्पत्ति सुखद है या दुःखद?

तनाव दुःख पैदा करता है। तनाव आवेग पैदा करता है। अधिकांश आवेग तनाव से उत्पन्न होते हैं। तनाव में होने का अर्थ है आवेग में होना और आवेग में होने का अर्थ है तनाव में होना। तनाव से शक्तियां क्षीण होती हैं। तनाव की स्थिति में व्यक्ति गालियां देने लग जाता है, चिड़चिड़ा हो जाता है। तनाव में क्या-क्या नहीं होता? जो नहीं होने का होता है, तनाव में वह घटित हो जाता है। सारे आवेग तनाव में जन्मते हैं।

मानसिक तनाव शारीरिक संतुलन को बिगाड़ देता है। सब कुछ असंतुलित हो जाता है। तनाव से केवल आवेग ही पैदा नहीं होते, बीमारियां भी पैदा हो जाती हैं। शरीर में तनाव होता है तब रक्त की गति में तीव्रता आ जाती है। शरीर में तनाव होता है तब हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। शरीर में तनाव होता है तब ग्रंथियों का स्राव अधिक होने लगता है और वह अनेक विसंगतियां उत्पन्न करता है। शरीर में तनाव होता है तब एड्रीनल ग्रन्थि सबसे अधिक प्रभावित होती है और वह अतिरिक्त स्राव को छोड़ती है। शरीर में अनेक विकृतियां पैदा हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तनाव सारे दुःखों का मूल है। तनाव से मुक्त होने का अर्थ है कषायों से मुक्त होना—क्रोध से मुक्त होना, मान से मुक्त होना, माया से मुक्त होना और लोभ से मुक्त होना। तनाव कषायों को उत्तेजित करता है। उत्तेजित कषाय तनाव को भी उत्तेजित करते हैं, तनाव बढ़ता है। कषाय से तनाव और तनाव से कषाय—यह चक्र बन जाता है। इस चक्र के बीच में रहता है आदमी। वह सारे दुःखों को झेलता जाता है। सारी आधियां और व्याधियां उसे झकझोरती हैं। वह बेचारा सहता है। दुःख भोगता है। पीड़ा का अनुभव करता है।

बहुत सारी व्याधियां तनाव के कारण उत्पन्न होती हैं। प्राचीन ग्रन्थों में बीमारी के दो प्रकार बतलाए हैं—आगंतुक बीमारी और कर्मज बीमारी। बीमारी के तीन कारण हैं—वात, पित्त और कफ। कोई चोट लगी। यह आगंतुक बीमारी है, कष्ट है। पूर्व संचित संस्कारों से उत्पन्न होने वाली बीमारी कर्मज है। एक होती है मानसिक बीमारी। बीमारियों के ये अनेक प्रकार हैं।

आज के शरीरशास्त्रियों ने एक बीमारी का उल्लेख किया है। वह है 'साइकोसोमेटिक'। यह शारीरिक और मानसिक बीमारी का द्योतक शब्द है। प्राचीन ग्रन्थों में मानसिक बीमारी को 'आधि' और शारीरिक बीमारी को 'व्याधि' कहा गया है। आज की भाषा में दोनों का संयुक्त नाम है—'साइकोसोमेटिक' अर्थात् 'मनोदैहिक' बीमारी—शरीर की बीमारी और मन की बीमारी।

मन तनाव से भरा है, भारी है, अशान्त है तो अनेक बीमारियां उत्पन्न होंगी। इन बीमारियों का मूल कारण बनता है मन, और आदमी दोष मढ़ता है शरीर पर कि शरीर कमजोर है, शरीर के परमाणु रोगग्रस्त हैं, शरीर के तंतु ढीले हैं। बीमारी मन पैदा कर रहा है और दोषी बन रहा है शरीर। यह कैसा न्याय!

मनोदैहिक बीमारियां बहुत ही जटिल होती हैं। आज का मानव इनसे ग्रस्त है और उसके कष्ट बढ़ते ही चले जा रहे हैं।

योगमनस्कार ने एक महत्त्व की सूचना दी है। उन्होंने लिखा है—"व्याधि और आधि—ये दोनों प्रकार के रोग मनुष्य की मूर्खता के कारण उत्पन्न होते हैं।" यह बहुत बड़ा तथ्य है कि मनुष्य के अज्ञान के कारण शारीरिक रोग—व्याधियां होती हैं और मानसिक रोग—आधियां होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अपने ही अज्ञान के कारण हम इन रोगों को उत्पन्न कर रहे हैं।

हमें दुःख से मुक्ति पाना है तो इस सूत्र को बार-बार दोहराना होगा—अप्पणा सच्च मेसेज्जा—आत्मा से सत्य की खोज करो। स्वयं सत्य को खोजो। सत्य को खोजे बिना दुःख से मुक्ति नहीं हो सकती। अज्ञान को मिटाना आवश्यक है।

रोगों का एक निमित्त कारण भोजन भी है। भोजन के विषय में भी हमारा अज्ञान है। अज्ञान मिटता है तो बहुत सारे रोग उत्पन्न ही नहीं होते और जो उत्पन्न हो चुके हैं वे भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। रोग का मूल टूट जाता है।

जब हम जान लेते हैं कि मन कैसा हो, चिन्तन कैसा होना चाहिए, मन को कहां-कैसे नियोजित करना चाहिए तो बहुत बीमारियां मिट जाती हैं।

इसलिए शरीर, मन और भोजन के विषय में हमें बहुत-कुछ जानना चाहिए। ये तीनों रोग के कारण हैं। तीनों की सही समझ रोग-निवारण में सहायक होती है।

भोजन से दुःख कम होता है तो दुःख बढ़ता भी है। जितने पोषक द्रव्य हैं, उनमें पोषक तत्त्वों के साथ-साथ अपोषक तत्त्व भी हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने बहुत स्पष्टता से लिखा है कि विश्व में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो केवल अमृत हो या केवल विष हो। सर्वथा, निर्दोष, या सदोष पदार्थ एक भी नहीं है। सब कुछ मात्रा-भेद से होता है। मात्रा से ही पदार्थ निर्दोष होता है और मात्रा से ही पदार्थ सदोष होता है। मात्रा के भेद से संखिया भी अमृत है और अमृत भी संखिया है, विष है। सब कुछ मात्रा-भेद से होता है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे अमृत कहा जा सके या विष कहा जा सके। अमृत के साथ विष और विष के साथ अमृत जुड़ा हुआ है।

रोग-निवारण के लिए दवाइयां ली जाती हैं। क्या इनके साथ शरीर में जहर नहीं जाता? बहुत जहर जाता है। दवाई से लाभ है तो हानि भी है। ऐलोपैथिक दवाई का सेवन करने वाले इसे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। लाभ और हानि—दोनों साथ-साथ चलते हैं। अमृत और विष—दोनों साथ-साथ चलते हैं। मात्रा-भेद से हम किसी को लाभकारक मान लेते हैं और मात्रा-भेद से हम किसी को हानिकारक मान लेते हैं। किसी को हम सुखद मान लेते हैं और किसी को दुःखद मान लेते हैं। हम सुख के नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर, प्रियता के नाम पर सारे दुःख झेल रहे हैं। दुःख बढ़ता ही चला जा रहा है। पदार्थ आता है। उसका उपभोग कर हम सुख की अनुभूति करते हैं। किन्तु जब परिणाम आता है तब दुःख का अनुभव होता है। पदार्थजन्य सुख की परिणति, निष्पत्ति दुःख ही होती है।

हमें यह जान लेना चाहिए कि सुख किससे होता है और दुःख किससे होता है? सुख क्या है और दुःख क्या है? जब तक यह स्पष्ट बोध नहीं होगा तब तक हम उन सब पदार्थों को सुख मानते रहेंगे तो हमें अन्ततः दुःख में डालते हैं और जो हमें अन्ततः दुःख में नही डालते उनको हम दुःख मानते रहेंगे। हमें लगता है कि साधना करना दुःख है, नीरस है, कुछ भी नहीं है। यह इसलिए लगता है कि हमारी मान्यता, हमारी कल्पना पदार्थ के घेरे से सुख को मानने को नहीं होती। हम इस घेरे को तोड़कर देख ही नहीं पाते कि पदार्थ के बिना भी कोई सुख हो सकता है। पदार्थ-मुक्ति से भी सुख प्राप्त होता है—यह ज्ञान ही नहीं है।

वास्तविकता यह है कि पदार्थ-मुक्ति के बिना वास्तविक मुक्ति घटित ही नहीं होती। किन्तु हमने उल्टा मान लिया कि पदार्थ का बंधन हुए बिना दुःख-मुक्ति हो नहीं सकती। एक ओर यह सारा विश्व है, भौतिक जगत् है जो इस बात की उद्घोषणा करता है कि पदार्थ के विकास के बिना, पदार्थ को बढ़ाए बिना, दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती। दूसरी ओर अध्यात्म-जगत् है जो इस बात की उद्घोषणा करता है कि पदार्थों से छुटकारा पाए बिना दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। एक ओर कांचन-भुक्ति का स्वर है तो दूसरी ओर कांचन-मुक्ति का स्वर है। एक ओद पदार्थ के संग्रह की घोषणा है तो दूसरी ओर पदार्थ-मुक्ति की घोषणा है। ये दोनों बातें चल रही हैं। जब तक मनुष्य स्नायविक तनाव का शिकार बना रहता है तब तक इस सचाई को समझ नहीं सकता। किन्तु जैसे ही वह ध्यान का अभ्यास करता है, स्नायविक तनाव धीरे-धीरे कम होने लगता है, ग्रन्थियों का स्राव संतुलित होता है, मस्तिष्क संतुलित होता है तब उसे आनन्द का अनुभव होता है। उसकी भ्रांति टूटने लगती है। पदार्थ-मुक्ति का घेरा टूटता है और पदार्थ-मुक्ति की भावना का उदय होता है।

बात यह है कि सुख का झरना हमारे भीतर बह रहा है और हम उसकी खोज बाहर में कर रहे हैं।

एक बुढ़िया सड़क पर सुई खोज रही थी। कुछ बच्चे आए, पूछा—"दादी! क्या खोज रही हो?" बुढ़िया ने कहा—"सुई।" बच्चों ने पूछा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"दादी ! सुई सड़क पर गुम हुई थी ?" बुढ़िया ने कहा—"नहीं, वह कमरे में गुम हुई थी।" बच्चे बोले—"दादी ! यह क्या ? सुई कमरे में गिरी और उसे तुम खोज रही हो सड़क पर। वह कैसे मिलेगी ?" बुढ़िया बोली—"बेटा ! ठीक कहते हो, पर करूं क्या ? कमरे में अंधेरा है। प्रकाश केवल सड़क पर ही है। प्रकाश में ही तो ढूंढ़ रही हूं ?'

आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को प्रकट करने की कथा कही। एक आंख का रोगी वैद्य के पास गया। वैद्य ने आंख में आंजने के लिए दवा दी। वह घर पर आया और दवा पीठ पर मलने लगा। संयोगवश वैद्य वहां आ पहुंचा। उसने देखा, दवा पीठ पर लगायी जा रही है। वैद्य ने कहा—"यह क्या, आंख की दवा पीठ पर लगा रहे हो ?" रोगी ने कहा—"वैद्य जी ! और क्या करूं ? दवा को आंख में लगाते ही आंख जलने लगती है। इतनी जलन कि मैं उसे सहन ही नहीं कर सकता। पीठ पर कोई जलन नहीं होती।"

दो पशु पास-पास खड़े थे। एक था ऊंट और एक था बैल। ऊंट बीमार था—उसे दागना था। दागने वाला आया और उसने ऊंट के बदले बैल को दाग दिया। पूछने पर बोला—"ऊंट तक हाथ नहीं पहुंच रहा था, इसलिए बैल को ही दाग दिया।" बीमार था ऊंट और दागा गया बैल। परिणाम क्या हो सकता है ?

हमारे जीवन में ऐसे विरोधाभास कितने चलते हैं, कोई लेखा-जोखा नहीं है। हम दूसरों के विरोधाभास पर हंसते हैं, उनकी मूर्खता का उपहास करते हैं, किन्तु हम स्वयं अपने जीवन में न जाने कितने विरोधाभासों को पालते चले जा रहे हैं। सुख का निर्झर भीतर है और खोज रहे हैं बाहर में। क्या यह विरोधाभास नहीं है ? क्या हमारी यह स्थिति बुढ़िया की-सी नहीं है ?

साधना इस भ्रान्ति को चूर-चूर कर देती है। सुख को खोजने के लिए भीतर में प्रवेश करने की ओर प्रेरित करती है और आवश्यकता की पूर्ति के लिए पदार्थ को अपेक्षित बताती है। पदार्थ सुख नहीं देते, वे आवश्यकता की पूर्ति मात्र करते हैं।

दो खोजें हैं। एक है आवश्यकता-पूर्ति की खोज और दूसरी है सुख की खोज। आवश्यकता की पूर्ति पदार्थ से ही संभव है, अध्यात्म से वह नहीं हो सकती। सुख की उपलब्धि अध्यात्म से ही संभव है वह पदार्थ से नहीं हो सकती। इस सूत्र का स्पष्ट बोध हो जाना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म के द्वारा सुख की खोज हो सकती है, सुख की पूर्ति हो सकती है।

खेत-खलिहानों में या बाजार में जाने पर आवश्यकता की पूर्ति होती है। पदार्थ के किसी भी क्षेत्र में जाने पर, पदार्थ की सीमा में जाने पर यह सच है कि आवश्यकता की पूर्ति होगी। पदार्थ का समूचा क्षेत्र आवश्यकता-पूर्ति का क्षेत्र है।

अध्यात्म का क्षेत्र इससे बिल्कुल उल्टा है। वह है सुख-पूर्ति का क्षेत्र।

मनुष्य इस विषय में भ्रान्त है। जो आवश्यकता-पूर्ति का क्षेत्र है उसे उसने कुछ देने वाला मान लिया, दुःख से छुटकारा देने वाला मान लिया। अगर इससे सुख की पूर्ति होती तो मैं समझता हूं कि आज के युग का व्यक्ति सबसे अधिक सुखी होता। आज के विज्ञान ने जितने पदार्थ उपलब्ध कराए हैं, वे अनगिन हैं। उनका विकास चरम सीमा को पार कर गया है। फिर भी आदमी दुःखी है, उसे सुख नहीं मिला है। हम इस सचाई को स्वीकार करें कि जिन मनुष्यों को अधिक पदार्थ उपलब्ध हैं, वे ही अधिक पागल होते हैं। वे ही अधिक आत्महत्या करने वाले होते हैं। वे ही अधिक अनिद्रा के शिकार होते हैं। वे ही अधिक-से-अधिक नींद की गोलियां खा-खाकर नींद लेने का प्रयत्न करते हैं। उन लोगों में ही अपराध की वृत्ति अधिक पनपी है। इन सब रोगों का एक ही कारण है—पदार्थों की अधिक उपलब्धि। हमें इस पर विचार करना है। यदि पदार्थ से ही सुख होता तो ये न्यूनताएं कभी मनुष्य में नहीं पनपतीं। पदार्थ की दृष्टि से जो सम्पन्न राष्ट्र हैं वे यह घोषणा करते—'आओ, हम तुम्हें सभी दुःखों से छुटकारा दिला देंगे। किन्तु आज वे राष्ट्र दिग्भ्रांत हो रहे हैं। भटक रहे हैं। वे स्वयं शांति की खोज में हैं, सुख की खोज में हैं।

हम सब साधना के लिए उपस्थित हैं, आवश्यकता-पूर्ति के लिए नहीं। शरीर है तो उसकी कुछ मांगें भी हैं। परिवार है तो उसके प्रति कुछ दायित्व भी है। आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कमाना भी आवश्यक होता है। अध्यात्म इस तथ्य को स्वीकार करता है। वह इसे कभी नहीं नकारता। साधना का अभ्यास करने से यह अन्तर अवश्य आता है कि साधक साधना को केवल समय-यापक मात्र नहीं मानता। वह उसे सार्थक मानता है, आवश्यक मानता है। साधना से स्फूर्ति बढ़ती है, दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साफ होती है और मानदण्ड के आयाम बदल जाते हैं।

साधक कर्मक्षेत्र में रहता है। वह कर्म करता है, आजीविका के साधन जुटाता है किन्तु कर्म से जो दुःख उत्पन्न होता था, उस दुःख की भावना से बच जाता है। कर्म के साथ जो दोष आते थे, वह उनसे बच जाता है। क्रिया से जो प्रतिक्रिया होती थी, वह उनसे बच जाता है। उसकी यह भ्रांति टूट जाती है कि पदार्थ से सुख होता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। दुःख का मार्ग भिन्न है और सुख का मार्ग भिन्न है—यह स्पष्ट बोध हो जाता है। सुख का मार्ग भिन्न है और आवश्यकता-पूर्ति का मार्ग भिन्न है—समझ में आ जाता है। इस बोध से सन्तुलन स्थापित होता है। मानसिक संतुलन प्राप्त होता है। आज के युग की बहुत बड़ी समस्या है मानसिक असंतुलन। मन उबड़-खाबड़ बन जाता है। कभी वह प्रियता से लबालब भर जाता है तो कभी अप्रियता से भर जाता है। कभी वह विश्वास से पूर्ण होता है तो कभी अविश्वास की सीमा लांघ जाता है। यह सारा असंतुलन है।

अध्यात्म-साधना के द्वारा हम मानसिक संतुलन को प्राप्त कर सकते हैं। मानसिक संतुलन का अर्थ है—न राग और न द्वेष। केवल समभाव।

प्रेक्षा-ध्यान समभाव की वृद्धि का प्रतीक है। हम शरीर की प्रेक्षा करते हैं। प्रिय संवेदनों को देखते हैं और अप्रिय संवेदनों को भी देखते हैं। प्रिय संवेदनों के प्रति राग न हो और अप्रिय संवेदनों के प्रति द्वेष न हो। दोनों के प्रति समता, समभाव बना रहे। हम केवल द्रष्टा बने रहें, देखने वाले बने रहें।

सुख की खोज का प्रयोग इतना लाभदायी है कि वह हमारे दैनिक जीवन में कोई बाधा नहीं डालता। वह आवश्यकता-पूर्ति के साथ आने वाले विष को धो डालता है और व्यक्ति के जीवन को पवित्र बनाता है। जिस व्यक्ति में प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास पक चुका है वह कभी किसी को धोखा नहीं दे सकता। वह किसी के साथ शत्रुता नहीं रख सकता। क्योंकि उसने इन तथ्यों का साक्षात् अनुभव किया है, केवल जाना ही नहीं है। केवल जानना अधूरी बात होती है। साक्षात् अनुभव की बात ही प्रधान होती है। वह रूपान्तरण में सहायक होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १६

संकलिका

- अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर।
- अध्यात्म के तीन रूप—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा।
- मनोविज्ञान की भाषा में मन के तीन रूप।
  चेतन मन, अर्धचेतन मन, अवचेतन मन।
- धर्म की सबसे बड़ी उपलब्धि—अध्यात्म की यात्रा।
- सब धर्मों का मूल है—अभय।

  रूपान्तरण का उपाय—

  - शरीरशास्त्रीय भाषा—अर्धचेतन मन को सक्रिय करना।
  - आध्यात्मिक भाषा—अन्तरात्मा को सक्रिय करना।

- उपदेश की भी सीमा।
- उपाय की भी सीमा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म की यात्रा

हमने अध्यात्म की यात्रा शुरू की है। यह हमारे जीवन की नई यात्रा है, अपरिचित यात्रा है। इसके पथ से हम परिचित नहीं हैं। यह नया मार्ग है, जिससे परिचित होना है, हो रहे हैं। यह पथ लंबा है, यात्री लंबी है। हमें लंबे मार्ग को तय करना है।

अध्यात्म की यात्रा भीतर की यात्रा है। अध्यात्म में दो शब्द हैं—अधि+आत्मा। 'अधि' का अर्थ है—भीतर। अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर। आत्मा के बाहर-बाहर हम यात्रा कर रहे हैं। अतीत से करते रहें हैं। बाहर ही बाहर, बाहर ही बाहर। कभी भीतर जाने का अवकाश ही नहीं मिला। हमें सब कुछ वही अच्छा लगता है जो बाहर है। हम मानते हैं कि दुनिया में जो कुछ सार है वह बाहर ही है, भीतर कुछ भी नहीं। बाहर सार है और भीतर वह है जो सार को भोगता है। सार को करने वाला, लेने वाला, ग्रहण करने वाला भीतर है, परन्तु भीतर में कोई सार नहीं है। यदि भीतर में सार होता तो बाहर से सार लेने की आवश्यकता क्या होती? भीतर में सार नहीं है, असार है, इसीलिए हम बाहर से सार लेकर भीतर भेजते हैं। यही हमारा अनुभव है। और इसी अनुभव के कारण हम भीतर में असार मानते हैं और बाहर में सार मानते हैं। हमने खोज शुरू की कि सार साक्षात् हो सके। बाहर के कण-कण में सार को खोजा, खोजते रहे हैं। आज भी खोजते हैं। विटामिन्स में सार है, प्रोटीन्स में सार है, सिनेमा-घर और दुकान में सार है। खोज का निष्कर्ष निकाला कि सार बाहर है, भीतर नहीं।

हमने जब से भीतर की यात्रा शुरू की, अध्यात्म की यात्रा शुरू की, अपने भीतर चलना प्रारंभ किया, भीतर देखना शुरू किया तो सारी मान्यता बदल गयी। आज तक का अनुभव परिवर्तित हो गया। 'बाहर में सार है'—यह सर्वथा मिथ्या लगने लगा। 'भीतर में सार है'—यह सर्वथा सत्य प्रतीत हुआ। अनुभव की चिनगारियां उछलीं, स्फुलिंग बिखरने लगे और तब अनुभव हुआ कि जो कुछ सार है वह भीतर है, बाहर निस्सार ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निस्सार है। भीतर का सार इतना है कि बाहर का सार नगण्य है, तुच्छ है। भीतर सार का समुद्र लहरा रहा है और बाहर सार की दो-चार बूंदें बिखरी-सी लगती हैं। कहां भीतर में विद्यमान सार का अतुल भंडार और कहां बाहर में पड़ा निस्सार का अंबार? दोनों की कोई तुलना नहीं हो सकती। जो सार बनाता है, सार की अनुभूति कराता है, जो सार का मूल्य देता है, वह तो भीतर है। अगर भीतर वाला सो जाए तो सारा सार असार हो जाए, सारा सार्थक निरर्थक बन जाए। सार बनाने वाला, सार का मूल्यांकन करने वाला, सार का स्थान देने वाला जो है वह परमात्मा, वह देवता भीतर बैठा है, बाहर नहीं है।

हमने इस अध्यात्म की यात्रा के साथ दोहराना प्रारंभ कर दिया है—'संपिक्खए अप्पगमप्पएण' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। यह उद्घोष, यह स्वर सामने आते ही आत्मा के अतिरिक्त दूसरे को देखने की बात ही समाप्त हो जाती है। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'—यह उद्घोष इस बात का सूचक है कि आत्मा में बहुत सार है, उसे देखो। और किसी माध्यम से नहीं, केवल आत्मा के माध्यम से देखो।

अध्यात्म-यात्रा के जो नये-नये पथिक हैं, उन्हें इस पथ पर चलने में कठिनाई का अनुभव हो सकता है, कुछ बाधाएं भी सामने आ सकती हैं। उनको यह लग सकता है कि आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो—इस घोष में दो आत्माएं कहां से आ गयीं। एक देखने वाली आत्मा और एक दृश्य बनने वाली आत्मा। दो आत्माएं। कौन देखे? किसे देखे? यह उलझन स्वाभाविक है, अस्वाभाविक नहीं है। यहां आत्मा भी बंट गयी। आदमी का यह स्वभाव है कि वह बांटता जाता है। व्यवसाय के क्षेत्र में बंटवारा है। धर्म के क्षेत्र में बंटवारा है। राजनीति के क्षेत्र में बंटवारा है। सभी बंटे हुए हैं। और यह सब मनुष्य द्वारा कृत है। उसने आगे बढ़कर आत्मा को भी बांट दिया, दो कर दिया। एक वह जिसके द्वारा हम देखें और एक वह जिसको हम देखें। दो आत्माएं बन गयीं। यह द्वैध हो गया। यह उलझन जैसी लगती है, पर कोई उलझन नहीं है। यह उलझन तब तक ही प्रतीत होती है, जब तक अध्यात्म की यात्रा प्रारंभ नहीं होती। इस पथ पर जैसे-जैसे चरण आगे बढ़ेंगे, उलझन सुलझती चली जाएगी। समाधान होता जाएगा। जब हम अंतिम बिन्दु पर पहुंचेंगे तब वहां समस्या ही नहीं रहेगी। सब स्पष्ट हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब हम बाहर ही बाहर देखते हैं तब बाहर के प्रति हमारी आसक्ति इतनी गाढ़ हो जाती है, इतनी तीव्र हो जाती है कि हमारी आत्मा 'बहिरात्मा' बन जाती है, अन्तरात्मा नहीं रहती। भीतर से हटकर केवल बाह्य बन जाती है। बाहर का आकार ले लेती है। फिर सारी प्रवृत्ति बाह्य को देखती है। सब कुछ बाहर ही बाहर, भीतर कुछ भी नहीं। बहिरात्मा का परिणमन होता है। हमारी आत्मा बहिरात्मा बन जाती है।

जब किसी निमित्त से भीतर की यात्रा प्रारंभ होती है और इस सचाई का एक कण, एक लव अनुभूति में आ जाता है कि सार सारा भीतर है, सुख भीतर है, आनन्द भीतर है, आनन्द का सागर भीतर लहराता है, चैतन्य का विशाल समुद्र भीतर उछल रहा है, शक्ति का अजस्र स्रोत भी भीतर है, अपार आनन्द, अपार शक्ति, अपार सुख—यह सब भीतर है, तब आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है बाह्य आत्मा का वलय टूट जाता है। बाह्य अनुभूति के स्तर पर आत्मा बहिरात्मा बनती है तो आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर आत्मा आन्तरात्मा बनती है। अध्यात्म की यात्रा के स्तर पर आत्मा अन्तरात्मा बन जाती है। तब हमारी परिणति आन्तरिक बन जाती है। अन्तरात्मा का उन्मेष जाग जाता है।

जब साधक इससे आगे बढ़ता है तब अनुभूति का स्तर बदल जाता है। श्रेय के साथ हमारा संबंध जुड़ जाता है, शुद्ध चेतना के साथ हम मिल जाते हैं। जिसके साथ संबंध कटा-कटा-सा था, उस विशुद्ध चेतना के साथ पुनः संबंध स्थापित हो जाता है। एक छोटा स्रोत अपने मूल स्रोत से मिल जाता है। यह परम आत्मा की स्थिति है। इस स्तर पर आत्मा परमात्मा बन जाती है।

अनुभूतियों के स्तरों के आधार पर आत्मा के तीन रूप बन जाते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

हम इसकी तुलना आज के मनोविज्ञान की भाषा से कर सकते हैं। उसके अनुसार मन के तीन प्रकार हैं—कोन्शियस माइंड, सबकोन्शियस माइंड और अनकोन्शियस माइंड—चेतन मन, अर्द्धचेतन मन और अवचेतन मन।

चेतन मन अर्थात् जागृत मन। यह स्थूल मन है। यह बाहर ही बाहर घूमता है, बाहर को ही देखता है, यह केवल बाहर का बन जाता है। इसे हम बहिरात्मा कह सकते हैं। यह बहिरात्मा की स्थिति का अनुभव है।

अर्द्धचेतन मन भीतर है, बाहर नहीं है। यह भीतर ही काम करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यहां आत्मा की स्थिति का अनुभव होने लगता है।

जब हम अवचेतन मन में चले जाते हैं, वहां आत्मा की मूल स्थिति का अनुभव होने लगता है, मूल स्थिति का दर्शन होता है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें'—अर्थात् उस परमात्मा की अनुभूति करें जो उपलब्ध नहीं है। उस स्थिति को उपलब्ध करना और जो वर्तमान की स्थिति है उसे विस्मृत करना, आत्ममय बन जाना ही आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना है।

तर्कशास्त्र का कथन है कि दीपक को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि दीपक स्वयं प्रकाशमान है। जो स्वयं प्रकाशी होता है, उसको देखने के लिए दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं होती। सूरज उगा या नहीं—इसे जानने के लिए बिजली जलाने की आवश्यकता नहीं होती। और यदि कोई व्यक्ति सूरज को देखने के लिए बिजली जलाए तो वह समझदार नहीं माना जा सकता। सूर्य स्वयं प्रकाशी है।

तर्कशास्त्र का यह कथन प्रस्तुत प्रसंग में उलट जाता है। आत्मा को देखने के लिए आत्मा की जरूरत है, दीपक को देखने के लिए दीपक की जरूरत है, प्रकाश को देखने के लिए प्रकाश की जरूरत है। पहले हम दीया जलाएं और फिर सूर्य को देखें। आत्मा रूपी सूर्य को देखने के लिए किसी पार्थिव दीपक की जरूरत नहीं है। किन्तु हमारी परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा के बीच जो सघन अंधकार है उसे मिटाना है, उसे हटाना हैं। कषायों का अंधकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोह और अन्तराय—इन कर्मों का अंधकार या पर्दा—ये सब बीच में हैं। इन सबको चीरकर परम आत्मा तक पहुंचना कठिन होता है। बहिरात्मा और परमात्मा में बहुत दूरी है। बीच में अनगिन बाधाएं हैं। सबको तोड़कर आगे चलना श्रमसाध्य कार्य है। ये बाधाएं स्थूल नहीं हैं जो हमें इन आंखों से दीख सकें। वे सूक्ष्म हैं। यदि इन बाधाओं के परमाणुओं को बाहर निकालकर फैलाया जाय तो अनन्त विश्व में भी वे नहीं समा पाएंगे। हमारे भीतर यह अनन्त संसार समाया हुआ है। इतना सूक्ष्म है कि हमें उसके अस्तित्व का कुछ प्रत्यक्ष भान ही नहीं होता, क्योंकि हम सूक्ष्म को देखना जानते ही नहीं। सूक्ष्म को देखने की दृष्टि हमारे पास नहीं है, इसीलिए हमें उन सूक्ष्म बाधाओं के अस्तित्व का पूरा भान ही नहीं होता।

हम अध्यात्म की यात्रा में सूक्ष्म को देखने का प्रयत्न करते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यास करते हैं, तब हमें लगता है कि मंजिल बहुत दूर है, यात्रापथ बहुत लंबा है। हमें रुकना नहीं है, निराश नहीं होना है, चलते चलना है। मंजिल हमारे निकट आती जाएगी। हमें आशा और स्फूर्ति के साथ बढ़ते जाना है, सब बाधाओं को पर करना है, किन्तु हमारे हाथ में एक दीया चाहिए, जिससे कि हम चट्टानों से न टकराएं, पर्दों को दूर हटाएं और अंधकार को चीर डालें। यह दीया होगा शुद्ध चेतना का।

अध्यात्म की यात्रा में हमने शुद्ध चेतना का एक दीपक लिया है। यह राग-द्वेष के क्षणों से रहित दीपक है। हम राग-द्वेष से रहित क्षणों में जीएं और दीये के साथ-साथ चलते रहें। हम सारी बाधाओं को मिटाने में सक्षम हो जाएंगे फिर वे बाधाएं चाहे अंधकार की हों, चट्टानों की हों और मादक मूर्च्छाओं की हों, सबको तोड़कर, चीरकर हम आगे बढ़ते जाएंगे। हाथ में थामे उस दीपक के द्वारा हमें उस महान् प्रकाशपुंज तक पहुंचना है।

धर्म की सबसे बड़ी उपलब्धि है—अध्यात्म की यात्रा। जो धर्म अध्यात्म की यात्रा प्रारंभ नहीं करता और अपने अनुयायियों से अध्यात्म-यात्रा नहीं कराता, वह धर्म एक प्रकार से छलना है, धोखा है, ढोंग है और यदि उसे अफीम भी कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आज के धार्मिक लोगों ने अध्यात्म-यात्रा को भुला दिया इस महा-पुण्य यात्रा को विस्मृत कर दिया। उन्होंने लोगों को सिखाने का प्रयत्न किया—भले आदमी बनो, स्वार्थ को छोड़ परमार्थ में प्रवेश करो, प्रामाणिक बनो, नैतिक बनो, शुद्ध आचरण करो, सबके साथ मैत्री करो, अहिंसा का पालन करो, चोरी मत करो, संतुष्ट रहो। ये बातें अच्छी हैं। इनको चाहना अच्छा है। किन्तु ये उपदेश चलते रहे और आदमी मूल का ही रहा। उसमें कोई रूपान्तरण नहीं हुआ। उपदेश उपदेश मात्र बना रहा। बात यह है कि जब तक परिवर्तन की प्रक्रिया सामने नहीं आती, क्रियान्वित का उपाय सामने नहीं आता, तब तक कहने वाला कहता रहता है, सुनने वाला सुनता रहता है, दोनों नहीं थकते। न कहने वाला थकता है और न सुनने वाला थकता है। यह भी मन-बहलाव का साधन बन जाता है। इस प्रकार के उपदेशों से कोई परिवर्तन नहीं होता।

एक चूहा था। एक उल्लू था। दोनों मित्र थे। एक दिन चूहे ने उल्लू से कहा—'मित्र! क्या करूं? बिल्ली बहुत सताती है। उससे सदा भयभीत रहता हूं। कोई उपाय बताओ कि मैं इस भय से मुक्त हो सकूं।' उल्लू ने कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—'बहुत अच्छा उपाय बताए देता हूं। तुम जंगली बिलाव बन जाओ, फिर भय नहीं रहेगा, तुम निर्भय बन जाओगे। बिल्ली तुमसे डरने लगेगी।' चूहा प्रसन्न हो गया उसने कहा—'उपाय बहुत अच्छा है। पर यह बताओ कि मैं बिलाव कैसे बन सकता हूं?' उल्लू बोला—मित्र! यह कैसा प्रश्न? क्या सब-कुछ मैं ही करूं? मैंने उपाय बता दिया कि तुम बिलाव बन जाओ। बिलाव कैसे बना जाता है, तुम बिलाव कैसे बन सकते हो—यह सब तुम्हारा काम है, मेरा नहीं। मेरा काम तो केवल उपाय बताना है। उपाय को काम में लेना तुम्हारा काम है।'

मुझे लगता है कि धर्म के क्षेत्र में भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। धर्म के उपदेष्टाओं ने कुछ ऐसा ही किया है। उन्होंने कहा—'अच्छे बनो। ऐसा करो, ऐसा मत करो। यह करो, वह मत करो।' जब धर्म के उन उपदेष्टाओं को पूछते हैं कि अच्छा कैसे बना जाता है? यह कैसे छोड़ा जाता है? तब वे कहते हैं—हम तो उपदेशक हैं। हमने कह दिया, अब आपको सोचना है कि उस उपदेश के अनुसार कैसे बनना है।' यह बड़ा अजीब-सा लगता है कि धार्मिक उपदेष्टा यह कहे—'परमार्थी बनो, अहिंसक बनो, सत्यवादी बनो, पर उपाय नहीं बताते। उनकी क्रियन्विति का मार्ग प्रशस्त नहीं करते। वे भी उस अज्ञान पक्षी की तरह कह देते हैं कि अच्छी बातें भी हम बताएं और उनकी क्रियन्विति का उपाय भी हम बताएं—यह दोहरी बात कैसे संभव हो सकती है? यह एक भटकाव है। जब तक धर्म उपाय निर्दिष्ट नहीं करता, क्रियान्विति का मार्ग प्रशस्त नहीं करता, कोरी बड़ी-बड़ी बातें प्रस्तुत करता है, तब तक उस धर्म से कुछ भी रूपान्तरण होने वाला नहीं है। आदमी बदलने वाला नहीं है। ऐसे धर्म के प्रति अरुचि या अनास्था होती है तो आश्चर्य ही क्या है! धर्म के प्रति नास्तिकता का मनोभाव, आत्मा और परमात्मा के प्रति नास्तिकता का मनोभाव, अध्यात्म के प्रति नास्तिकता का मनोभाव इन्हीं कारणों से पनपता है। धर्म की निस्सारता का भान होता है। व्यक्ति धर्म से दूर भाग जाता है। धर्म के प्रति उसके मन में घृणा पैदा हो जाती है। आज का युग इस बात का साक्षी है। आज बुद्धिवादी और विचारक, आज का युवक, धर्म से इसलिए दूर होता जा रहा है कि वह देखता है—धर्म की बातें बहुत बड़ी हैं। वह बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, करता-धरता कुछ भी नहीं। वह मोहक मदिरा की ऐसी प्याली पिलाता है जिससे पीने वाला नशे में हो जाता है, बेभान हो जाता है। यह स्थिति धार्मिकों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए बहुत बड़ी चुनौती है। यह उनके लिए भी एक चुनौती है जो धर्म के धुरंधर हैं, धर्म की धुरा को वहन करने वाले हैं, धर्म-रथ के सारथी हैं, धर्म-रथ को आगे बढ़ाने का दायित्व ओढ़े हुए हैं। या तो वे इस चुनौती को झेलें या फिर बड़ी-बड़ी बातें बनाना छोड़ दें। वे रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रस्तुत करें, लोगों को सक्रिय अभ्यास कराएं उनमें यह विश्वास पैदा करें कि धर्म रूपान्तरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसके पास वह सब कुछ है जो आदमी को आनन्दमय, सुखमय और शांतिमय बना सके। यदि ऐसा हो पाए तो चुनौती का सटीक उत्तर मिल जाएगा।

मुझे स्मरण है। तीस वर्ष पहले की बात है। एक दिन आचार्यश्री ने कहा—"हमारे पास इतने लोग आते हैं। सदा भीड़ लगी रहती है। दूर-दूर से वे आते हैं। बड़ी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं, भावना रखते हैं और हमें सब कुछ मानकर चलते हैं। किन्तु हम इन्हें देते क्या हैं, यदि कुछ भी नहीं देते हैं तो क्या हम अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन करते हैं? उनकी इतनी भक्ति और श्रद्धा लेते हैं और वापस यदि कुछ भी नहीं देते हैं तो यह उनकी भक्ति और श्रद्धा का शोषण है, अन्याय है।"

यह चिन्तन गहरे में गया। इसके परिणामस्वरूप अणुव्रत आन्दोलन ने जन्म लिया। इसके परिणामस्वरूप अध्यात्म की यात्रा ने जन्म लिया। यह सोचा गया कि जो भी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं, उनकी श्रद्धा का प्रतिफल उन्हें मिलना चाहिए। उनका जीवन बदलना चाहिए। उनके जीवन की यात्रा बदलनी चाहिए।

मूल प्रश्न है—जीवन कैसे बदले? इसके समाधान में कहा गया कि अध्यात्म की यात्रा पर चलने से जीवन बदल जाता है। बदलने का सबसे बड़ा उपाय है—आत्मा को आत्मा के द्वारा देखना। जब तक भीतर में नहीं देखा जाता तब तक बदलाव नहीं होता, रूपान्तरण नहीं होता।

इस प्रसंग में मैं शरीरशास्त्रीय चर्चा करना चाहता हूं। डा० कॉप (KAPP) ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—'ग्लैण्ड्सः दि इन्विजिबल गारजियन' यह पुस्तक लिखने वाला अध्यात्म-गुरु नहीं है। वह एक शरीरशास्त्री है। वह लिखता है—"हमारे भीतर जो ग्रन्थियां हैं वे क्रोध, कलह, ईर्ष्या, भय, द्वेष आदि के कारण विकृत बनती हैं। जब ये अनिष्ट भावनाएं जागती हैं तब एड्रीनल ग्लैण्ड को अतिरिक्त काम करना पड़ता है। वह थक जाती है, और-और ग्रन्थियां भी अतिश्रम से थककर श्लथ हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती हैं। अतिरिक्त भार थकान पैदा करता है। बैलगाड़ी पर ज्यादा भार लादोगे तो बैल थक जाएंगे। मोटर पर अधिक भार लादेंगे तो इंजन टूट जाएगा, काम नहीं करेगा। यंत्र हो या प्राणी—यह अतिरिक्त भार से थक जाता है।

जब-जब हमारे आवेग और संस्कार जागते हैं तब-तब उन ग्रन्थियों पर अतिरिक्त भार पड़ता है। वे अस्वाभाविक रूप से काम करने लगती हैं। स्राव अधिक होता है। यह अतिरिक्त स्राव अनेक विकृतियां पैदा करता है। ग्रन्थियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणामस्वरूप शरीर का सारा संतुलन बिगड़ जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन आवेगों को रोकें, इन भावनाओं को रोकें, इन पर नियंत्रण करें। आवेगों को समझदारी से समेटें और ग्रन्थियों पर अधिक भार न आने दें। इसका भी उपाय है। वह उपाय है—धर्म।

आज ऐसा धर्म चाहिए जिसके साथ भय जुड़ा हुआ न हो। भगवान् महावीर का वाक्य है—न भेतव्वं—डरो मत। उन्होंने अपने धर्म का प्रारंभ यही से किया। वह धर्म चाहे अहिंसा है, सत्य है, अपरिग्रह है, सबके आगे जो प्रहरी बैठा है वह है—डरो मत, अभय रहो। उन्होंने कहा—किसी से मत डरो—बुढ़ापे से मत डरो, बीमारी से मत डरो, मौत से मत डरो, शत्रु से मत डरो। किसी से मत डरो।

भय अनेक विकृतियां पैदा करता है। भय से सबसे ज्यादा प्रभावित होती है—एड्रीनल ग्रन्थि।

सब धर्मों का मूल है—अभय। भगवान् महावीर ने कहा—"जो अभय नहीं होता, वह अहिंसक नहीं होता। जो अभय नहीं होता, वह सत्यवादी नहीं होता। जो अभय नहीं होता, वह ब्रह्मचारी या अपरिग्रही नहीं होता। आदमी भय के कारण हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह का संचय करता है।"

शस्त्रों का विकास भय के कारण ही हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से डरता है। अपने बचाव के लिए वह शस्त्र-निर्माण करता है। भय से भय बढ़ता ही जाता है। शस्त्रों का विकास होता जाता है। इसके मूल में है—भय। जब मनुष्य के मन में भय जागा तब अस्त्रों का आविष्कार हुआ। पत्थरों के शस्त्रास्त्रों से हम चले। ज्यों-ज्यों भय बढ़ता गया, शस्त्रों में परिष्कार हुआ और आज हम नवीन, सूक्ष्म और विचित्र शस्त्रों का अंबार लगाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए हैं। यह सारा विकास भय के कारण हुआ है। अणुयुग तक पहुंचाने में भय का हाथ है।

मनुष्य भय के कारण ही हिंसा करता है, दूसरों को मारता है। मनुष्य भय के कारण ही झूठ बोलता है। वह सोचता है—सच कहने से मुझे ये-ये कठिनाइयां सहन करनी पड़ेंगी। बच्चा सोचता है—सच कहने पर पिताजी मारेंगे, मास्टर पीटेंगे। वह झूठ बोलता है और बच निकलता है। व्यापार में जो कुछ अनियमितताएं चलती हैं, वे सब भय के कारण हैं। परिग्रह के संग्रह के पीछे भी भय की शृंखला जुड़ी हुई है।

भय बुराइयों की जड़ है। भय से मुक्त होना दोषों से मुक्त होना है।

इसलिए कहा गया कि आज ऐसे धर्म की जरूरत है जिसके साथ भय जुड़ा हुआ न हो। यह भय भी न हो कि धर्म न करने पर नरक में जाना पड़ेगा। नरक से बचने के लिए यदि कोई धार्मिक बनता है तो वह शुद्ध धार्मिक नहीं बनता। उसको भय सताता रहता है।

धर्म के क्षेत्र में जैसे भय ने धार्मिकों में विकृति उत्पन्न की है वैसे ही प्रलोभन ने भी अनेक विकृतियां उत्पन्न की हैं। इन दोनों के कारण धर्म की आत्महत्या ही हो गयी। धर्म करो स्वर्ग मिलेगा, यह मिलेगा, वह मिलेगा। देवांगनाएं फूलमाला लिये खड़ी मिलेंगी। स्वागत होगा। अपार संपत्ति और वैभव, नौकर-चाकर, यान-वाहन प्राप्त होगा। मन इन प्रलोभनों में लुब्ध हो गया। धर्म की मूल आत्मा विस्मृत हो गयी और उसे ये भौतिक सुख ही सुख दीखने लग गए।

प्रारंभ में ही माताएं अपने बच्चों में भय का संस्कार जमा देती हैं। अरे, ऐसा करोगे तो नरक में जाओगे, नरक मिलेगा। रोज यह सुनते-सुनते बच्चे में भय के संस्कार पलने लग जाएंगे। वह भीरु बन जाएगा। भय व्यक्ति में हीन भावना पैदा कर देता है। धर्म तो वहां से प्रारंभ होता है जहां भय समाप्त हो जाता है। धर्म का एकमात्र उद्देश्य है—निर्जरा के लिए—निज्जरट्ठाए। उसका एकमात्र लक्ष्य है—पुराने संस्कारों को क्षीण करना। चैतन्य की उपलब्धि धर्म-साधना से ही संभव है। जो चैतन्य को उपलब्ध कराए, पुराने संस्कारों को मिटाए, भय को नष्ट करे, प्रलोभन से ऊपर उठाए, वही धर्म है, वही अध्यात्म है।

प्रश्न यही है कि रूपान्तरण कैसे हो? इसका एकमात्र उपाय है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्द्धचेतन मन को सक्रिय करना, जगाना। यह शरीरशास्त्रीय भाषा है। आध्यात्मिक भाषा में कहें तो अन्तरात्मा को सक्रिय करना, जागृत करना।

फिर प्रश्न उठता है कि अर्द्धचेतन मन को हम कैसे जागृत करें? यह क्या हैं? इसका स्वरूप क्या है? इसका कार्य क्या है?

हमारे शरीर में जितनी भी ग्रन्थियां हैं, ग्लैण्ड्स् हैं, वे सब अर्द्धचेतन मन हैं, सब-कोन्शियस् माइंड है। सारा ग्रन्थितंत्र अर्द्धचेतन मन हैं। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। यह ग्रन्थितंत्र मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान् है। इसे हमें जागृत करना है। यदि इसे सही साधनों के द्वारा जागृत करते हैं तो भय से मुक्ति मिलती है। भय से मुक्त होने का अर्थ है सारी बाधाओं से मुक्त होना। शरीरशास्त्र अभी यह बताने में समर्थ नहीं है कि ग्रन्थियों की जागृति के सही साधन क्या हैं। अध्यात्म के पास इसका उत्तर है और यह उत्तर प्रयोगात्मक है।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, आत्म-प्रेक्षा, लेश्याओं का ध्यान—ये सब ग्रन्थियों को सक्रिय करने के साधन हैं। हम चैतन्य केन्द्रों (ग्रन्थियों) पर ध्यान करें, वे सक्रिय होंगे। ज्यों-ज्यों हम उन पर अधिक केन्द्रित होंगे, वे और अधिक सक्रिय होते जाएंगे। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होंगे, सब कुछ समाप्त हो जाएगा। एक नया आयाम खुलेगा। नया आनन्द, नई स्फूर्ति, नया उल्लास प्राप्त होगा।

अभी-अभी एक साधक ने कहा—"मुझे आज ध्यान काल में ऐसा अनुभव हुआ कि पहले कभी नहीं हुआ था। ग्रन्थि-विमोचन का वह अनुभव अपूर्व था।" मैंने कहा—"सच है। इसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं। साधना करते-करते दो बार 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। एक बार जब सम्यग् दृष्टि का पूरा जागरण होता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है और दूसरी बार जब साधक 'क्षपक श्रेणी' का आरोहण करता है, एक विशिष्ट पथ पर चलना प्रारंभ करता है, ध्यान की विशिष्ट श्रेणी में चढ़ता है, शुक्ल-ध्याते में आरोहण करता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। 'अपूर्व-करण' का अर्थ है वह करण जो पहले कभी नहीं हुआ था। अपूर्व वही होता है जो पहले कभी नहीं हुआ हो। पहले हो जाए वह अपूर्व नहीं हो सकता। 'करण' का अर्थ है मनोभाव। ऐसे मनोभाव का जागरण होता है जो पहले कभी नहीं हुआ था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्य-केन्द्रों को देखने का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अध्यात्म-विकास का एकमात्र साधन है। शरीर-प्रेक्षा को आप छोटा न मानें। यह न समझें कि शरीर के भीतर क्या देखें ? भीतर रक्त है, मांस है, हड्डियां हैं, ग्रन्थियां हैं और स्नायु-मंडल है। इन्हें क्या देखें ? क्यों देखें ? यदि साधक यही देखेगा तो वह शरीर-प्रेक्षा करता हुआ भी बहिरात्मा ही रह जाएगा। ये शरीर की चीजें हैं। साधक को और गहरे में जाना होगा। उसे इस शरीर के भीतर सूक्ष्म सत्ता का जो प्रकाश है, अरूपी सत्ता का जो आलोक है, चैतन्य की जो जगमगाहट है, उसका अनुभव करना होगा, साक्षात् करना होगा। वह प्रकाश बाहर प्रस्फुटित होने को तैयार है, यदि साधक उसे बाहर लाना चाहे। उसकी तैयारी है, उत्सुकता है किन्तु साधक की उपेक्षा है। वह उसकी उपेक्षा किए जा रहा है। केवल उपेक्षा, उपेक्षा ही उपेक्षा।

एक साधक ने कहा—"जब मैं पहली बार ध्यान करने बैठा, मुझे लगा कि समय निकम्मा बीत रहा है।" एक घंटा यदि कुछ लिखा जाए, काम किया जाए, पढ़ा जाए, भोजन बनाया जाए तो समय की सार्थकता होती है। ध्यान में समय बीतता अवश्य है, पर वह निरर्थक बीतता है। आंख मूंदकर बैठना कोई काम नहीं कहा जा सकता। काम वही होता है जिसकी निष्पत्ति बताई जा सके। एक घंटा तक रसोई घर में काम किया। उस काम की निष्पत्ति हुई—भोजन की तैयारी। एक घंटा तक पढ़ा। निष्पत्ति हुई—ज्ञान की वृद्धि, तथ्यों की अवगति। एक घंटा ध्यान किया, आंखें बन्द रखीं, मिला कुछ नहीं, निष्पत्ति कुछ भी नहीं। किसी के पूछने पर ध्यानी क्या बता पायेगा ? कुछ नहीं बता पायेगा। जब यह स्थिति है, वास्तविकता है तो ऐसा निरर्थक कार्य क्यों किया जाए ? वही कार्य हाथ में लें जिसकी निष्पत्ति हो, जिसका फल सामने दीखे, दूसरे को बताया जा सके कि 'यह काम किया था, इसकी निष्पत्ति यह है, इसकी फलश्रुति यह है।'

अनेक शोध-संस्थान हैं जहां हजारों शोधकर्त्ता विभिन्न विषयों पर शोध कर रहे हैं। संस्थान धनपतियों द्वारा चलाए जा रहे हैं। वे नहीं जानते कि शोध क्या होती है ? शोधकर्त्ता हैं विद्वान्। वे जानते हैं शोध का मार्ग कितना टेढ़ा-मेढ़ा है, कितना कंटकाकीर्ण है। दस दिन तक एक शब्द पर रुक गए तो रुक ही गए। उसकी शब्द-परीक्षा करने में उन्हें अनेक दिन बिताने पड़ सकते हैं। शोध-संस्थान के अधिकारी सोचते हैं—यह क्या ! एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महीने में इतनी ही पंक्तियां लिखी गयीं ? हमारे इतने धन का व्यय हो गया ! वे पूछते हैं पंडित से कि आज क्या किया ? वह कहता है—कुछ भी नहीं। उस शब्द का सही अर्थ नहीं मिला। गाड़ी अटक गयी। आगे नहीं बढ़ सके। इस उत्तर से वे अधिकारी सोचते हैं—यह कैसा कार्य ? रोज-रोज उसकी निष्पत्ति आनी ही चाहिए। कुछ नहीं हो रहा है। संस्थान को चलाने से क्या लाभ ?

आत्मा की शोध करने वाले, खोज करने वाले, चलते हैं और चलते जाते हैं। खोजते जाते हैं, कुरेदते जाते हैं, चीर-फाड़ करते जाते हैं। कुछ समय बाद उन्हें लगता है कि यह काम निकम्मा है। जो प्रारंभ नहीं करते उन्हें भी लगता है कि यह काम निरर्थक है।

शोध धैर्य-सापेक्ष होता है। खोज वही कर सकता है जो धीर होता है। अधीर व्यक्ति खोज नहीं कर सकता।

मुझे अनुभव है और मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि साधना करने वाला प्रत्येक साधक, जो निष्ठापूर्वक साधना करता है, वह कुछ-न-कुछ प्राप्त करता ही है। उसे अनुभव होता ही है। जिन्होंने इन शिविरों में साधना की है, उनमें अध्यात्म की भूख जागी है, प्रकाश के स्फुलिंग उछले हैं और वे प्रकाश से भरे हैं। उनमें यह भावना पनपी है कि साधना चलनी चाहिए। यह अच्छा सूचक है।

अध्यात्म-पथ पर यात्रा करना निरर्थक नहीं है, यह जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है, उपलब्धि है।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान, कायोत्सर्ग—ये सारी प्रक्रियाएं हैं रूपान्तरण की। फिर उपदेश देने की जरूरत नहीं होगी कि ऐसा बनो, वैसा बनो, धार्मिक बनो, स्वार्थ को छोड़ो, भय और ईर्ष्या को छोड़ो। यह केवल उपदेश है उपदेश कारगर नहीं होता। जो उपाय निर्दिष्ट किए गए हैं, उनको काम में लो। स्वयं एक दिन यह स्पष्ट अनुभव होने लगेगा कि रूपान्तरण घटित हो रहा है। धार्मिक वृत्ति का जागरण हो रहा है, क्रोध और मान छूट रहे हैं, माया लोभ टूट रहे हैं। उन दोषों से छुटकारा पाने के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ये स्वयं मिटते जाएंगे। इन दोषों को मूलतः नष्ट करने का यही उपाय है।

दस दिन का शिविर संपन्न हुआ। एक साधक ने बताया—आज सारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सारा अटपटा-सा लग रहा है। साधना-काल मस्ती का काल था। जो अनुभव हुआ, उसका धागा अभी नहीं टूटा है। उसका प्रसाद अभी भी मन को आह्लादित कर रहा है। वह प्रसाद-वर्षा अभी बन्द नहीं हुई है। क्या ही अच्छा हो यदि यह बनी रहे।

ऐसा होता है। यह कोई अनहोनी बात नहीं है।

आप केवल उपदेश की भाषा में विश्वास न करें। इससे मैं उपदेश की व्यर्थता नहीं बता रहा हूं। वह भी अपने क्षेत्र में सार्थक है। क्योंकि सबसे पहले उपदेश ही काम देता है। आदमी सोता है। उसे जगाने के लिए एक संबोधन काम देता है। किन्तु जब वह जाग गया, जाग उठा तो फिर क्या सारे दिन संबोधन ही काम करता रहेगा? घंटी बजती ही रहेगी? ऐसा नहीं होता। सारे दिन संबोधन चले या घंटी बजती रहे तो आदमी बोर हो जाता है।

छोटा बच्चा मां की अंगुली पकड़कर चलता है। यह बात समझ में आ सकती है। किन्तु यदि पचास वर्ष का आदमी भी दूसरे की अंगुली पकड़कर चले, यह बात समझ में नहीं आ सकती।

बच्चा प्रारंभ में मां की अंगुली पकड़ सकता है, जागने के लिए संबोधन को भी सुन सकता है, घंटी भी सुन सकता हैं, किन्तु इसकी भी एक सीमा है। सीमा समाप्त होते ही यह सब समाप्त हो जाता है।

उपदेश की भी एक सीमा है। जब तक व्यक्ति उस तथ्य को नहीं समझता तब तक उपदेश उपयोगी है। जब व्यक्ति उस बात को जान लेता है, समझ लेता है, फिर उपदेश का काम समाप्त हो जाता है। फिर तो वे व्यक्ति अपने उपायों को काम में लें। उनके आधार पर अपनी यात्रा शुरू करें, चलते रहें। मंजिल तक पहुंच जाएंगे। मैं समझता हूं कि जो लोग उपदेश की सीमा को ठीक जानते हैं और उपदेश की सीमा समाप्त होने पर उपायों की सीमा को भी जानते हैं, वे सही मार्ग को जान लेते हैं। उनकी अध्यात्म की यात्रा मंगलमय होती है। वह उन्हें मंजिल तक पहुंचा देती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १७

संकलिका

- सुखी जीवन का आधार—सबके साथ मैत्री ।
- प्रतिपक्ष—इडा, पिंगला, स्निग्ध, रूक्ष ।
- मन—अमन ।
- प्रवृत्ति से शक्तिक्षीण । निवृत्ति से शक्ति संरक्षित ।
- विचार-संवेदन नियंत्रण ।
- सेरेब्रल कार्टेक्स के दो गोलार्द्ध—दायां गोलार्द्ध बाएं के लिए । और बायां गोलार्द्ध दाएं के लिए ।
- बायां गोलार्द्ध महत्त्वपूर्ण—भाषा की क्षमता, गणित, तर्क, चिन्तन, विश्लेषण, योजनाबद्धकार्य, कालक्रम आदि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य को स्वयं खोजें

हमने सत्य की खोज प्रारंभ की है। मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है—सत्य की खोज। प्राणी-जगत् में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सत्य की खोज कर सकता है। दूसरे सारे प्राणी, फिर चाहे वे पशु-पक्षी हों या देवता, कोई भी सत्य की खोज नहीं कर सकता। मनुष्य के पास जितना विकसित मस्तिष्क, विकसित ग्रन्थियां और अतीन्द्रियज्ञान के केन्द्र हैं, उतने दूसरे किसी भी प्राणी के पास नहीं हैं। इसीलिए मनुष्य ही सत्य की खोज कर सकता। बहुत अच्छा हुआ कि हमने इस रहस्य को समझ लिया, इस सचाई को जान लिया। हमने मनुष्य होने की सार्थकता को पहचान लिया कि मनुष्य-जीवन का सार है—सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि।

भगवान् महावीर ने कहा—"अप्पणा सच्च मेसेज्जा—अपने-आप सत्य की खोज करो।"

हम सत्य की खोज के लिए प्रस्तुत हैं। सत्य खोजना है और स्वयं को ही खोजना है। ऐसा नहीं होता कि एक व्यक्ति सत्य खोजे और दूसरा उपयोग करे। वैज्ञानिक जगत् में यह होता है कि एक व्यक्ति सत्य को खोजता है और सारा जगत् उसका उपयोग करता है। किन्तु अध्यात्म का संसार इससे भिन्न है। इस जगत् में जो व्यक्ति सत्य को खोजता है, वही उसका उपभोग करता है, वही उस उपलब्धि से आनन्द को प्राप्त करता है। 'जिन खोजा तिन पाइयां'—यह है अध्यात्म के संसार की बात। 'जिन नहीं खोजा तिन नहीं पाइयां'—यह है अध्यात्म के संसार की बात। जो खोजेंगे, वे पाएंगे। जो नहीं खोजेंगे, वे कभी नहीं पाएंगे।

वैज्ञानिक जगत् की खोज दूसरे के पूरी काम आती है। अध्यात्म-जगत् की खोज दूसरे के पूरी काम नहीं आती। वाणी के माध्यम से, वचन के प्रयोग से उपलब्धि को दूसरे को बताते हैं, दूसरे सुनते हैं, पर वे उस उपलब्धि को तभी हस्तगत कर सकते हैं जब वे उस पथ पर चलते हैं, स्वयं खोज करते हैं और स्वयं ही उस सत्य का साक्षात् करते हैं।

अध्यात्म के क्षेत्र में जो खोजें हुई हैं, अतीन्द्रियज्ञानियों ने जो खोजें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की हैं, जो देखा है, जो पाया है, जो अनुभव किया है, उसको उन्होंने दूसरों को बतलाया। दूसरों ने सुना। लाभ उठाया। पर पूरा लाभ नहीं मिला। दूसरों के वह काम आया, पर पूरा काम नहीं आया।

उन अतीन्द्रियसाधकों ने आत्मानुभूति का सत्य दूसरों के सामने प्रस्तुत किया, किन्तु उस अभिव्यक्ति के माध्यम से जो सत्य की अनुभूति होनी चाहिए थी, वह किसी को नहीं हुई। वचन के माध्यम से प्राप्त वह सत्य श्रुति के काम आया, सुनने के काम आया तथा मस्तिष्क और बुद्धि के काम आया, किन्तु वह अनुभूतिगम्य नहीं बना। वह अनुभूतिगम्य तब बना जब सुनने वालों ने स्वयं खोज प्रारंभ की, स्वयं उसको उपलब्ध हुए। उससे पहले कुछ भी नहीं हुआ। सुनना व्यर्थ नहीं गया। उससे खोज की पृष्ठभूमि तैयार हुई। वह पृष्ठभूमि तब तक पृष्ठभूमि ही बनी रहती है जब तक साधक उसको आधार बनाकर आगे बढ़ नहीं चलता। साधक जब तक अनुभव के स्तर पर उस सत्य को नहीं पा लेता तब तक वह यह नहीं कह सकता कि—'यह सचाई है, जिसका मैंने प्रत्यक्षतः अनुभव किया है।' वह तब तक दूसरों की दुहाई देता रहता है। यह उधारी बात है। वह यह कह सकता है—यह आगमों की सचाई है, गीता या बाइबिल की सचाई है, ग्रन्थ साहब या कुरान की सचाई है, पिटक या अन्य धार्मिक शास्त्र की सचाई है। वह कभी नहीं कह सकता कि यह मेरी सचाई है। यह मेरा भोगा हुआ सत्य है। यह मेरा जाना-देखा हुआ सत्य है। जब व्यक्ति उस सत्य को उपलब्ध हो जाता है, उसे साक्षात् कर लेता है, तभी वह कह सकता है—यह मेरा सत्य है। मैंने इसे जाना-देखा है।'

अध्यात्म का क्षेत्र वैज्ञानिक क्षेत्र है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सबको वैज्ञानिक होना पड़ता है। जो भी इस यात्रापथ पर चलता है, उसे वैज्ञानिक बनना ही पड़ता है। ऐसा नहीं होता कि आचार्य तुलसी वैज्ञानिक बन जाएं, सत्य की खोज करें और शेष सारे उनके अनुयायी बनकर उस खोजे हुए सत्य का उपभोग करते रहें। ऐसा नहीं हो सकता। प्रत्येक साधक को वैज्ञानिक बनना होता है, परीक्षण करना होता है और सत्य को ढूंढ निकालना होता है।

'सत्य को खोजो'—इतना ही पर्याप्त नहीं है। महावीर ने इसके पीछे 'अप्पणा'—स्वयं—शब्द लगाकर इस ओर संकेत किया कि 'सत्य को खोजो'—यह अधूरी बात है। 'स्वयं सत्य को खोजो'—यह पूरी बात है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत है। यह संकेत साधक के पुरुषार्थ की गाथा गाता है।

दूसरा प्रश्न है कि हमने सत्य की खोज प्रारंभ की है, किन्तु हमारे पास प्रयोगशाला कहां है? कैसे करेंगे सत्य की खोज? सत्य की खोज के लिए समृद्ध प्रयोगशाला चाहिए। वह यहां नहीं है। बात सच है, किन्तु हमने अपने शरीर को ही प्रयोगशाला बना डाला है। यह शरीर इतनी बड़ी प्रयोगशाला है कि विश्व के किसी भी वैज्ञानिक के पास इतनी समृद्ध और विशाल प्रयोगशाला नहीं है। इस शरीर में इतनी सूक्ष्म यंत्र-संरचना है जो बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक को भी आश्चर्य में डाल देती है। एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला नहीं, किन्तु यदि विश्व की समस्त प्रयोगशालाओं को एकत्रित कर लिया जाए, फिर भी वे इस शरीर की प्रयोगशाला के एक अरबवें हिस्से में भी नहीं समा पातीं। तुलना ही नहीं की जा सकती।

यह हमारा शरीर साधन-सम्पन्न प्रयोगशाला है। यह हमारे सामने है। हमें सत्य की खोज करनी है। प्रयोग के साधन और उपकरण भी हमारे पास हैं। चैतन्य के ये सारे प्रयोग हमारी खोज के सूक्ष्मतम उपकरण हैं। आज सूक्ष्म तरंगों वाले या सूक्ष्मतम शक्ति वाले या हाई फ्रीक्वेन्सी वाले जितने भी सूक्ष्म उपकरण उपलब्ध होते हैं, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में, वे सारे के सारे, या उनसे भी अधिक सूक्ष्म उपकरण, हमारे इस शरीर में प्राप्त हैं। वे स्वतः संचालित हैं। किन्तु उनको काम में न लेने के कारण उन पर जंग जम गया है, वे निष्क्रिय हो गए हैं। हमने यात्रा प्रारंभ की है। हम उस जंग को हटाने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे ही यह जंग साफ होगा, जैसे ही यह जमा हुआ मैल हटेगा, ये सारे उपकरण पूरा काम देने लग जाएंगे। उन्हीं उपकरणों के द्वारा हम सूक्ष्मतम सत्य को पहचान पाएंगे।

सत्य की खोज और सत्य की निष्पत्ति—दोनों साथ-साथ चलते हैं। जब हम सत्य की खोज प्रारंभ करते हैं तब पहली निष्पत्ति मिलती है—मैत्री भावना। सबके साथ मैत्री, सबके प्रति मैत्री। यह नहीं कि सबके साथ शत्रुता। सत्य की खोज कर हमें ऐसे शस्त्रों का निर्माण नहीं करना है जो दूसरों को चोट पहुंचा सकें, क्षति पहुंचा सकें और दूसरों को दुविधा में डाल सकें। हमें ऐसे उपकरणों का निर्माण करना है जो दूसरों का भला कर सकें, दूसरों का कल्याण कर सकें, मैत्रीभाव का विस्तार कर सकें। उनसे केवल कल्याण ही कल्याण हो और कुछ नहीं। स्व का कल्याण और पर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याण। केवल कल्याण।

सत्य की खोज न करने का परिणाम है—शत्रुता के भाव का विस्तार। जब तक हम सत्य की खोज नहीं करते तब तक शत्रुता की भावना बढ़ती है। जब हम अध्यात्म की भूमिका पर उतरकर सत्य की खोज प्रारंभ करते हैं तब यह सचाई अनुभव में आने लगती है कि दुनिया में कोई शत्रु नहीं है। हम उसको शत्रु मानते हैं जिसके विचार हमारे विचारों से नहीं मिलते। हम उसको शत्रु मानते हैं जो हमारे से भिन्न विचारधारा का साथी है। हम उसको शत्रु मानते हैं जिसका कार्य-कलाप हमारे कार्य कलाप से भिन्न है। हम उसको शत्रु मानते हैं जो हमारी सभ्यता और संस्कृति से भिन्न सभ्यता और संस्कृति का उपासक है। हम उसको शत्रु मानते हैं जो हमारी बात ठुकरा देता है, स्वीकार नहीं करता।

किन्तु हम अध्यात्म जगत् की इस सचाई पर ध्यान दें कि इस दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका प्रतिपक्षी न हो। पक्ष का अस्तित्व प्रतिपक्ष पर टिका हुआ है। प्रतिपक्ष के अभाव में पक्ष जैसा कुछ होता ही नहीं। भगवान् महावीर ने जिस महान् सत्य की घोषणा की थी, वह उसी साधना के आधार पर, अध्यात्म के आधार पर की थी। वह सत्य है—अनेकान्त। यह प्रतिपक्ष के स्वीकार का महान् सिद्धान्त है। यह पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनों को समानरूप से स्वीकार करता है। एक को नकारने का अर्थ है—दूसरे को नकारना और एक को स्वीकारने का अर्थ है—दूसरे को स्वीकारना।

पक्ष एक सचाई है। प्रतिपक्ष भी एक सचाई है। हम 'समवृत्ति श्वास' का प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में श्वास की अनुलोम और विलोमगति होती है। हम एक नथुने से श्वास लेते हैं और दूसरे से उसे छोड़ते हैं। यह अनुलोम-विलोम प्रक्रिया है। एक है पक्ष और दूसरा है प्रतिपक्ष। हठयोग की भाषा में एक है इडा और एक है पिंगला। प्राण के तीन प्रवाह हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। जो बाएं नथुने से प्राण का प्रवाह आता है वह है इडा, जो दाएं नथुने से प्राण का प्रवाह आता है वह है पिंगला। जो प्राण का प्रवाह रीढ़ के मध्य से प्रवाहित होता है, सुषुम्णा से प्रवाहित होता है वह है 'सुषुम्णा'! इडा चन्द्रस्वर है, समस्वर है, ठंडा है। पिंगला सूर्यस्वर है, गरम है। सुषुम्णा मध्यस्वर है।

इडा और पिंगला—दोनों विरोधी हैं। एक ठंडा है और दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरम। क्या दोनों प्रतिपक्ष नहीं हैं ? प्रतिपक्ष हैं, किन्तु दोनों में कोई शत्रुता नहीं है। यदि दोनों में शत्रुता आ जाए तो जीवन चल नहीं सकता। प्रतिपक्ष होना, विरोधी होना, दो दिशाओं में रहना, भिन्नता रखना—यह शत्रुता का आधार नहीं है।

पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनों एक-दूसरे के आधार पर टिके हुए हैं। एक का अस्तित्व दूसरे के आधार पर है। हमने अपनी भ्रान्ति के कारण, झूठी मान्यताओं और धारणाओं के कारण, भिन्नता रखने वाले को शत्रु मान लिया और समानता रखने वाले को मित्र मान लिया।

हम समवृत्ति-श्वास का प्रयोग कर रहे हैं। यह जाने-अनजाने मैत्री का प्रयोग है। हम मैत्री का प्रयोग कर रहे हैं। हम इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि जो ठंडा है वह भी आवश्यक है और जो गरम है वह भी आवश्यक है। दोनों आवश्यक हैं। दोनों में कोई शत्रुता नहीं है। दोनों भिन्न हैं, पर परस्पर शत्रु नहीं हैं। दोनों उपयोगी हैं। हमारे जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

जब गरमी का अनुभव हो तब दाएं स्वर को बंद कर, बाएं स्वर को चलाएं, ठंडक का अनुभव होगा। जब ठंडक का अनुभव हो तब बाएं स्वर को बंद कर, दाएं स्वर को चलाएं, गरमी का अनुभव होगा। स्वर-शास्त्र में इस विषय की लंबी चर्चा प्राप्त है। एक स्वर सौम्य है, एक स्वर उत्तेजक है। चन्द्र स्वर सौम्य है और सूर्य स्वर उत्तेजक। जब शांत या अहिंसक काम करने होते हैं तब सौम्य स्वर कार्यकारी होता है। जब क्रूर या उत्तेजक काम करने होते हैं तब उत्तेजक स्वर कार्यकारी होता है। दोनों प्राण-प्रवाहों का कार्य भिन्न-भिन्न है। दोनों प्राण-प्रवाह हमारी उपयोगिता में आ रहे हैं और हमारे जीवन को उपयोगी बना रहे हैं। दोनों में कहां है शत्रुता ? योगशास्त्र की दृष्टि से इनमें भेद है, पर शत्रुता नहीं।

पदार्थ विज्ञान की दृष्टि से हम देखें। जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल में चार स्पर्श होते हैं। शीत, उष्ण, रूक्ष और स्निग्ध—ये चार मूल स्पर्श हैं। ये प्रत्येक पुद्गल में प्राप्त हैं। ये चारों हैं तभी पुद्गल-स्कंध हमारे उपयोगी होता है। शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये विरोधी हैं, पर इनका सह-अवस्थान है। दुनिया में सब कुछ युगल है, जोड़ा है। युगल के बिना सृष्टि ही नहीं हो सकती। युगल का मतलब है—पक्ष और प्रतिपक्ष। विद्युत् का भी एक युगल है। एक विद्युत् है—पोजिटिव और एक विद्युत् है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेगेटिव। दोनों शक्तियों का संगम होता है तब प्रकाश होता है। इसे हम स्निग्ध और रूक्ष कह सकते हैं। स्निग्ध का अर्थ चिकना नहीं है और रूक्ष का अर्थ रूखा नहीं है। स्निग्ध का अर्थ है—'पोजिटिव' विद्युत् और रूक्ष का अर्थ है—'नेगेटिव' विद्युत्। एक धनात्मक विद्युत् और एक ऋणात्मक विद्युत्। जब धन और ऋण—दोनों का संगम होता है तब आलोक फैलता है। दोनों विरोधी हैं, पर दोनों में शत्रुभाव नहीं है। दोनों विद्युत् साथ-साथ काम करती हैं और उपयोगिता को बढ़ाती हैं। सारे पदार्थ और पुद्गल इन विरोधी धर्मों के द्वारा ही हमारी उपयोगिता में आ रहे हैं।

हमारे शरीर में महत्त्वपूर्ण अंग है—मस्तिष्क। उसके दो भाग हैं—एक दायां और एक बायां। हम हाथ से लिखते हैं। मस्तिष्क का बायां हिस्सा उसको नियंत्रित करता है। दाएं हिस्से की जितनी प्रवृत्तियां हैं उनका कन्ट्रोल करता है मस्तिष्क का बायां हिस्सा और बांए हिस्से की जितनी प्रवृत्तियां हैं उनका कन्ट्रोल करता है मस्तिष्क का दायां हिस्सा। दाएं हिस्से की प्रवृत्ति का नियंत्रण दायां मस्तिष्क नहीं करता और बाएं हिस्से की प्रवृत्ति का नियंत्रण बायां मस्तिष्क नहीं करता। किन्तु विरोधी भाग नियंत्रण करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि पदार्थ-जगत् में अविरोध मान्य नहीं है। विरोधी होने का मतलब ही अविरोध है।

ऐसी स्थिति में हम किसी को विरोधी या शत्रु क्यों मानें! जिसने भिन्न मत प्रकट किया उसको विरोधी मान लिया। उससे शत्रुता कर ली। यह क्यों? मैत्री का अर्थ है—भेद और अभेद में सामंजस्य की अनुभूति। यदि हम मैत्री का यही अर्थ करें कि साथ में रहना, अच्छा व्यवहार करना, साथ में काम करना, तो मैत्री को हम बहुत ही सीमित कर देंगे। केवल सौ-पचास व्यक्तियों से ही मैत्री साध सकेंगे। 'सर्वभूत मैत्री' की बात छूट जाएगी। मैत्री का अर्थ है—कि हमारी ऐसी अनुभूति जो कि जहां पक्ष और प्रतिपक्ष हो, विरोध हो, भिन्नता हो, वहां भी शत्रुता न हो। यह अनुभूति जब पुष्ट होती है तब उसे मैत्री कहते हैं। यह मैत्री सीमित नहीं, असीम होती है। यह मैत्री सबके साथ हो सकती है। न केवल प्राणियों के साथ किन्तु पदार्थ के साथ भी यह मैत्री हो सकती है।

राजनीति की मान्यता है कि जनतंत्र सफल तभी हो सकता है जब सत्तारूढ़ दल के साथ विरोधी दल का अस्तित्व भी हो। अन्यथा जनतंत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विफल हो जाता है। विरोधी दल के अभाव में सत्तारूढ़ दल उन्मादक बन जाता है, अनियंत्रित हो जाता है। यदि विरोधी दल सबल होता है तो सत्तारूढ़ दल मनमानी नहीं कर सकता है। वह जागरूकता और सावधानी से काम करता जाता है।

समूचे विश्व की प्रकृति में पक्ष और प्रतिपक्ष का अस्तित्व है। पदार्थ जगत् और चेतन जगत् भी इसका अपवाद नहीं है। इसे हम समझें।

भगवान् महावीर ने अनेकान्त की घोषणा की। यह बुद्धि का प्रतिफलन नहीं है। उन्होंने बुद्धि के आधार पर सोच-विचार कर अनेकान्त के सिद्धान्त को, समन्वय के सिद्धान्त को, सापेक्षता के सिद्धान्त को नहीं दिया किन्तु जब अहिंसा के स्तर पर साधना करते-करते मैत्री का भाव जागा और उसके नीचे की गहराइयों को देखा तो लगा कि इस विश्व में शत्रु जैसा कुछ भी नहीं है। व्यर्थ ही मिथ्या धारणा को कंधे पर ढो रहे हैं। शत्रुता का कोई आधार नहीं है। उन्होंने कहा—"यदि सत्य को जानना है। देखना है तो अनेकान्त की दृष्टि से देखो, समन्वत की दृष्टि से देखो, सापेक्षता की दृष्टि से देखो। विरोधी युगल साथ रहते हैं, इस सचाई का प्रतिपल अनुभव करो। सदा यह विरोधी युगल साथ रहता है, कभी नहीं टूटता।"

हमने सत्य की खोज प्रारंभ की। सत्य की खोज का दूसरा प्रयोग है—श्वास और शरीर का आलंबन, मन का आलंबन। एक प्रश्न होता है—मन को कैसे रोकें? मन अशान्त है, उसे शान्त कैसे करें? यहां हमें एक सचाई को समझना है। मन और उसको रोकना—ये दो बातें कैसे संभव हो सकती हैं? हवा चल रही है। मकान पर झंडा फहरा रहा है। वह हवा के सहारे हिल रहा है। हवा चलती रहे और झंडा न हिले—यह कैसे संभव हो सकता है? बर्फ गिर रही है। उसके योग से हवा ठंडी चल रही है। आप चाहें कि बर्फ गिरती रहे पर हवा ठंडी न रहे, गरम हो जाए, यह कैसे संभव हो सकता है? हो ही नहीं सकता। बर्फ गिरेगी तब हवा ठंडी हो जाएगी। गर्मी का प्रकोप होगा तब हवा गरम हो जाएगी। हवा को आप गरम या ठंडी होने से नहीं रोक सकेंगे। हवा चलती है तो झंडे को हिलने से नहीं रोका जा सकता।

दो स्थितियां हैं। एक मन और दूसरा अमन। मन की तीन अवस्थाएं हैं—

१. समनस्कता

२. अमनस्कता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. 'नो समनस्कता'-'नो अमनस्कता'—मानसिक तटस्थता या अमन।

समनस्कता का अर्थ है कि हमारा मन उसी प्रवृत्ति में संलग्न रहे जिसे हम कर रहे हैं।

अमनस्कता का अर्थ है—हम किसी एक काम में लगे हुए हैं, किन्तु मन किसी दूसरी प्रवृत्ति में लगा हुआ है। यह अमनस्कता है।

समनस्कता या अमनस्कता में अमन की स्थिति पैदा नहीं होती। मन रहेगा, चाहे वह इस प्रवृत्ति में लगा रहे। या उस प्रवृत्ति में लगा रहे। मन किसी में लगा अवश्य ही रहेगा। वहां अमन की स्थिति प्राप्त नहीं होती। मन छूटता नहीं। कोई व्यक्ति भोजन करने बैठा है किन्तु मन दुकान में दौड़ रहा है। यहां मन का अनस्तित्व नहीं है। मन है, भोजन में नहीं, किन्तु दुकान में। मन की उपस्थिति है।

अमन की स्थिति तब प्राप्त होती है जब मन कहीं भी लगा हुआ न हो। नोसमनस्कता और नोअमनस्कता—यह स्थिति है अमन की।

मन की दो अवस्थाएं हैं—समन और अमन। समन का मतलब है मन का होना और अमन का मतलब है मन का न होना, मिट जाना। मन को उत्पन्न ही नहीं करना। मन भी खो सकता है और शरीर भी खो सकता है।

आज ही एक साधिका सुना रही थी कि जब शरीर-प्रेक्षा कर रही थी, श्वास-प्रेक्षा कर रही थी तब वह उसमें इतनी निमग्न हो गयी कि उसे लगा श्वास आ-जा रहा है। यह चक्र चल रहा है किन्तु शरीर खो गया है, शरीर गायब है।

साधना में यह लाघव प्राप्त होता है। पुरानी जैन घटना है। एक साधक ध्यान कर रहा था। उसका ध्यान पुष्ट था। एक दिन वह बहुत गहराई में चला गया। शरीर हल्का हो गया। अचानक वह उठा और चिल्लाया—'अरे, देखो, मेरा, शरीर कहां है, वह खो गया है। उसे ढूंढ़ो। उसे खोजो।' कोई अजान व्यक्ति इसे पागल का प्रलाप-मात्र मान सकता है, किन्तु यह एक सत्य घटना है। ऐसा होता है। भार की अनुभूति मिट जाती है। शरीर की अनुभूति समाप्त हो जाती है और केवल ऐसे लगने लगता है कि परमाणुओं का पुंज इधर से उधर और उधर से इधर आ रहा है। और कुछ नहीं है। यह अमन की स्थिति है। जब अमन की स्थिति आती है, मन से अतीत की भूमिका आती है, मन उत्पन्न नहीं होता है तब शरीर भी खो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, वाणी भी खो जाती है और मन भी खो जाता है।

हम अमन की भूमिका और समन की भूमिका को साथ-साथ समझें। जब तक मन की भूमिका है तब तक इस बात को सोचें कि मन को मिटा दें। किन्तु इस बात को सोचें कि मन को कोई अच्छा आलंबन मिले। मन को शुद्ध या पवित्र आलंबन मिले और मन जो नाना प्रकार के आलंबनों में भटकता है, उस भटकाव को भुला दें और एक ही आलंबन में लंबे समय तक रह सके—ऐसा प्रयत्न करें। हमारे दो ही प्रयत्न हों—मन की भूमिका में पवित्र आलंबन और एक दिशा-गामिता, एक दिशागामी प्रवाह। मन की धारा एक दिशा में बहे। विभिन्न दिशाओं में बहने वाली मन की यह धारा समाप्त हो जाए और एक विशाल धारा के रूप में वह प्रवाहित हो और सबको अपने आप में समेट ले।

मन को आलंबन देना है और उस धारा को एक ही दिशा में बहाना है—ये दो काम हैं मन की भूमिका में। हम श्वास का प्रयोग इसीलिए करते हैं कि मन केवल श्वास को देखता रहे। मन और श्वास—दोनों साथ-साथ चलें। दोनों सहयात्री बनें। हम इस आलंबन को न छोड़ें। इस डोरी को न छोड़ें। इसे दृढ़ता से पकड़े रखें। सहयात्रा बहुत बड़ा आलंबन है। श्वास के प्रति हमारा कोई राग न हो, कोई द्वेष न हो। श्वास इतना सीधा-सादा है कि इसके प्रति राग-द्वेष हो ही क्या सकता है।

एक श्वास ही ऐसा है जो जाने-अनजाने हमको संभालता है। हमारे जीवन का सबसे मूल्यवान तत्त्व है श्वास। किन्तु हमने उसकी बहुत उपेक्षा की है। हम लंबा श्वास लेना ही नहीं जानते। हमने जीवन-भर उसकी उपेक्षा की और आज पहले ही दिन हम यह आशा करें कि पूरा श्वास आए, तो यह अन्याय होगा। हमने इतनी बड़ी उपेक्षा की है तो फिर यह कैसे संभव होगा? हो नहीं सकता। श्वास बहुत बड़ा आलंबन है। यह सहज आलंबन है। इसे बाहर से लाना नहीं पड़ता। जब चाहें तब इसको आलंबन बना सकते हैं।

जितना समय मिले हम श्वास-प्रेक्षा करें। पांच ही मिनट का समय मिला तब भी श्वास-प्रेक्षा कर ली, शरीर-प्रेक्षा कर ली, समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा कर ली। करना क्या है? मन को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर ले जाएं। एक-एक अवयव को देखें। इसके लिए किसी बाह्य साधना की जरूरत नहीं होती। न समय-विशेष या स्थान-विशेष की आवश्यकता ही रहती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उठते, बैठते, चलते, फिरते, रेल में या हवाई जहाज में सफर करते समय भी यह किया जा सकता है। यदि हमारा यह क्रम बन जाता है तो मन की भूमिका सुचारू रूप से संचालित हो सकती है। तब यह शिकायत मिट जाती है कि मन बहुत भटक रहा है। मन का भटकाव समाप्त हो जाता है। यह मन की पहली भूमिका है।

दूसरी भूमिका है—अमन की। यह अमन-चैन की भूमिका है। केवल अमन-चैन। शब्द का ही ऐसा योग मिल गया—अमन के साथ चैन जुड़ गया। अमन की अवस्था चैन की अवस्था है। मन आलंबन के साथ चलता है। चलते-चलते जब वह आलंबन की एकाग्रता और स्थिरता के बिन्दु पर पहुंच जाता है तब मन की गति लड़खड़ाने लग जाती है, टूटने लग जाती है, मन वहां समाप्त हो जाता है, अमन की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

जब हम लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं और जैसे ही यह ज्योति प्रकट होती है तब कुछ चमकीला पदार्थ दीखने लगता है। जब भीतर के स्पंदन जागते हैं, लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तब ये तरंगें हमारे सामने आती हैं। एक ऐसा प्रसाद बरसने लगता है कि मन खो जाता है, कहीं नहीं रहता। साधक दूसरी स्थिति में चला जाता है। यदि मन उपस्थित रहता है तब काल का बोध हुए बिना नहीं रहता। काल का अबोध अमन की स्थिति में ही हो सकता है। व्यक्ति एक घंटा तक ध्यान में बैठता है किन्तु उसे लगता है कि पांच-दस मिनट ही हुए हैं। यह अनुभूति अमन की स्थिति में ही हो सकती है, मन की स्थिति में नहीं। अमन की स्थिति कालातीत स्थिति है। अमन की स्थिति देशातीत स्थिति है। मन का काम है काल को जागरूकता से देखना, जानना। वह कालातीत या देशातीत नही हो सकता। अमन की स्थिति में न कोई विकल्प आता है, न चिन्तन आता है, कुछ भी नहीं आता। मन के सारे कार्य समाप्त हो जाते हैं।

अमन की स्थिति सहज प्राप्त नहीं होती। यह साधना से प्राप्त होती है। इसके लिए लंबी प्रतीक्षा और साधना करनी पड़ती है।

आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई है कि आदमी प्रतीक्षा करना नहीं चाहता। वह तत्काल फल चाहता है। आज ही बीज बोया और आज ही उसका फल मिल जाए—यह उसका प्रयत्न रहता है। यह अधैर्य, प्रतीक्षा न करने की वृत्ति, साधना का विघ्न है।

साधना का सूत्र है—प्रतीक्षा करना, जल्दबाजी न करना। जल्दबाजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने में अनेक समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। एक आदमी तंग जूते पहने जा रहा था। सामने से दूसरे व्यक्ति ने पूछा—"भाई ? जूते बहुत ही तंग पहन रखे हैं, क्या बात है ?" उसने कहा—"तंग हैं तो हैं, तुम्हें क्या ?" फिर उसने पूछा—"कहां से लाये ?" वह तो गुस्से में था ही। बोला—'पेड़ से तोड़कर लाया हूं।" वह सज्जन व्यक्ति बोला—"भले आदमी ! कुछ और रुक जाते, प्रतीक्षा करते। पकने देते। तुमने कच्चे ही तोड़ लिए, इसीलिए ये तंग हो रहे हैं।"

कच्चा जूता तंग होता है, कच्चा फल खट्टा होता है, तो कच्ची साधना अच्छी कैसे होगी ? हमें प्रतीक्षा करनी होगी कि फल पक जाए। वह खट्टा न रहे। पकने के लिए प्रतीक्षा करनी होती है। वह एक ही क्षण में घटित नहीं होती।

साधना के मार्ग में जल्दबाजी खतरनाक होती है। धीमे-धीमे अभ्यास को बढ़ाना चाहिए, अन्यथा शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है। उसे संभाल पाना कठिन हो जाता है। धैर्य के साथ चलें। अधैर्य की स्थिति उत्पन्न न होने दें। अमन की भूमिका प्राप्त करने के लिए उतावले न हों। मन की भूमिका जब समुचित ढंग से चलती रहेगी, आलंबन शुद्ध और मन की एक दिशागामिता बनी रहेगी तो एक दिन वह समुद्र में पहुंच जाएगा, अमन हो जाएगा। हम सत्य की खोज के लिए निकल पड़े हैं, हमें सत्य को खोजते जाना है। बहुत सारे सत्य को खोजना है।

सत्य के खोज की कुछेक दिशाएं मैंने स्पष्ट की हैं। साधक अपने अनुभव और प्रयोगों के आधार पर सत्य की खोज करे और इस सचाई को सदा सामने रखे—'अप्पणा सच्च मेसेज्जा, अप्पणा सच्च मेसेज्जा'—स्वयं सत्य को खोजो, स्वयं सत्य को खोजो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १८

संकलिका

- साधक भीतरी लड़ाई लड़ता है।
- बाहर में उसका परिणाम मैत्री-संधि।
- चक्रवर्ती भरत और बाहुबली का युद्ध वास्तव में मोह की विशाल सेना और चैतन्य की सेना के बीच।
- साधक चक्रवर्ती भरत नहीं, बाहुबली बने।
- प्रेक्षा है—शक्तिशाली चक्र।
- प्रेक्षा है—दृष्टियुद्ध—भीतर की गहराई में देखना।
- विधि का ज्ञान—सफलता का वरण।
- श्रद्धा का अर्थ है—आकर्षण, इच्छा।
- श्रद्धा के साथ समर्पण का योग।
- समर्पण का सूत्र है—अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवली पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।
- साधना के विघ्न—प्रमाद, अकर्मण्यता, आलस्य।
- दस और दस साठ—यह है मानना।
- दस और दस बीस—यह है जानना।
- सफलता के चार सूत्र—पुरुषार्थ, श्रद्धा, समर्पण और सत्यनिष्ठा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आजादी की लड़ाई

आज हमने एक युद्ध शुरू किया है। प्रातःकाल में अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया। यह एक युद्ध है। सबसे पहले, जहां हम बैठे हैं, उस हॉल से लड़े। फिर अपने आसन से, कपड़ों से, फिर शरीर से और अन्त में कर्मशरीर से लड़े। क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि आवेगों से लड़े। भयंकर युद्ध छिड़ गया। हम मोर्चे पर डटे रहे। अच्छा हुआ, इतने दिन बाहर ही बाहर लड़ते रहे। आज लड़ने की दिशा बदल गयी। बाहर की लड़ाई बन्द हो गयी। भीतर की लड़ाई प्रारंभ हो गयी। भीतर की लड़ाई प्रारम्भ होते ही मैत्री की भावना घटित होने लगती है अब बाहर के साथ मैत्री करनी होगी या वह स्वतः सध जाएगी। मैत्री-संधि करनी पड़ेगी। अब दोहरी लड़ाई हम नहीं लड़ सकते। बाहर की लड़ाई भी लड़ें और भीतर की लड़ाई भी लड़ें, यह नहीं हो सकता। एक ही लड़ाई संभव है। या तो भीतर की लड़ाई चलेगी या बाहर की लड़ाई चलेगी। दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। दोनों ओर लड़ेंगे तो हम पराजित हो जाएंगे। विजय प्राप्त करने के लिए एक ही लड़ाई लड़नी होगी।

हमने भीतर का युद्ध प्रारंभ कर दिया। अब हम किसी के साथ शत्रुता नहीं रख सकते। सबके साथ मैत्री-संधि करनी होगी। यह करने पर ही हम भीतर की लड़ाई में सफल हो सकेंगे। अन्यथा हम पराजित हो जाएंगे।

यह वैसी ही लड़ाई है जैसी चक्रवर्ती भरत और बाहुबली के बीच हुई थी। भरत की विशाल सेना ने बाहुबली पर आक्रमण कर दिया। भरत चक्रवर्ती था। विशाल प्रदेश का स्वामी, विशाल सेना का अधिनायक। बाहुबली छोटे प्रदेश का स्वामी, छोटी सेना का मालिक। चक्रवर्ती की विशाल सेना के आक्रमण को हम मोह और मूर्च्छा का आक्रमण मानें तो बाहुबली की छोटी सेना का प्रतिरोध चेतना की अल्प जागृति मानें। भरत ने चुनौती दी कि "तुम मेरी आज्ञा मानो, मेरी सीमा में यदि रहना चाहते हो तो मेरी प्रभुसत्ता स्वीकार करो।" बाहुबली ने कहा—"यह असंभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहुबली कभी किसी की आज्ञा नहीं मानेगा। बाहुबली सर्वथा स्वतंत्र है सर्वथा स्वतन्त्र रहेगा। परतंत्रता में वह कभी नहीं जीएगा।" इसका परिणाम हुआ—युद्ध। यदि बाहुबली नत हो जाता तो युद्ध टल जाता। वह नत नहीं हुआ, युद्ध की विभीषिका चारों ओर फैल गयी।

इस युद्ध से हम भरत और बाहुबली—इन दो शब्दों को निकाल दें तो यह लड़ाई मोह की विशाल सेना और चैतन्य की सेना के बीच है। मोह सदा से मनुष्य को अपनी आज्ञा मनवाने का प्रयत्न कर रहा है, अपनी प्रभुसत्ता में उसे रहने को बाध्य कर रहा है। किन्तु कोई बाहुबली होता है तो वह सर्वथा इन्कार कर देता है। ऐसे बाहुबली कम ही होते हैं। बहुत सारे तो आज्ञा मानने वाले ही होते हैं। वे सब प्रणत हो जाते हैं इस मोह राजा के सामने, जैसे भरत के सामने सारे राजा प्रणत हो गए थे। एक बाहुबली ही ऐसा वीर था जिसने उसकी आज्ञा को ललकारा और प्रणत होने से सर्वथा इन्कार कर दिया। इसी प्रकार जिनकी चेतना में कुछ स्फुरण हो चुका है, कुछ स्फुलिंग उछलने लगे हैं, वह बाहुबली कभी भी मोह के राजा के सामने प्रणत नहीं हो सकता। वह उसकी प्रत्येक चुनौती को झेलता है और अपने पराक्रम से उसके साम्राज्य को खंड-विखंड करने का प्रयत्न करता है। वह ललकारते हुए कहता है—"मैं मेरी सत्ता में रहूंगा। मैं किसी दूसरे की सत्ता में नहीं जाऊंगा। मैं अपनी ही आज्ञा मानूंगा। दूसरे की आज्ञा मुझे सर्वथा अमान्य होगी। मैं अपनी ही प्रभुसत्ता में जीऊंगा। दूसरे की प्रभुसत्ता को मैं सर्वथा ठुकराए चलूंगा।"

साधक ऐसा ही बाहुबली होता है। साधना करते-करते उसमें सोया हुआ बाहुबली जाग उठता है। तब वह मोह-मूर्च्छा की आज्ञा मानना बन्द कर देता है। आत्मविश्वास जाग उठता है और वह मोह से लड़ाई छेड़ देता है।

हमने यही किया। लड़ाई प्रारम्भ है। हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि जो अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा करना चाहता है वह कभी भी मोह की विशाल सेना से पराजित नहीं हो सकता। वह निश्चित विजयी होगा। कोई उसे पराजित नहीं कर सकता। यदि दृढ़ विश्वास में कमी आती है तो वह लड़खड़ा सकता है। यदि उसका विश्वास दृढ़ है, संकल्प फौलादी है तो वह कभी नहीं हार सकता। वह सब पर विजय प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहुबली और भरत के युद्ध की परिणति क्या हुई ? बाहुबली अपने निश्चय पर अटल है। स्वतंत्रता की सुरक्षा करने का अदम्य उत्साह और स्फूर्त्त भावना ने उसे विजयी बना दिया। भरत की विशाल सेना हार गयी। व्यक्तिगत युद्ध में भी भरत को पराजित होना पड़ा। बाहुबली विजयी हो गया।

जो भी साधक अपने निश्चय पर अडिग रहता है, अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने में प्रयत्नशील रहता है, जो सदा जागृत और अप्रमत्त रहता है वह मोह की सत्ता के सामने नहीं झुक सकता। एक दिन ऐसा आएगा, जिस दिन मोह की विशाल सेना परास्त होकर भाग जाएगी, नष्ट हो जाएगी।

भरत चक्रवर्ती के पास एक चक्र था। वह देवताओं द्वारा उपासित और सेवित था। महान् पराक्रमी था वह एक। आपके पास भी एक चक्र है, शक्तिशाली चक्र है, वह है—प्रेक्षा। देखना, देखना और देखना। कुछ भी नहीं करना, केवल देखना है।

जब भरत और बाहुबली के युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकला तब यह प्रस्ताव आया कि सेनाओं में होने वाले युद्ध को बन्द कर दिया जाए। केवल भरत और बाहुबली लड़ें। दो की लड़ाई हो। जो जीतेगा, वह विजयी होगा। उस व्यक्ति-युद्ध में एक था दृष्टियुद्ध। दोनों आमने-सामने खड़े हो जाएं। आंखों से एक-दूसरे को देखें। जो अपनी पलकें पहले झपकाएगा, वह पराजित घोषित होगा। दोनों आमने-सामने आ खड़े हुए।

हम भी उसी प्रकार के युद्ध में प्रवेश कर रहे हैं। प्रेक्षा का अर्थ है—दृष्टियुद्ध। भीतर में देखना, अप्रमत्तभाव से देखते जाना। प्रेक्षा दृष्टियुद्ध है। हम प्रेक्षा करें, भीतर की गहराइयों में उतरें। वहां क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष, उन्माद, वासना और विकार के स्फुलिंग उछलते नजर आएंगे। हम उनको अपलकदृष्टि से देखें, केवल देखें, देखते रहें। वे स्वयं भाग जाएंगे। आपको हाथापाई नहीं करनी पड़ेगी। वे स्वयं भाग जाएंगे। दृष्टि का अस्त्र बहुत शक्तिशाली होता है। प्रेक्षा एक शक्तिशाली अस्त्र है। जो साधक दृष्टियुद्ध में पारंगत हो जाता है, जो देखना जान जाता है, समझ जाता है वह कभी परास्त नहीं हो सकता। जो भी सामने आएगा, वह परास्त हो जाएगा। प्रेक्षा का अस्त्र बहुत तीक्ष्ण और मर्मवेधी होता है। वह सामने वाले को समूल नष्ट कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम प्रेक्षा करते हैं। हम संकल्प और भावना का प्रयोग करते हैं। हम सूक्ष्म तरंगों का प्रयोग करते हैं। लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं। ये सब एक प्रकार के युद्ध ही हैं। इनसे साधक सभी दोषों पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह सब आक्रमणों को विफल कर सकता है।

आज विज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रयोग चल रहे हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि आने वाले युद्ध मानसिक स्तर पर लड़े जाएंगे। उनमें सेना की आवश्यकता नहीं रहेगी। मन को इतना शक्तिशाली बनाया जाएगा कि वह हजारों मील दूर रह रहे शत्रु को परास्त कर सके, उसे क्लीव बना सके, उसे शक्तिहीन बना सके।

मानसिक विकास के लिए वे प्रयत्न कर रहे हैं। यदि वे इस दिशा में सफल हो जाएंगे तो भी हानि है और नहीं होंगे तो भी हानि है।

किन्तु साधक को इस ओर निश्चित ही प्रयोग करना है और मानसिक क्षमता को इतना विकसित करना है कि जिससे शत्रुओं का शस्त्रागार उन्हीं के संहार के लिए काम में आ सके। मूर्च्छा और मोह के सारे अस्त्र-शस्त्र उन्हीं के संहार में काम आएं। यह सब मानसिक क्षमता को बढ़ाने से हो सकता है। इसकी सफलता के लिए दृष्टियुद्ध, भावनायुद्ध, तरंगयुद्ध, वाक्‌युद्ध—आदि से गुजरना होगा। इन सारे मोर्चों पर लड़ना होगा। प्रतिपल जागरूक रहना होगा। रणनीति को सबसे पहले समझना होगा। रणनीति को समझे बिना लड़ाई नहीं जीती जा सकती। यह रणनीति है प्रेक्षा-ध्यान की विधि। इसी को ठीक समझने के लिए मैं बार-बार कह रहा हूं। इसको समझे बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। यदि हम विधि को समझ लेते हैं तो आठ आना सफलता हमें प्राप्त हो जाती है। यदि विधि को ठीक से नहीं समझा जाता है तो मन संदेहों से भरा रहता है। साधक सोचता है—श्वास को देखने से आत्मा कैसे उपलब्ध होगी? यदि श्वास को देखने से ही आत्मा उपलब्ध होती है तब तो श्वास को देखने वाले अनेक यंत्र मिल जाएंगे जो श्वास का पूरा ग्राफ लेते हैं, उसका रेखांकन करते हैं, उसका माप करते हैं। फिर प्रश्न होता है—शरीर-प्रेक्षा से आत्मा कैसे प्राप्त होगी? अशुचि से भरे, मल-मूत्र से भरे इस शरीर को देखने से आत्मा कैसे उपलब्ध होगी? यही संदेह विधि को न समझने के कारण हो सकता है। साधक उलझ जाता है।

एक यात्री जा रहा था। अंधेरी रात थी। उसे लम्बा रास्ता तय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना था। एक व्यक्ति ने उसे लालटेन देते हुए कहा—"इसके प्रकाश में तुम अपना रास्ता देख पाओगे। मार्ग सुख से कटेगा। इसे ले जाओ।" उस यात्री ने देखा कि लालटेन का प्रकाश तीन-चार फुट तक फैल रहा है। उसके मन में संदेह हुआ कि रास्ता तो बहुत लम्बा है। प्रकाश केवल तीन-चार फुट तक पड़ता है। रास्ता पार कैसे कर पाऊंगा? वह उलझ गया और उलझता ही गया। वह बोला—"तीन-चार फुट का प्रकाश मुझे दस मील की यात्रा कैसे करा पाएगा?"

यही गति विधि को न समझने वाले की होती है। उसे लगता है—श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा से आत्मा उपलब्ध कैसे होगी? ये छोटे-से साधन आत्मा तक की यात्रा कैसे करा पाएंगे? आत्मा बहुत दूर है। श्वास बेचारा नथुने तक ही सीमित है। उसका प्रकाश वहीं पड़ता है। आगे नहीं फैलता। श्वास का अन्तिम पड़ाव है फेफड़ा। यह आत्मा की यात्रा कैसे कराएगा?

यह विधि न समझने का कारण है। विधि को समझे बिना साधक उलझ जाते हैं। विधि को ठीक समझ लेते हैं तो तीन-चार फुट का प्रकाश दस मील की यात्रा करा सकता है। यह प्रकाश दस मील के पूरे पथ को प्रकाशित कर सकता है। आप चलते चलें, दस मील का रास्ता प्रकाशित हो जाएगा और यदि उसी बिन्दु पर खड़े रह गए तो दो फुट का रास्ता ही प्रकाशित होगा, शेष अन्धकार ही अन्धकार रहेगा। आवश्यकता है चलने की, सतत गतिशील रहने की।

विधि को समझें और चलें। विधि को समझना ही पर्याप्त नहीं है, चलना भी पड़ेगा। आगे-से-आगे बढ़ना होगा। यदि नहीं चले, रुके रह गए तो प्रकाश जहां पड़ता है वहीं पड़ेगा, वह आगे नहीं बढ़ेगा। वह तभी बढ़ेगा जब हम बढ़ेंगे। वह हमारे रुकने के साथ रुकेगा और बढ़ने के साथ बढ़ेगा। अभ्यास करते जाएं। अभ्यास करते जाएं। आप अपनी मंजिल तक पहुंच जाएंगे।

किन्तु एक बाधा और आ जाती है। चलते-चलते एक संदेह और उभर आता है कि श्वास को देखने से क्या होगा? शरीर को देखने से क्या होगा? मन में अश्रद्धा आ जाती है। आकर्षण समाप्त हो जाता है। श्वास निरन्तर चल रहा है। उसे क्या देखना? संसार में जो नया है, उसे देखना चाहिए। संसार मोहक है। कहीं पचास मंजिल मकान हैं और कहीं कांच की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सड़कें हैं। उन्हें देखो। देखते जाओ। श्वास को क्या देखना ? यह विचार आते ही आकर्षण की धारा मुड़ जाती है। वह मोह के साम्राज्य में चली जाती है। लड़ाई का मोर्चा ठंडा पड़ जाता है। ध्यान भी चले और बाहरी आकर्षण भी बना रहे—दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। बाहरी आकर्षण को तोड़ना होगा। खान-पान, रहन-सहन बदलना होगा। आकर्षण की धारा को मोड़ना होगा। मैं यह नहीं कहना चाहता कि पहले ही दिन सब कुछ बदल जाएगा। दो-चार दिनों में बदल जाएगा। अभ्यास यदि लंबा चलेगा तो धीरे-धीरे सब-कुछ बदल जाएगा। रूपान्तरण होने लगेगा। वर्षों तक अभ्यास करना होगा। जीवनपर्यन्त अभ्यास करना होगा। किसी-किसी साधक को अनेक जन्मों में साधना करते-करते ही मंजिल प्राप्त हो सकती है। एक-दो जन्मों में नहीं।

हमें अपनी श्रद्धा को बदलना होगा। श्रद्धा का अर्थ है—आकर्षण, इच्छा। आकर्षण की धारा को मोड़ना होगा। आकर्षण की जो धारा एक दिशा में बह रही थी, उसे मोड़कर विपरीत दिशा में प्रवाहित करना होगा।

सफलता में समर्पण का भी महत्त्वपूर्ण योग है। जो समर्पित नहीं होता, वह सफल नहीं होता। लक्ष्य के प्रति जो डेडिकेट नहीं होता, वह कभी सफल नहीं होता। पूर्ण समर्पण। न तर्क, न वितर्क, केवल समर्पण। समर्पित भाव से एक छोटा व्यक्ति भी बहुत बड़ा काम कर सकता है। जिसमें समर्पण भाव नहीं है वह शक्तिशाली होने पर भी छोटा काम नहीं कर पाता। असफल रहता है। हार जाता है।

हम अभ्यास के प्रारंभ में अर्हं-अर्हं की ध्वनि करते हैं। अर्हं के प्रति संपूर्ण भाव से समर्पित होते हैं। हम अपने समस्त आकर्षण को अर्हं के प्रति प्रवाहित करते हैं। हम सर्वात्मना 'अर्हं' के प्रति समर्पित हो जाते हैं और अपनी सारी श्रद्धा उसमें अन्तर्निहित कर देते हैं। अर्हं की ध्वनि गूंजती है। सारा वातावरण उस ध्वनि से तरंगित होकर विद्युत्मय बन जाता। फिर हम अपनी साधना में लगते हैं। जो अभ्यास करना है, उसमें लग जाते हैं।

जब हम अपनी साधना को संपन्न कर उठते हैं तब भी हम अर्हं के प्रति समर्पण भाव या कृतज्ञभाव ज्ञापित करते हैं। हम कहते हैं—'अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।' पूरा समर्पण। पूरा समर्पण। कुछ भी शेष नहीं रहता। महान् सत्य के प्रति समर्पण। अर्हत् कोई व्यक्ति नहीं है। सिद्ध कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति नहीं है। साधु कोई व्यक्ति नहीं है। धर्म भी कोई व्यक्ति नहीं है। कोई सत्ता नहीं है।

अपनी ही आत्मा की सर्वोच्च अर्हता, सर्वोच्च समता का विकास है, वह है अर्हत्। अपनी ही आत्मा की संपूर्ण सिद्धि का जो चरम बिन्दु है, वह है सिद्ध। अपनी साधन का जो निर्मल रूप है, वह है साधु। अपनी आत्मा का जो पूरा समर्पण है ज्ञान की अराधना के लिए, दर्शन की आराधना के लिए, चारित्र की आराधना के लिए, वह है धर्म। धर्म के प्रति समर्पण, साधना के प्रति समर्पण, सिद्ध के प्रति समर्पण और अर्हत् के प्रति समर्पण। पूरा समर्पण। जब साधक महान् शक्तियों के प्रति इतना समर्पित हो जाता है तब पराजित होने का कोई कारण ही शेष नहीं रहता।

महाराज कोणिक युद्ध कर रहा था। पराजय की वेला सामने थी। स्थिति लड़खड़ाने लगी तब वह इन्द्र के प्रति समर्पित हो गया। अब कोणिक का काम लड़ना नहीं रहा। लड़ने का कार्य इन्द्र पर आ गया। जब इन्द्र ने स्थिति संभाल ली तब उसके सामने कोई योद्धा कैसे टिक पाता। कोणिक विजयी हो गया। जब हम महान् सत्य के प्रति समर्पित होते हैं, तब हमारी शक्ति शतगुणित हो जाती है। फिर हार या पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता।

साधना के विघ्न और भी हैं। प्रमाद, अकर्मण्यता और आलस्य—ये मोह के ही योद्धा हैं जो बार-बार आक्रमण करते हैं। युद्ध में दोनों प्रकार के शस्त्र प्रयुक्त होते हैं—अनुकूल और प्रतिकुल। प्रतिकूल शस्त्र रणभूमि में कार्यकर होते हैं तो अनुकूल शस्त्र बिना रणभूमि के भी कार्य करते रहते हैं। दोनों से ही युद्ध जीता जाता है। आज के युद्ध में दोनों प्रकार के शस्त्रास्त्र काम में लिए जाते हैं। एक ओर अणुबम, टैंक आदि-आदि काम में आते हैं। दूसरी ओर सुन्दरियां और गुप्तचर भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सुन्दरियों को बड़े-बड़े अधिकारियों के पास भेजा जाता है। वे उनको मोहित कर सारे रहस्य जान लेती हैं और फिर उन रहस्यों को अपने मूल अधिकारियों के पास पहुंचा देती हैं। आज भी प्रत्येक राष्ट्र के पास ऐसी हजारों सुन्दरियां हैं जो दूसरे-दूसरे राष्ट्रों में गुप्तचरी करती हैं। मोहक अस्त्रों का यह प्रयोग भी युद्ध का अंग बन चुका है। केवल मारक अस्त्रों से ही काम नहीं चलता, मोहक अस्त्र भी काम में लिए जाते हैं।

साधना के क्षेत्र में प्रमाद मोहक अस्त्र है। जब प्रमाद आता है तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा लगता है कि सब कुछ पा लिया। कुछ भी करने को नहीं है, कुछ भी करना शेष नहीं है। जब आदमी प्रमाद में चला जाता है तब वह विजय की बात को भूल जाता है, लक्ष्य को भूल जाता है, उद्देश्य को भूल जाता है। आज तक दुनिया में ऐसा व्यक्ति कौन हुआ है जो प्रमत्त रहा हो और अपने आपको न भुला दिया हो। भगवान् महावीर ने कहा—"सव्वओ पमत्तस्स भयं।' प्रमाद भय उत्पन्न करता है।" जो प्रमत्त होता है, चारों ओर से भय उसे घेर लेता है। भय बरसने लगता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता कि प्रमत्त हो और डरा न हो। वह निश्चित ही डरेगा।

प्रमाद आता है, आलस्य आता है, अकर्मण्यता आती है। सामने जीतने की स्थिति होती है, पर ये उसे जीतने नहीं देतीं। वह सोचता है—क्या करना है? अभी बैठे हैं। कैसे पार पड़ेगा? कैसे होगा?

एक कहानी है। एक राजा था। उसे मंत्री की नियुक्ति करनी थी। वह नियुक्ति से पूर्व परीक्षा करना चाहता था। पांच-सात व्यक्ति आए। उसने सबको एक कमरे में बिठाकर कहा—"आप सब यहां बैठें। मैं कमरे के बाहर ताला लगा देता हूं। जो भी ताले को खोलकर बाहर निकल आएगा उसे मंत्री बनाऊंगा।" सबने सुना। सोचा—"कितनी विचित्र परीक्षा। दरवाजा बंद। बाहर से ताला बंद और भीतर वालों से कहे कि बाहर आओ। यह असंभव है।' छह व्यक्तियों ने सोचा—'राजा पागल हो गया लगता है। यह भी कोई परीक्षा होती है! दूसरे प्रकार से भी परीक्षा ली जा सकती थी। बाहर जाना कैसे संभव हो सकता है?' वे हाथ पर हाथ दिए बैठे रहे। कुछ पराक्रम नहीं किया। सातवां व्यक्ति अकर्मण्य नहीं था, पुरुषार्थी था। उसने सोचा—'जरूर इस शर्त में कोई रहस्य है। राजा ऐसी शर्त क्यों रखता? मुझे अपना पुरुषार्थ करना है। वह उठा। दरवाजे के पास गया। उसे जोर से ढकेला, वह खुल गया। उसने बाहर आकर राजा का अभिवादन किया। दरवाजे पर कोई ताला लगाया ही नहीं था, केवल सबको भुलावे में रखा था। राजा जानना चाहता था कि कौन कर्मण्य है और कौन अकर्मण्य। सबका कर्त्तव्य था कि वे पुरुषार्थ करते। ताला खुले या नहीं, यह अलग प्रश्न था। उन्होंने सोचा—'जब बाहर ताला है तब दरवाजा कैसे खुलेगा?' इसी भ्रम ने उन्हें अकर्मण्य बना डाला। वे बाजी हार गए। जिसने पुरुषार्थ किया, कर्मण्यता का परिचय दिया, वह जीत गया। वह मंत्री बन गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना का क्षेत्र निर्विघ्न नहीं है। उसमें अनेक भुलावे हैं। उन भुलावों से साधक यदि अकर्मण्य बन साधना को भुला देता है तो साधना से भटक जाता है।

यह बात सदा स्मृति में रहनी चाहिए कि जब अध्यात्म के पथ पर चल पड़े हैं, लड़ाई प्रारंभ कर दी है तो अकर्मण्य नहीं बनना है। यदि वह अकर्मण्य बन जाए, पुरुषार्थ को छोड़ दे, वह कभी सफल नहीं होता। मार्ग में ही भटक जाता है। लक्ष्य छूट जाता है। आवश्यकता है कि साधक पुरुषार्थ करता रहे, दरवाजे को खटखटाता रहे। यह मानकर न बैठ जाए कि बाहर ताला लगा हुआ है। ताला नहीं है तो दरवाजा खुल जाएगा और यदि ताला लगा हुआ भी है तो भी प्रयत्न से खुल जायेगा। पुरुषार्थ के सामने वह बंद रह नहीं सकता। साधक यह मानकर प्रयत्न छोड़ दे कि आज के युग में अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान या केवलज्ञान तो प्राप्त हो ही नहीं सकता। वह प्रयत्न को चालू रखे। सब-कुछ संभव है प्रयत्न करने वाले के लिए। सब-कुछ संभव है कर्मण्य के लिए। सब कुछ असंभव है अकर्मण्य के लिए। सब-कुछ संभव है पुरुषार्थी के लिए और सब कुछ असंभव है अ-पुरुषार्थी के लिए।

जैन परंपरा के आचार्यों ने कहा—"जंबू स्वामी अंतिम व्यक्ति थे जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। उनके बाद कोई मोक्ष नहीं पा सकता। अवधि-ज्ञान और मनःपर्यवज्ञान नहीं हो सकते।" आचार्यों ने इन विशिष्ट उपलब्धियों की प्राप्ति को सर्वथा नकार दिया, ताला ही लगा दिया। लोगों के मन में यह बात इतनी घर कर गयी कि उन विशिष्ट प्रक्रियाओं का प्रयत्न ही छूट गया। प्रयत्न ही नहीं रहा तो प्राप्ति की बात दूर हो गयी। कोई खड़ा ही न हो तो चलेगा कैसे? चलने के लिए खड़ा होना आवश्यक है। उपलब्धि के लिए प्रयत्न आवश्यक है। प्रयत्न ही न हो तो उपलब्धि कैसे हो सकती है?

कुछ वर्षों पूर्व 'मनोनुशासनम्' ग्रन्थ का कार्य चल रहा था। जैन परंपरा में 'जिनकल्प' एक विशिष्ट साधना पद्धति है। उसका प्रसंग चला। अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न आया। आचार्यश्री ने कहा—"मैं पुराने आचार्यों की अवज्ञा करना नहीं चाहता, किन्तु यह कहना अवश्य चाहूंगा कि जिन आचार्यों ने विशिष्ट उपलब्धियों के न होने का प्रतिपादन किया, उन्होंने जैन परंपरा का हित नहीं किया। उससे अहित ही हुआ। साधकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मन में हीन भावना पैदा हो गयी और उनका प्रयत्न शिथिल हो गया।

यह सच है। ऐसा ही हुआ है। जब आदमी मानकर बैठ जाता है तब उस दिशा में गमन ही नहीं होता। व्यक्ति उस ओर एक डग भी नहीं भरता। उसकी हार तो पहले ही हो जाती है। प्राप्ति की बात सर्वथा छूट जाती है।

एक व्यक्ति ने अपने मित्र से साठ रुपये उधार लिये। कुछ दिन बाद वह आया और बीस रुपये देकर बोला—"सारे रुपये आ गए ?" मित्र ने कहा—"साठ दिए थे और तुम बीस लौटा रहे हो, तो अभी चालीस रुपये बाकी रहेंगे। तीस और तीस साठ होते हैं। उसने कहा—"नहीं, दस और दस साठ होते हैं। मैंने साठ रुपये लौटा दिए हैं।" मित्र ने कहा—"भोले आदमी ! दस और दस बीस ही होते हैं। तीस और तीस साठ होते हैं।" उसने कहा—"मैं इस बात को नहीं मानता। मैं तो यही मानता हूं कि दस और दस साठ होते हैं। मेरी मान्यता मेरे पास और तुम्हारी मान्यता तुम्हारे पास।"

ऐसे मानने वाले को विधाता भी नहीं समझा सकता। गणित का नियम है—तीस और तीस साठ होते हैं। दस और दस बीस होते हैं। कोई व्यक्ति इस गणित के नियम को जानने की बात छोड़कर, मानने की बात को ही पकड़ बैठता है तो उसका कोई इलाज नहीं है।

हम मानने की बात को छोड़ दें और जानें। सदा जानने का प्रयत्न करें। सदा जानें। हम विशिष्ट उपलब्धियों के लिए प्रयत्न करें। वे प्राप्त हों तो ठीक है, न हों तो कोई बात नहीं। पुरुषार्थ को सही दिशा में लगाएं। पुरुषार्थ निरंतर हमारा साथ दे। हम प्रयत्न को बंद न करें।

पुरुषार्थ को साथ लेकर चलें। मन और शरीर को विशेष आदेश दें। मन जो भटकता रहता है, अनेक प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है, बहुत अधिक सक्रिय और गतिशील है, उस पर हम कुछ नियंत्रण करें। मन की सक्रियता को कम करें। यह कायोत्सर्ग के द्वारा हो सकता है। कायोत्सर्ग की प्रक्रिया शक्ति-संतुलन की प्रक्रिया है। हमारी शक्ति क्षीण न हो। शक्ति बनी रहे। उसके लिए शरीर को पूरा पोषण मिलता रहे। केवल खाने से ही पोषण नहीं मिलता। कायोत्सर्ग भी उस पोषण की एक कड़ी है।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—कायगुप्ति। मनोगुप्ति करें, जिससे की मन की शक्ति भी क्षीण न हो। मनोगुप्ति से मन की सक्रियता कम होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी गति मंद हो जाती है। उसका भटकाव बंद हो जाता है। वाक्गुप्ति का भी बहुत महत्त्व है। तीनों गुप्तियां साथ-साथ चलें। ये साधक के कवच-रूप हैं। इन तीनों कवचों से कवचित साधक कभी नहीं हारता। वह विजयी होता है। शक्ति का क्षय नहीं होता। शक्ति बराबर बनी रहती है। साधक का उत्साह क्षीण नहीं होता। वह प्रत्येक परिस्थिति के साथ लड़ने में सक्षम होता है।

भगवान् महावीर ने कहा—"आत्मा से लड़ो। बाहर लड़ने से क्या होगा? मोह और मूर्च्छा से लड़ो। यह दुर्लभ लड़ाई है। इस युद्ध में सम्मिलित होने का अवसर किसी-किसी को प्राप्त होता है, सबको नहीं। 'जुद्धारियं खलु दुल्लहं'—ऐसे युद्ध का अवसर कभी-कभी मिलता है।"

आपने युद्ध प्रारंभ कर दिया। रणांगण में उतर गए। पैर आगे बढ़ा दिए। अब यह कदम कभी पीछे न हटे। आप आगे बढ़ते जाएं। अपने पुरुषार्थ का पूरा उपयोग करें। अपनी शक्ति को काम में लें और जो कुछ बीच में आए उसे हटाते चलें। बीच में निराश न हों। सदा आशावान् रहें। हार सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाएगी। मंजिल पर पहुंचने पर सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाएंगे। वहां निम्न स्थितियों का सारा घेरा टूट जाता है। वहां केवल विजय ही विजय, उच्चता ही उच्चता, सफलता ही सफलता।

हम अपने पुरुषार्थ का, अपनी श्रद्धा का, अपने समर्पण का और अपनी सत्यनिष्ठा का पूरा-पूरा उपयोग करें और चेतना को उस स्थिति तक ले जाएं जहां जाने पर फिर चेतना नीचे नहीं उतरती, वह ऊर्ध्वारोहण ही करती है। अन्त में वह परम सत्ता को उपलब्ध हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन १९

संकलिका

- तनाव-मुक्ति :

  उपाय—कायोत्सर्ग ।

- जागरूकता :

  उपाय—श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा ।

- अन्तःकरण का परिवर्तन :

  उपाय—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा ।

- अपने-आपमें समाधान खोजने की प्रवृत्ति :

  उपाय—भीतर देखने, अपने-आपको देखने का अभ्यास ।

- उलझे हुए प्रश्न का समाधान :

  उपाय—दस मिनट आनन्द-केन्द्र में पीले रंग का ध्यान ।

- मानसिक उत्तेजना का निवारण :

  उपाय—दस मिनट ज्ञान-केन्द्र में श्वेत रंग का ध्यान ।

- मन की अशान्ति की समाप्ति :

  उपाय—सुषुम्णा में मन की यात्रा ।

- अकर्मण्यता, आलस्य, निष्क्रियता :

  उपाय—दस मिनट तक दर्शन-केन्द्र में लाल रंग का ध्यान ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना की निष्पत्ति

प्रारम्भ और परिणाम—दोनों साथ-साथ रहते हैं। दोनों एक साथ उत्पन्न नहीं होते, किन्तु दोनों जुड़े रहते हैं। एक पहले होता है और एक पीछे। कोई भी मनुष्य कुछ प्रारम्भ करता है तो पहले सोच लेता है कि इसका परिणाम क्या होगा ? निष्पत्ति क्या होगी ? परिणाम या निष्पत्ति का चिंतन किए बिना कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं किया जाता। परिणाम का चिंतन किए बिना जो कार्य प्रारम्भ करते हैं, वे बहुत समझदार नहीं होते।

अध्यात्म के पथ पर चरणन्यास करने वाला साधक भी पहले यह सोचता है कि इस साधना की निष्पत्ति क्या होगी ? मेरे अभ्यास का, मेरे इस प्रयत्न का परिणाम क्या होगा ? जो बीज बोया है, उसका फल कैसा होगा ? फल की बात समझ में आ जाए तो व्यक्ति चलना प्रारंभ कर देता है। निष्पत्ति की बात बहुत आवश्यक है। निष्पत्ति के बिना साधना का कोई क्रम चल नहीं सकता।

हमारी साधना चल रही है। इसकी पहली निष्पत्ति है—तनावमुक्ति। जो भी साधक इस साधना में आएगा, प्रयत्न करेगा, समय लगायेगा, उसको यह सुखद अनुभव होगा कि उसके तनाव धीरे-धीरे विसर्जित हो रहे हैं। कोई कायोत्सर्ग करे और तनाव न मिटे, यह कभी नहीं हो सकता। कायोत्सर्ग तनाव-मुक्ति का अचूक उपाय है। कायोत्सर्ग भी चले और तनाव भी चले—यह हो नहीं सकता। दोनों साथ नहीं रह सकते। कायोत्सर्ग सधते ही तनाव मिट जाता है। उसे मिटना ही होता है। एक ही रह सकता है—या तो कायोत्सर्ग रहेगा या तनाव। दोनों नहीं रह सकते। इन दोनों में कोई समझौता नहीं है। जिन्होंने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है, शरीर के शिथिलीकरण का प्रयत्न किया है, ममत्व के विसर्जन का अभ्यास किया है, मानसिक ग्रन्थियों को खोलने का अभ्यास किया है, उन्होंने यह अनुभव किया है कि शरीर हल्का हो गया है। वह सर्वथा तनावमुक्त हो गया है। उसका शरीर जमीन से ऊपर उठ रहा है। शरीर का जमीन से ऊपर उठना छोटी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात है। बड़ी बात है मानसिक बोझ का कम होना, मन के बोझ से उपर उठना। कायोत्सर्ग करने वाला केवल भूमि से ही ऊपर नहीं उठता, वह मन के बोझ से भी ऊपर उठ जाता है। वह हल्का हो जाता है। यह प्रत्यक्ष लाभ है—कायोत्सर्ग का।

योग के सभी आचार्यों ने एक बात पर बल दिया कि जो भी व्यक्ति साधना में प्रवेश करे, उसे तत्काल कुछ अनुभव करा देना चाहिए। इससे उस साधक की आस्था साधना में जम जाएगी। यदि गुरु शिष्य को साधना का उपदेश देता रहे, कोरी व्याख्या समझाता रहे, कोरा विश्लेषण करता रहे और कुछ भी अनुभव न कराए तो वह योग्य गुरु नहीं हो सकता। साधना के क्षेत्र में अध्यापक का मुख्य काम है अनुभव कराना, समझाना गौण काम है। यदि साधना के क्षेत्र में समझाना या विश्लेषण अधिक हो और अनुभव न हो तो साधना का क्रम चल नहीं सकता। वह उपक्रम व्यर्थ हो जाता है। बुद्धि के क्षेत्र में समझाने की बात चल सकती है, किन्तु विज्ञान या साधना के क्षेत्र में यह नहीं चल सकती। विज्ञान का विद्यार्थी प्रत्येक सिद्धांत को प्रैक्टिकल रूप से सिद्ध करना चाहेगा। कोरा समझाने की बात उसे मान्य नहीं होगी। साधना का क्षेत्र विज्ञान का ही क्षेत्र है। यह पूरा वैज्ञानिक क्षेत्र है। इसमें केवल सिद्धांत नहीं चलता। इसमें प्रयोग और अनुभव चलता है।

यदि कायोत्सर्ग की व्याख्या, साधक को, बुद्धि के स्तर पर समझा दी जाए तो उसके दिमाग में और-और जो उलझनें हैं उनके साथ यह एक उलझन और बढ़ जाएगी। मनुष्य का मस्तिष्क बुद्धि के भार से पहले ही आक्रांत है, उसमें थोड़ा भार और बढ़ जाएगा। ऐसा नहीं होना चाहिए। हम चले हैं—भारमुक्ति के लिए और यदि हम और भार बढ़ाएं तो यह बुद्धिमत्ता नहीं होगी। हमें अनुभव के स्तर पर चलना है। स्वयं का प्रयोग और स्वयं का अनुभव ही अध्यात्म की साधना में साथी होते हैं। अपना अनुभव, अपना प्रयोग और अपना परीक्षण। सिद्धान्त को समझने का इतना-सा उपयोग है कि हमारी दृष्टि साफ हो जाए। दृष्टि के साफ होने पर फिर करना ही शेष रहता है। करना मुख्य होता है, जानना गौण हो जाता है।

साधना का पहला चरण है कायोत्सर्ग। इसकी निष्पत्ति है—तनाव की मुक्ति। कायोत्सर्ग करने वाला साधक पहले ही दिन या दूसरे दिन इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति का अनुभव कर लेता है। वह अनुभव करता है कि उसका शरीर हल्का हो गया है, भार मिट गया है।

अध्यात्म साधना की पहली निष्पत्ति है—तनाव-मुक्ति और दूसरी निष्पत्ति है—जागरूकता। मन को जागरूक बना देना। मन को जागरूक बनाए बिना हम मनचाहा काम उससे नहीं ले सकते। हम शरीर-प्रेक्षा करते हैं। मन को भीतर ले जाने का प्रयास करते हैं, किन्तु वह बाहर ही बाहर दौड़ता है, भटकता है। क्योंकि वह जागरूक नहीं है। अजागृत अवस्था में ऐसा ही होता है। जब मन जाग जाता है तब सब-कुछ जाग जाता है। मन को जगाने के बाद और किसी को जगाने की आवश्यकता नहीं होती। मन जब जाग जाता है तब अपने भीतर बैठा हुआ अपना प्रभु, अपना परमात्मा जाग जाता है। जब मन नहीं जागता तब भीतर बैठा हुआ प्रभु नहीं जागता। एक के जागने पर सब जाग जाते हैं। एक के सोने पर सब सो जाते हैं। एक मन के जागने पर सब जाग जाते हैं। एक मन के सोने पर सब सो जाते हैं।

दूसरा महायुद्ध चल रहा था। भीषण बमवर्षा हो रही थी। लंदन नगर संत्रस्त था। सारे नगर में भय का साम्राज्य छाया हुआ था। उस नगर में एक बूढ़ी महिला निश्चित सोती और निश्चित जागती। आस-पास के लोगों की नींद हराम हो चुकी थी। वे न सुख से सो पाते और न सुख से जाग पाते। दूसरे सभी जागते किन्तु बुढ़िया निश्चिन्त सोती, गहरी नींद लेती। लोगों ने बुढ़िया से पूछा—"मां! क्या बात है? सारा नगर भय से आक्रांत है। यहां कोई भी सुख की चैन नहीं सो सकता। तुम कैसे सुख-पूर्वक सो जाती हो? रहस्य क्या है?" बुढ़िया ने कहा—"बेटा! मेरा प्रभु सदा जागता है। फिर मैं क्यों जागती रहूं। दो को जागने की जरूरत नहीं है।"

यह सच है। जब मन जाग जाता है फिर कोई जागे या न जागे, कोई जरूरत नहीं है। किसी को जगाने की भी जरूरत नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मन के जगाने पर कोई सोया रह नहीं सकता। सबको जगाना ही पड़ता है।

जागरूकता का विकास सिद्धान्त को जानने मात्र से नहीं होता। उसका विकास तब होता है जब साधक उचित दिशा में जागरूकता का अभ्यास करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जागरूकता का अचूक उपाय है—श्वास-प्रेक्षा। हम भीतर जाने वाले श्वास को भी देखें और बाहर निकलने वाले श्वास को भी देखें। यदि मन जागरूक होगा तो श्वास को ठीक से देखा जा सकता है। यदि मन जागरूक नहीं होगा तो न बाहर जाने वाला श्वास दीखेगा और न भीतर जाने वाला श्वास ही दीखेगा। दरवाजे पर खड़ा प्रहरी यदि जागरूक नहीं होता है तो कोई भी भीतर जा सकता है, कोई भी बाहर आ सकता है। फिर प्रहरी होने का कोई अर्थ ही नहीं है। आते-आते, श्वास को देखते-देखते मन इतना जागरूक हो जाता है कि फिर एक भी श्वास उससे बचकर निकल नहीं पाता। प्रत्येक श्वास को वह देख ही लेता है। श्वास और मन साथ-साथ रहें, साथ-साथ चलें, सहयात्री रहें। दो साथी साथ में चलें और एक नींद लेता रहे, यह नहीं हो सकता। नींद आते ही साथ छूट जाएगा। श्वास का काम है निरन्तर चलना। मन का काम यह नहीं है कि वह इसी सीमा में चले, श्वास के साथ ही रहे। श्वास का क्षेत्र सीमित है। मन का क्षेत्र असीम है। श्वास की यात्रा छोटी है। उसका यात्रा-पथ बहुत संकीर्ण है और छोटा है। नथुने से फेफड़े तक ही उसकी यात्रा होती है। वहां पहुंचकर वह वापस लौट आता है। बहुत ही छोटी यात्रा, बहुत ही छोटा मार्ग। किन्तु मन का मार्ग बहुत लम्बा-चौड़ा है, बहुत दीर्घ है। वह एक क्षण में सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता है। इतनी विशाल यात्रा करने वाले और इतनी तीव्र गति से चलने वाले मन को श्वास जैसे छोटे यात्री के साथ जोड़े रखना बहुत ही कठिन काम है। मन को श्वास का साथी बनाना बहुत कठोर कर्म है, बहुत बड़ी बात है। मन को छोटी-सी यात्रा और संकीर्ण यात्रा-पथ से बांध लेना, वास्तव में ही बड़ी बात है। किन्तु यह किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही मन जागरूक होता है। फिर वह कभी नहीं सोता। उसकी जागृति बनी रहती है। वह श्वास का साथी बन जाता है। जब कभी मन को थोड़-सी झपकी आ जाती है, श्वास का साथ छूट जाता है।

हमें मन को पूर्ण जागरूक रखना है। श्वास-प्रेक्षा इसका सबल माध्यम है। मन को साधने के बाद उसका भटकाव मिट जाता है, प्रमाद मिट जाता है, सोने की आदत मिट जाती है। फिर वह पूर्ण अनुशासित हो जाता है, नियंत्रित हो जाता है।

जागरूकता साधना की दूसरी निष्पत्ति है।

साधना की तीसरी निष्पत्ति है—अन्तःकरण का रूपान्तरण। रूपा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरण की बहुत बड़ी समस्या है। व्यक्ति ने बदलने के लिए हजारों प्रयत्न किए हैं। वह कितना साहित्य पढ़ता है, प्रवचन सुनता है, आदर्श पुरुषों की जीवन-गाथा पढ़ता है, कितने प्रलोभन और भय से वह गुजरता है, फिर भी वह नहीं बदलता और यदि कुछ थोड़ा-सा रूपान्तरण होता है तो वह नगण्य-सा होता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को भला बनाने की बात निरन्तर सोचता है, चाहे फिर वह स्वयं भला हो या न हो। कवि कविताएं बनाता है और यही चाहता है कि उसी कविताओं से सारा रूपान्तरण घटित हो जाए। सारे आदमी कविता को सुनकर बदल जाएं। किन्तु वह स्वयं खाली ही रह जाता है।

एक कवि ने अपनी पत्नी से कहा—"आज ऐसी कविता सुनाऊंगा कि सारी दुनिया में आग लग जाएगी।" पत्नी ने कहा—"क्यों शेखी बघारते हो! आगे की बात छोड़ो। आज घर में कोयला नहीं है, लकड़ी नहीं है। अपने कविता-पाठ से चूल्हे को जला दो तो जानूं।"

दुनिया में आग लगाने वाला कवि अपने घर के चूल्हे में आग नहीं लगा पाता। दुनिया को बदलने का प्रयत्न करने वाला प्रवचनकार स्वयं को नहीं बदल पाता। दुनिया को हंसाने वाला स्वयं रो-रोकर जिन्दगी बिताता है। एक घटना याद आ रही है।

ब्रिटेन का बहुत बड़ा हास्यकार था—ग्रेमाल्डी। वह बीमार हो गया। डॉक्टर के पास जाकर बोला—"डॉक्टर! मेरी चिकित्सा करो। मैं बहुत दुःखी हूं। मैं बहुत खिन्न हूं। मैं मानसिक व्यथाओं से घिरा हुआ हूं, पीड़ित हूं।" डॉक्टर ने उसका परीक्षण किया कुछेक प्रश्न पूछे। अन्त में डॉक्टर ने कहा—"मैंने तुम्हारी बीमारी का मूल पकड़ लिया है। मैं तुम्हें कोई दवा नहीं दूंगा। मेरा एक परामर्श मानो, तुम स्वस्थ हो जाओगे। तुम एक सप्ताह अपने देश के प्रसिद्ध हास्यकार ग्रेमाल्डी के पास रहो। तुम नीरोग हो जाओगे। तुम्हारी मानसिक ग्रन्थियां खुल जाएंगी।"

उसने सुना। वह अवाक् रह गया। आश्चर्य-भरी वाणी से वह बोला—"डॉक्टर! मैं ही हूं ग्रेमाल्डी। दुनिया को हंसाने वाला, सुख देने वाला, तृप्ति देने वाला मैं ही हूं ग्रेमाल्डी। मैं कितना दुःखी हूं!"

यह है संसार का रवैया। प्रत्येक कवि, साहित्यकार, नेता—सब दुनिया को बदलने में लगे हैं। वे स्वयं के अतिरिक्त सब-कुछ बदल देना चाहते हैं। वे यही चाहते हैं कि संसार का प्रत्येक आदमी पवित्र बन जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुनिया का नमूना ही बदल जाए। आज के धर्मगुरु भी यही प्रयत्न कर रहे हैं कि आदमी देवता बन जाए, परमात्मा बन जाए। इसके लिए वे नाना प्रकार के उपक्रम प्रस्तुत करते हैं। किन्तु आज तक जो हुआ है वह अपर्याप्त है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि इन उपदेशों से कुछ भी नहीं हुआ। किन्तु मैं यह अवश्य कहना चाहूंगा कि जो हुआ है वह नगण्य है, कुछ भी नहीं के समान है। शब्द का आलाप शाब्दिक ही रह जाता है। जब तक वृत्ति का रूपान्तरण नहीं होता, जब तक वृत्ति का मूल नहीं बदलता, तब तक वास्तविक रूपान्तरण घटित नहीं होता। इसका उपाय है। वह उपदेश में नहीं, क्रिया में है। यह शाब्दिक नहीं है।

उपाय किए बिना अन्तःकरण नहीं बदलता। जब तक अन्तःकरण नहीं बदलता तब तक बाहरी कलेवर बदल जाने पर भी कुछ भी नहीं बदलता। इतना मात्र होता है कि जो बीमारी बाहर होती है वह और गहरी चली जाती है। डॉक्टर के लिए समस्या बन जाती है। जो दिन में किया जाता था, वह रात में होने लगता है। जो प्रकाश में किया जाता था, वह अंधेरे में होने लगता है। केवल इतना परिवर्तन आ सकता है, और अधिक नहीं। अन्तःकरण बदले बिना आदमी कैसे बदले ?

जादूगर ने चूहे को बाघ बना दिया। सोचा कि लोगों को करतब दिखाऊंगा। करतब दिखाने का मौका आया। सामने से एक बिल्ली आई और बाघ भाग खड़ा हुआ। जादूगर हैरान रह गया। उसने सोचा—'चूहा बाघ बन गया, पर उसका अन्तःकरण नहीं बदला। अन्तःकरण से वह चूहा ही रहा, इसीलिए बिल्ली को देखते ही वह भाग गया।'

जब तक अन्तःकरण नहीं बदलता तब तक चूहा चाहे बाघ बन जाए या और कुछ, वह बिल्ली से डरता ही रहेगा। अन्तःकरण बदले बिना जीवन की प्रक्रिया में परिवर्तन नहीं आता।

हमारी साधना परिवर्तन की साधना है। यह केवल कपड़े बदलने या शरीर को बदलने की साधना-मात्र नहीं है, यह अन्तःकरण को बदलने की साधना है।

अन्तःकरण को बदलने का उपाय है—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा। हमारे शरीर में अनेक चैतन्य-केन्द्र हैं। हम उनकी प्रेक्षा करते हैं। कभी हम तीन चैतन्य-केन्द्रों, कभी दो और कभी एक को देखते हैं। कभी पूरे वर्तुल में उनकी प्रेक्षा करते हैं, उन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। जैसे ही हमारा ध्यान जैसे ही हमारी मानसिक आंखें उन केन्द्रों पर टिकती हैं, वे सक्रिय हो जाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। उनके स्रावों में परिवर्तन होने लगता है। जो कर्म-शरीर के सक्रिय गुप्तचर थे, हमारे गुप्तचर बन जाते हैं। वे हमारे अधीन हो जाते हैं। वे गुप्तचर नहीं 'खुलेचर' बन जाते हैं। सारी क्रियाओं में परिवर्तन होने लग जाता है। जब ग्रन्थियों के स्राव में परिवर्तन आता है तब अन्तःकरण अपने-आप बदल जाता है। तब किसी उपदेश या बाध्यता की जरूरत नहीं होती। बदलाव अपने-आप आने लग जाता है।

एक व्यक्ति है। वह चेन-स्मोकर है। बहुत सिगरेट पीता है। पहली सिगरेट से दूसरी सिगरेट सुलगाता है। साधना शिविर में आने से पूर्व उससे कहा—'सिगरेट छोड़ दो। इससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।' उसने कहा—'क्या मैं इतना भी नहीं समझता? क्या मैं मूर्ख हूं? दुनिया में इतने पदार्थ हैं, यदि व्यक्ति उनका उपभोग न करे तो क्या होगा उन पदार्थों का? वे फिर बनाए ही क्यों जाएंगे? यदि हम सिगरेट न पीएं तो क्या वह व्यवसाय बन्द नहीं हो जाएगा? क्या आर्थिक दृष्टि से समाज घाटे में नहीं रहेगा?' ये तर्क हैं उस आदमी के। तर्क के द्वारा उसे नहीं समझाया जा सकता।

वह व्यक्ति शिविर में रहा। ध्यान का क्रम सीखा। चैतन्य-केन्द्रों पर मन एकाग्र करना सीखा। धीरे-धीरे उसका अन्तःकरण बदलने लगा। उसको सिगरेट से घृणा हो गयी और आज यह स्थिति है कि उसके पास भी यदि कोई सिगरेट पीता है तो उसे वमन जैसा होने लगता है। यह है अन्तःकरण का रूपान्तरण। जब अन्तःकरण बदल जाता है तब किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं होती, किसी धर्मगुरु की आवश्यकता नहीं होती। जो होना होता है वह स्वतः घटित होने लग जाता है। वह द्रष्टा बन जाता है। द्रष्टा के लिए उपदेश व्यर्थ है। भगवान् महावीर ने कहा—'उद्देसो पासगस्स-णत्थि'—द्रष्टा के लिए उपदेश नहीं होता। उपदेश अद्रष्टा के लिए होता है। यह शाश्वत सत्य है। इसे हम समझें। उपदेश, शिक्षा और कथन उन व्यक्तियों के लिए हैं जो देखना नहीं जानते, जो द्रष्टा नहीं हैं। हमारी प्रेक्षा-पद्धति में पहले दिन से ही देखने का अभ्यास प्रारंभ हो जाता है। इसका सूत्र है—स्वयं को देखो, दूसरे को नहीं। हम सदा दूसरों को देखते हैं, स्वयं को नहीं। प्रेक्षा से स्वयं को देखने का अभ्यास परिपक्व होने लगता है।

विज्ञान में तीन आयाम मान्य हैं—लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई। उसमें अब चौथा आयाम भी मान्य हो गया है। चौथा आयाम है—काल। पुरुष के भी तीन आयाम हैं—स्मृति, चिन्तन और कल्पना। उसका चौथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयाम प्रेक्षा हो सकता है। इस आयाम में किसी को कुछ कहने की जरूरत नहीं होती। मनुष्य स्वयं चलता है, प्रवृत्त होता है। चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा के अभ्यास के द्वारा सब कुछ घटित होता है। द्रष्टाभाव यह चौथा आयाम है। जब वह खुल जाता है तब रूपान्तरण घटित होता है।

प्रेक्षा-ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है—अन्तःकरण का रूपान्तरण।

साधना से सब कुछ एक साथ हो जाता है, यह अति-कल्पना है। साधना जादू का डंडा नहीं है कि उसे घुमाते ही सारे परिवर्तन घटित हो जाएं। इसे निष्पत्ति का आदि बिन्दु मानें। उपलब्धि होगी, पर धीरे-धीरे। ज्यों-ज्यों साधना परिपक्व होगी, मन की एक दिशागामिता सधेगी, आकर्षण की धारा मुड़ेगी तो सब कुछ प्राप्त होता जाएगा। हम दस दिन या एक महीने की साधना कर यह न मानें कि हमने साधना की चोटी का स्पर्श कर लिया, हम वीतराग बन गए या सभी आकर्षणों से छूट गए, हमारी वासनाएं समाप्त हो गयीं। यह भ्रान्ति है। यह कुछ ही समय में घटित होने वाली अवस्था नहीं है। यह काल-सापेक्ष है।

प्रेक्षा पद्धति के ग्रहण को आप यह मानें कि यह एक नया आयाम खुला है। इसमें प्रवेश कर आगे बढ़ना है। आगे बढ़ना अपने-अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। आगे बढ़ना अपनी-अपनी आस्था पर निर्भर है। आगे बढ़ना अपनी-अपनी साधना की दीर्घकालिता और निरंतरता पर निर्भर है। यदि पुरुषार्थ, श्रद्धा, दीर्घकालिता और निरंतरता बनी रही तो एक दिन साधना की चरम उपलब्धि हो सकती है, सिद्धि का शिविर हस्तगत हो सकता है। साधक वीतराग बन सकता है, आत्मा के अस्तित्व का साक्षात् कर सकता है।

हमारा चरण उठा है। नई दिशा उद्घाटित हुई है। हमें चलना है, रुकना नहीं है। वास्तविकता को समझकर चरणन्यास करना है।

साधना की चौथी निष्पत्ति है—अपनी समस्याओं का समाधान अपने-आप में ढूंढना। इस खोज की मनोवृत्ति को जगाना चाहिए। जब हम बार-बार भीतर देखने का प्रयास करते हैं तब बाहर को देखने का चिर अभ्यास खंडित होने लगता है। राजनीति का सूत्र है—दूसरे को देखो। अध्यात्म का सूत्र है—अपने-आपको देखो। राजनेता सारा दोष दूसरों पर मढ़ता है। वही सफल राजनेता होता है जो दूसरों को अधिक से अधिक दोषी ठहराए और स्वयं दोषों से बच निकले। अध्यात्म इसके विपरीत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सफल आध्यात्मिक वह होगा जो अपने दोषों को पहले देखेगा। दूसरों के दोषों की ओर अंगुली नहीं करेगा। उसका सूत्र ही है—स्वयं को देखो। जब हम स्व-प्रेक्षा करने लग जाते हैं तब पर-प्रेक्षा का धागा टूट जाता है और इसके साथ-साथ दूसरों से समाधान पाने की बात भी छूट जाती है। साधक अपने में ही सारे समाधान ढूंढ़ने लगता है और समाधान के सारे सूत्र उसे वहां उपलब्ध हो जाते हैं।

हम नहीं जानते कि हमारे भीतर सारे समाधान हैं, इसीलिए हम समाधानों की खोज बाहर में करते हैं। यदि यथार्थ में यह बात ज्ञात हो जाए तो हमारा भटकाव मिट सकता है।

एक-दो प्रयोगों की चर्चा प्रस्तुत करता हूं। जब कभी अकर्मण्यता, आलस्य या प्रमाद छा जाए तब हम दर्शन-केन्द्र की प्रेक्षा करें। कुछ ही समय में आपमें ताजगी का संचार होगा। अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमाद मिट जाएंगे। इन दोषों को मिटाने का उपाय आप स्वयं में है, फिर बाहरी उपाय क्यों ढूंढ़े जाएं? आप आसन लगाकर बैठें। दस मिनट तक बालसूर्य जैसे चमकते लाल रंग का अपने दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करें। दस मिनट के बीतते-बीतते आपको स्फूर्ति का अनुभव होने लगेगा। मन कर्मण्यता और उत्साह से भर जाएगा।

कोई व्यक्ति मानसिक उत्तेजना से ग्रस्त है। वह यदि दस मिनट तक ज्ञान-केन्द्र पर नारंगी रंग का ध्यान करता है तो उत्तेजना शांत हो जाती है।

कोई व्यक्ति वासनाओं के उभार से पीड़ित है। वह यदि दस मिनट तक ज्योति-केन्द्र, ललाट के मध्य में ध्यान करे और आन्तरिक श्वास गले को छूते हुए ले तो वासनाएं शांत हो जाती हैं।

ये चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान करने के कुछेक फलित हैं। उनमें और-और समाधान भी हैं। प्रयत्न करने पर वे सारे खोजे जा सकते हैं। समस्या भी बाहर से लाते हैं, समस्या का भार बाहर से ढोते हैं और समाधान भी बाहर में खोजते हैं। भीतर कोई समस्या नहीं है, यह सच है। समस्या बाहर से ही आती है। परंतु उसका समाधान हम बाहर से ही क्यों लाएं? भीतर उसका समाधान है। यह अनुभूति तब होतीहै जब हम चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा करते हैं। हमारे भीतर समाधान बहुत हैं। सारे हमने खोज लिये, यह मैं नहीं कहता। जितने खोजे गए हैं, उनका हम उपयोग करें।

साधना की चौथी निष्पत्ति है—अपनी समस्याओं का समाधान अपने-आप में ढूंढ़ना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक प्रशिक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. उपसंपदा

हम एक विशिष्ट अनुष्ठान के लिए उपक्रम कर रहे हैं। यह अनुष्ठान एक आन्तरिक प्रयत्न है। कोई भी मनुष्य प्रयत्न के बिना रह नहीं सकता, किन्तु प्रयत्न की दो दिशाएं होती हैं—एक बाहरी दिशा में प्रयत्न होता है और एक आन्तरिक प्रयत्न होता है। बाह्य प्रयत्न अपने परिणाम लाते हैं और आन्तरिक प्रयत्न अपने परिणाम लाते हैं। बाह्य प्रयत्न के परिणामों के दर्शन के पश्चात् अनुभव होता है कि पूरा नहीं हुआ, कुछ शेष है, बाकी है। यह अनुभूति ही इस अन्तःप्रयत्न को प्रेरणा देती है। यदि यह न हो, रिक्तता न हो, बाह्य प्रयत्न से पूर्णता हो जाए तो फिर मनुष्य को इस अन्तःप्रयत्न को गति देने की कोई अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु हम देखते हैं कि तीव्रतम बाह्य प्रयत्न या बाह्य प्रयत्न के शिखर पर पहुंचकर भी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि अभी जीवन की तलहटी में ही हैं। वह शिखर का अनुभव नहीं कराता। तब सोचना पड़ता है कि इतना ऊंचा पहुंचने पर, शिखर पर पहुंचने पर भी वही मानसिक व्यथाएं, वही कष्ट, वही चिंताएं-दुश्चिन्ताएं सारी की सारी हैं और बढ़ती चली जा रही हैं तो जरूर यह शिखर, जो चुना है, कोई सही रास्ता नहीं हो सकता। भूल से इस शिखर पर आए या भ्रम हो गया कि जो शिखर नहीं था उसे शिखर मान लिया गया। इसीलिए नई दिशा खोजने की बात चलती है। हम एक अनुष्ठान कर रहे हैं, यह वास्तव में सत्य की खोज का अनुष्ठान है। एक ऐसा आरोहण है कि जो एवरेस्ट की चोटी से भी बहुत ऊंची चोटियों पर पहुंचने का अभियान है। इस अभियान में काफी शक्ति चाहिए। शरीर-बल भी चाहिए, मनोबल भी चाहिए और तपस्या का बल भी चाहिए, गुरु का बल भी चाहिए। आचार्यश्री उपस्थित हैं, इस अनुष्ठान के आदि क्षणों में। और आप सोचते हैं कि कल आचार्यवर प्रस्थान करेंगे, यहां उपस्थित नहीं होंगे। यह भी आप खोज करें। इसे ही सत्य की खोज बनाएं। उपस्थिति का अर्थ मात्र शारीरिक दूरी का न होना ही हो, तब तो यह सत्य का अनुष्ठान नहीं है। फिर तो एक शरीर का अनुष्ठान होगा, बाहर का ही अनुष्ठान होगा। हमें मन की शक्ति पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार करना है और मन में यह शक्ति है कि वह देश, काल की दूरी को पाट कर भी जहां चाहे वहां सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। इस बार एक बड़ा प्रयोग हमें करना है। वह प्रयोग यह है कि मन की शक्ति का विशेष जागरण। हमारी चर्चा का विषय यही है—मन की शक्ति और सामायिक। मन की शक्ति को जगाना है और वह जागृत हो सकती है, सामायिक के द्वारा। इसलिए ही ये दोनों बातें बनती हैं, मन की शक्ति और सामायिक। एक प्रयोग यही करें कि जो देश-काल की दूरी है उसको मन से मिटा सकें, मन जहां चाहे पहुंच सके और जहां चाहे वहां सान्निध्य प्राप्त कर सके। आपको फिर यह प्रतीत नहीं होगा कि हमारे इस अनुष्ठान में एक कमी है कि आचार्यश्री की उपस्थिति प्राप्त नहीं है। इसे प्रयोग के द्वारा आप पूरा कर सकेंगे और हमें आशा है कि आचार्यवर का यहां विराजना न हो सकने पर भी उनका आशीर्वाद उपलब्ध रहेगा और उनकी उपस्थिति भी। आप लोग अपने मनकी, ध्यान की शक्ति के द्वारा उपस्थिति प्राप्त करें और कभी-कभी आचार्यवर से प्रार्थना करें कि वे भी अपनी उपस्थिति यहां प्राप्त करावें। तो वे दोनों बातें पूरी हो जाएंगी और यह अनुष्ठान एक बहुत प्रयोगात्मक अनुष्ठान होगा। इसमें और नई उपलब्धियां होंगी।

मार्ग पर चलने का संकल्प, अन्तर्दर्शन का संकल्प और आध्यात्मिक अनुभव का संकल्प—ये तीन संकल्प हमारे अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होते हैं तो प्रस्तुत अनुष्ठान के लिए बहुत बड़ा बल उपलब्ध हो जाता है। अब उपसंपदा के पांच सूत्रों पर विशेष मनन करें। उपसंपदा का पहला सूत्र है—भाव-क्रिया।

भाव-क्रिया—क्रिया—काम करना। काम हम करते हैं। काम दो भागों में बंट जाता है। एक वर्ग का नाम रखा गया—द्रव्य-क्रिया और दूसरे का नाम है—भाव-क्रिया। जब एक काम करते हैं और अनेक काम करने लग जाते हैं तब क्रिया द्रव्य-क्रिया यानी अवास्तविक क्रिया हो जाती है, वास्तविकत क्रिया नहीं रहती। क्रिया का वास्तविक रूप समाप्त हो जाता है। हाथ चलता है, मुंह में कौर जाता है। हाथ की क्रिया हुई, कौर उठा, मुंह में गया। अब हाथ की क्रिया समाप्त हो गयी तो दांतों की क्रिया शुरू हो गयी। चबाना शुरू कर दिया। उसके साथ मन कोई दूसरी क्रिया न करे, कोई व्यवधान न डाले, तब वह क्रिया भाव-क्रिया होती चली जाएगी। किन्तु मन ने इतना विक्षेप डाल दिया कि हाथ कुछ कर रहा है, दांत कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर रहे हैं और मन हजारों-हजारों मील की यात्रा में चल पड़ा, कुछ देखना शुरू कर दिया और व्यवधान डालने शुरू कर दिए तो क्रिया द्रव्य-क्रिया, अवास्तविक क्रिया होगी। शरीर और मन का योग न होना द्रव्य-क्रिया है। शरीर और मन का योग होना, दोनों का एक साथ रहना, एक साथ चलना, साथ-साथ कदम बढ़ाना, भाव-क्रिया है। हम इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं देते कि शरीर और मन को साथ-साथ चलाना चाहिए। हमने मान लिया कि जब शरीर चलता है तो मन कहीं भी चले हमारा क्या लिया? इस बात की परवाह नहीं करते और फिर ऐसी आदत बन जाती है कि हर काम में मन के व्यवधान और हस्तक्षेप आते रहते हैं। इन हस्तक्षेपों को मिटाना इस साधना का मुख्य उद्देश्य है। उसके लिए भाव-क्रिया करें यानी शरीर और मन को साथ-साथ चलाएं। भाव-क्रिया के विभिन्न अर्थों को ठीक से समझ लें। पहला अर्थ है—वर्तमान में जीना। हमारे सामने तीन काल हैं—अतीत, भविष्य और बीच में है वर्तमान। हम जब-जब स्मृतियों में उतरते हैं, अतीत की यात्रा शुरू हो जाती है। या जब अतीत की यात्रा शुरू हो जाती है तब स्मृतियों में उतर जाते हैं। जब भविष्य की यात्रा शुरू करते हैं तब कल्पनाओं का ताना-बाना बुनने लग जाते हैं। भाव-क्रिया के लिए जरूरी है कि न स्मृति, न अतीत की यात्रा। न कल्पना, न भविष्य की यात्रा। केवल वर्तमान में जीने का अभ्यास करें, वर्तमान में रहें और वर्तमान के क्षण को गहराई से देखें। वर्तमान के क्षण को देखने का मौका ही नहीं मिलता जब हम अतीत और भविष्य में बस जाते हैं। वर्तमान में जीएं, वर्तमान को देखें। यह है—भाव-क्रिया। दूसरी बात—जो भी करें। अच्छा करें या बुरा भी कोई करें तो जानते हुए करें। बेहोशी में न करें, प्रमाद में न करें। जानते हुए करें। वह भाव-क्रिया हो जाती है। तीसरी बात—ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त रहने का अभ्यास करें। हमने जो ध्येय बनाया उसके प्रति निरन्तर जागरूक रहने का अभ्यास करें। वह भाव-क्रिया होगी। हमारी जागरूकता बढ़ेगी। हमारे इस अनुष्ठान का ध्येय है मन को निर्मल बनाना, यानी सत्य को उपलब्ध करना। सत्य तब उपलब्ध हो सकता है जब मन निर्मल हो। स्वच्छ दर्पण में तो ठीक प्रतिबिम्ब पड़ सकता है किन्तु दर्पण यदि धुंधला हो तो उसमें कैसे प्रतिबिम्बित होगी कोई वस्तु? इसलिए मन को निर्मल बनाना जरूरी है और जो मन निर्मल होगा वह निश्चित ही शक्तिशाली होगा। मलिन मन कभी शक्तिशाली नहीं बन सकता। हमारा ध्येय है—मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को निर्मल बनाना। इस ध्येय के प्रति निरन्तर जागरूक रहने का पहला सूत्र है भाव-क्रिया। और दूसरा सूत्र है—प्रतिक्रियामुक्त-क्रिया। हम विविध काम करते हैं। विविध लोगों के बीच रहते हैं, प्रतिक्रिया के लिए भी बहुत अवसर हो सकते हैं। अकेला आदमी हो तो भी कहीं-कहीं प्रतिक्रिया जुटा लेता है तो जहां पचास आदमी साथ रहते हों, वहां प्रतिक्रिया के लिए अवसर होते हैं। एक अभ्यास करें—क्रिया करें, प्रतिक्रिया से यथा-सम्भव मुक्त रहने का प्रयत्न करें।

जागरूकता का तीसरा सूत्र है—मैत्री। मैत्री का अर्थ है सबमें आत्मानुभूति। सबमें आत्मौपम्य बुद्धि का विकास। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो—यह हमारा सूत्र है। स्वयं की आत्मा को देखना है और दूसरे की आत्मा को भी देखना है। जो एक आत्मा को देखने लग जाता है वह सब आत्माओं को देखने लग जाता है। मैत्री का मतलब इतना ही नहीं कि हम किसी से झगड़ा न करें। मैत्री का अर्थ है—आत्मानुभूति करना। अपने में जैसे आत्मानुभूति करते हैं वैसे ही दूसरे में यह अनुभूति कर—'यह भी आत्मा है, परमात्मा है। जैसे आत्मा मेरे में है, वैसी ही आत्मा इसमें है।' जब यह अनुभूति पुष्ट होती है तब व्यक्ति की धारणा बदल जाती है। जब हमारी अनुभूति बाहरी स्तर पर चलती है तब सामने वाले व्यक्ति के विषय में अनेक विकल्प उठते हैं—यह अच्छा है यह बुरा है, यह काला है, यह ठग है, यह मूर्ख है आदि-आदि। इस स्तर पर जो व्यवहार होगा वह भिन्न होगा, वह आत्म-परक नहीं होगा। मैत्री का अर्थ है कि हम सब प्राणियों में उसी परम सत्ता का अनुभव करें जो सत्ता हमारे भीतर विराजमान है। आत्म-तुला का अनुभव ही यथार्थ रूप में मैत्री है।

जागरूकता का पहला सूत्र है—आहार-विवेक। जन्म के प्रारम्भिक क्षण से आहार प्रारंभ होता है और अन्तिम क्षण तक चलता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने की गति—अन्तराल-गति—में भी आहार के क्षण रहते हैं। आहार का अर्थ है—बाहर से लेना। जो बाहर से लिया जाता है उसकी शरीर पर या मन पर क्या प्रतिक्रिया होगी—इसका विवेक होना आवश्यक है। जो मन को निर्मल करना चाहे वह इस बात को जाने की कब खाना है, क्या खाना है, कितना खाना है और क्यों खाना है ?

जागरूकता का पांचवां सूत्र है—भाषा-विवेक, मित भाषण या मौन। मौन का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हम न बोले। मौन का मूल अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—हमारे बोलने की अपेक्षाएं ही मौन हो जाएं। अपेक्षा इतनी कम हो कि बोलने की जरूरत नहीं रहे। दो साधक मिले। दो घंटे आमने-सामने बैठे रहे। दोनों नहीं बोले, मौन रहे। दोनों आपस में समझ गए। यह है मौन। भगवान् महावीर साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहे अर्थात् मितभाषी रहे। वे बहुत नही बोलते थे। कुछ ही बात करते थे। विशिष्ट प्रतिमाधारी और जिनकल्प की साधना करने वाले व्यक्ति भी मितभाषी होते हैं। ऐसा नहीं कि वे बोलते ही नहीं। वे बोलते हैं, किन्तु अत्यन्त अपेक्षित। मौन का अर्थ ही है—अपेक्षाओं को कम कर देना, बोलने की जरूरत को कम कर देना।

साधक उपसंपदा के पांच सूत्रों को स्वीकार करता है। वह इस स्वीकरण से अपने अंतरंग संकल्प से जुड़ जाता है। अब उसे कुछ प्रयोग करने होते है। पहला श्वास का प्रयोग। श्वास हमारे जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है, सेतु है। यह बाहर के जीवन और भीतर के जीवन का सेतु है। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर को जोड़ने वाला है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो प्राण की शक्ति उपलब्ध होती है, वह प्राण श्वास के सहारे चलता है। श्वास और प्राण भिन्न-भिन्न हैं। प्राणशक्ति के लिए श्वास इतना जरूरी है कि यदि श्वास का अनुदान न मिले तो प्राण कुछ नहीं कर पाता। इस ईंधन के बल पर ही वह अपना काम चलाता है। श्वास बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। जो श्वास का ठीक अभ्यास नहीं करता वह न मन को वश में कर सकता है और न विकल्पों और विचारों को ही नियंत्रित रख सकता है। श्वास पर नियंत्रण किए बिना चित्त की चंचलता भी नहीं मिट सकती। इसलिए हमें श्वास का ठीक अभ्यास करना चाहिए। श्वास को गहराई से पकड़ना सीखें और मन को इसके साथ इस प्रकार जोड़ दें कि वह बिना जोड़े भी जुड़ा रहे। श्वास को समझ लेने पर यात्रा सुगम हो जाती है।

दूसरी बात है—शरीर-प्रेक्षा। इसका अर्थ है—भीतर में देखना। जब हम भीतर देखेंगे तब पहले श्वास दीखेगा और फिर शरीर। शरीर के स्थूल अवयवों को पार कर और आगे भीतर में देखेंगे तब जो देखना है वह दीखेगा। हमारे शरीर में कुछेक महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। ऐसे तो हाथ, पैर, आंख, कान आदि सभी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बिना काम नहीं चल सकता। किन्तु इन सब अवयवों को और इन्द्रियों को जो महत्त्वपूर्ण बनाते हैं हम उन्हें नहीं जानते। वे हैं—चैतन्य-केन्द्र। चैतन्य-केन्द्र सब अवयवों में सक्रियता पैदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले हैं। ये इन्द्रियों को भी संचालित करते हैं और मन को भी संचालित करते हैं। ये चैतन्य केन्द्र अनेक हैं। सात भी हैं और सात सौ भी हैं। और भी अधिक हो सकते हैं। उनको संतुलित करना, उनकी क्रियाओं को संचालित करना, साधना का मुख्य अंग है। यह कार्य चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा द्वारा किया जा सकता है। प्रेक्षा दर्शन का नया आयाम होगा। हम दर्शन के सैद्धान्तिक रूप को हजारों वर्षों से मानते आ रहे हैं। किन्तु दर्शन को जीवन में जीना, यह है दर्शन का नया आयाम। इसके द्वारा अनेक नई दृष्टियां उपलब्ध हो सकती हैं।

हमें अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास कर मोह के वलय को तोड़ना है।
हमें लेश्या-ध्यान का अभ्यास कर परिणाम-धारा को शुद्ध करना है।
अब हम अपने अनुष्ठान के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर जुट जाएं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २१

संकलिका

- चेतना के दो आयाम—इन्द्रिय चेतना का आयाम और मनश्चेतना का आयाम ।
- ये दो आयाम द्वन्द्व की आपूर्ति से संबद्ध ।
- द्वन्द्व पांच हैं—
  - ० लाभ और अलाभ का पहला द्वन्द्व ।
  - ० सुख और दुःख का दूसरा द्वन्द्व ।
  - ० जीवन और मरण का तीसरा द्वन्द्व ।
  - ० निन्दा और प्रशंसा का चौथा द्वन्द्व ।
  - ० मान और अपमान का पांचवां द्वन्द्व ।
- तीसरा आयाम है—समभाव ।
- यह है अध्यात्म के विकास का आदि-बिन्दु ।
- यह है—द्वन्द्वातीत चेतना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना का तीसरा आयाम

हम मनुष्य हैं। मनुष्य हैं, इसलिए सौभाग्यशाली हैं। हमारे सौभाग्य का मूल आधार है—हमारी शक्तियों के विकास करने की क्षमता। इन्द्रिय चेतना, मानसिक चेतना और मनोतीत चेतना को विकसित करने की क्षमता हमारे भीतर है। इन्द्रिय चेतना प्राणी मात्र में होती है। अत्यन्त अविकसित प्राणियों स्थावर प्राणियों में भी वह होती है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले प्राणियों में वह चेतना उपलब्ध है किन्तु मनुष्य में इस चेतना को विकसित करने की अपूर्व क्षमता और संभावनाएं हैं। ऐसी संभावना दूसरे प्राणियों को उपलब्ध नहीं है। मानसिक चेतना की भी यही स्थिति है। मन दूसरे प्राणियों में भी होता है, पशुओं में भी मन होता है, किन्तु मन के विकास की जो संभावनाएं मनुष्य को उपलब्ध हैं, वे पशुओं को उपलब्ध नहीं हैं। मनुष्य मन का बहुत विकास कर सकता है, मन की शक्ति को शिखर तक ले जा सकता है।

मनुष्य की इन्द्रिय चेतना भी बहुत क्षमताशील है और मानसिक चेतना भी अद्‌भुत संभावनाओं से भरी पड़ी है। हम इन्द्रिय-चेतना के विकास की संभावना से परिचित हों तथा मानसिक चेतना के विकास की संभावनाओं से परिचित हों।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसमें अनन्त शक्तियां हैं। मन के द्वारा स्मृति होती है, कल्पना और चिन्तन होता है। हम स्मृति करते हैं, इसलिए मन की क्षमता को जानते हैं। हम कल्पना करते हैं, इसलिए मन की क्षमता से परिचित हैं। हम चिन्तन करते हैं, इसलिए मन की क्षमता से परिचित हैं। किन्तु मन की क्षमताएं इतनी ही नहीं हैं, और भी व्यापक हैं। किन्तु वे व्यापक क्षमताएं तब जानी जा सकती हैं और तब उनका विकास किया जा सकता है जब सबसे पहले हम ज्ञात क्षमताओं से कुछ दूर हट सकें। जब तक हम स्मृति, कल्पना और चिंतन के घेरे में रहेंगे तब तक मन की संभावित क्षमताओं के बारे में हम जान नहीं पाएंगे। उनके प्रति विश्वास नहीं होगा और उन्हें उपलब्ध करने का कोई उपाय भी हस्तगत नहीं होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने मन की एक सीमा बना ली है। हम उसके बाहर जाकर देखना नहीं चाहते। इस संकुचित दायरे को तोड़े बिना क्षमताओं का विकास नहीं हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिन्तन—इन तीनों वलयों को तोड़े बिना हम अपनी मानसिक क्षमताओं का अंकन नहीं कर सकते। मन की शक्ति के द्वारा दूसरों के विचार जाने जा सकते हैं, दूसरों के विचारों को प्रभावित किया जा सकता है, संदेश भेजा जा सकता है, संदेश मंगाया जा सकता है। मन की शक्ति से पौधों को भी प्रभावित किया जा सकता है। जिस प्रकार चेतन को प्रभावित किया जा सकता है वैसे ही अचेतन को भी प्रभावित किया जा सकता है। मन से पदार्थ परिचालित किए जा सकते हैं, स्थानान्तरित किए जा सकते हैं; एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जा सकते हैं। इस प्रक्रिया में केवल मन की शक्ति ही काम करती है। किसी को छूने की जरूरत नहीं है। जब मन जागृत हो, अभ्यस्त और प्रशिक्षित हो, तो ये कार्य सहज-सरल हो जाते हैं।

प्रश्न होता है कि मन को प्रशिक्षित और अभ्यस्त कैसे किया जा सकता है? उसको जागृत करने का उपाय क्या है?

मन को जागृत करने का एकमात्र उपाय है—जीवन की दिशा को बदलना, जीवन की गति को बदलना। श्वास को बदले बिना जीवन की दिशा को नहीं बदला जा सकता। श्वास की गति को बदले बिना जीवन की गति को नहीं बदला जा सकता। हमारी सारी शक्तियों का प्रतिनिधि है—श्वास, प्राण। सारा जीवन प्राण के द्वारा संचालित है। हम प्राणी हैं। प्राण हैं; इसलिए हम जीवित हैं। निष्प्राण का अर्थ है मृत। जब तक प्राण का दीप जलता है तब तक सब कुछ है। हम ऐसा प्रयत्न करें जिससे यह दीप सदा जलता रहे। ऐसे दीप इस दुनिया में जले हैं जो शताब्दियों तक जलते रहे हैं। एक दीप वह होता है जो घण्टा-भर जलकर बुझ जाता है। एक दीप वह होता है जो दो-चार, दस-बीस दिन जलकर बुझ जाता है। तेल समाप्त हो जाता है, बाती जल जाती है, दीप बुझ जाता है। किन्तु मनुष्य ने क्या नहीं खोजा! उसने ऐसे दीप जलाए जो सैकड़ों वर्षों तक जलते ही रहे।

इटली देश का एक किसान खेत में काम कर रहा था। काम करते-करते उसका फावड़ा एक स्थान पर अटक गया। आस-पास से खोदना शुरू किया। वहां एक दरवाजा दिखाई दिया। दरवाजे को तोड़ा। जब वह उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीतर प्रवेश करने लगा तब उसे वहां प्रकाश दिखाई दिया। एक दीया जल रहा था। उसने सोचा—प्रेतात्मा है। भला, जमीन के भीतर दीया कैसे जले? वह निकट गया। उसने देखा, न तेल है और न बाती। वह बिना तेल और बाती का दिया था, उसके बुझने का प्रश्न ही नहीं होता। वह जलता रहा है और जलता ही रहेगा। वह निरन्तर जलने वाला दीया था। उसको मनुष्य ने ही बनाया था।

जब बाहर ऐसे दीप जलाए जा सकते हैं तब क्या भीतर ऐसे दीप नहीं जलाए जा सकते, जो सहस्राब्दियों तक निरन्तर जलते रहें? ऐसे दीप जलाए जा सकते हैं। उनके लिए अलग प्रकार की बाती चाहिए, अलग प्रकार का तेल चाहिए, जो कभी समाप्त न हो। ऐसे दीपों के लिए हवा की आवश्यकता नहीं होती। इनको जलाने के विशेष ईंधन होते हैं। पहला ईंधन है—श्वास। श्वास के ईंधन से ही ऐसे दीप जलाए जा सकते हैं जो निरन्तर जलते रहें। जिन लोगों ने श्वास की साधना नहीं की, श्वास को नहीं देखा, नहीं जाना, वे कभी भी प्रकाश-केन्द्र तक नहीं पहुंच सकते। क्योंकि जब तक श्वास को नहीं देखा जाता तब तक विकल्पों का शमन नहीं हो पाता और जब विकल्पों का शमन नहीं होता, स्मृति और कल्पना की उधेड़बुन समाप्त नहीं होती, तब तक निरन्तर जलने वाला, बाती और तेल से शून्य, दीप नहीं जलाया जा सकता। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जितने अर्हत्, तीर्थंकर या विशिष्ट ज्ञानी हुए हैं, विशिष्ट साधक हुए हैं, उन सबने श्वास का ईंधन काम में लिया है। वर्तमान के विशिष्ट साधक भी इसी ईंधन के सहारे प्रकाश तक पहुंचते हैं और अनागत काल में भी यही ईंधन प्रकाश तक ले जाने वाला होगा। यही एकमात्र उपाय है। श्वास का संयम और श्वास की गति का परिवर्तन—साधना की यह प्रमुख शर्त है।

श्वास को देखने की बात बहुत छोटी लग सकती है, किन्तु यह बहुत ही मूल्यवान् बात है। जिसे अब तक नहीं देखा, उसे अब देखना प्रारंभ कर रहे हैं। जिससे हम आज तक परिचित नहीं थे, हम उससे परिचित हो रहे हैं। जिसकी हमने उपेक्षा की उसकी अपेक्षा कर रहे हैं। जो हम छोटा श्वास लेते थे, आज हम उसे दीर्घ कर रहे हैं। प्राण वायु को हम भीतर बहुत कम ले जा रहे थे, अब उसको अधिक ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्राणवायु के द्वारा जिन शक्ति केन्द्रों को हम विकसित नहीं कर पा रहे थे, अब पूरे प्राणवायु का प्रयोग कर हम उन शक्ति केन्द्रों को विकसित कर पाएंगे। मन की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति को विकसित करने के लिए प्राणवायु की शक्ति का विकास करना बहुत आवश्यक होता है। प्राण की शक्ति को विकसित करने के लिए श्वास की शक्ति बहुत जरूरी है। इसकी एक शृंखला है। सूक्ष्म शरीर से प्राण की शक्ति आती है। उस प्राण के द्वारा प्राणी बनता है और यह प्राण की धारा श्वास के सहारे चलती है। श्वास का सहारा लिये बिना, श्वास के रथ पर चढ़े बिना प्राण की धारा नहीं चल सकती। श्वास और प्राण, श्वास और मन—ये अभिन्न बन जाते हैं, अटूट कड़ी के रूप में काम करते हैं। एक कड़ी यदि अस्त-व्यस्त होती है तो दूसरी कड़ी भी गड़बड़ा जाती है। मन को हम सीधा (डाइरेक्ट) नहीं पकड़ सकते। बहुत शक्ति चाहिए मन को पकड़ने के लिए। प्राण की धारा को भी सीधा नहीं पकड़ा जा सकता। किन्तु श्वास के माध्यम से प्राण को पकड़ा जा सकता है और प्राण के माध्यम से मन को पकड़ा जा सकता है। मन को पकड़ने के लिए प्राण को पकड़ें और प्राण को पकड़ने के लिए श्वास को पकड़ें। जब श्वास की पकड़ आती है तब सारा व्यक्तित्व ही बदल जाता है। श्वास-परिवर्तन के द्वारा हम मानसिक विकास कर सकते हैं।

मानसिक विकास को बढ़ाने के लिए 'सामायिक' जरूरी होती है। जब तक सामायिक नहीं होती तो मानसिक विकास भी पर्याप्त नहीं होता। सामायिक के बिना समता का विकास नहीं होता और जो विकास है वह भी खंडित होने लगता है। जो निर्मित होता है वह टूटने लग जाता है। दोनों का योग है। मानसिक शक्ति का विकास हुए बिना सामायिक का विकास नहीं हो सकता और सामायिक का विकास हुए बिना मानसिक शक्ति का विकास नहीं हो सकता।

सामायिक हमारी चेतना का तीसरा आयाम है। हम चेतना के दो आयामों में जीते हैं, जिनका सम्बन्ध द्वन्द्व की आपूर्ति से है। हमारे जीवन में बहुत सारे द्वन्द्व हैं। लाभ और अलाभ का एक द्वन्द्व है, सुख और दुःख का एक द्वन्द्व है, जीवन और मरण का एक द्वन्द्व है, निन्दा और प्रशंसा का एक द्वन्द्व है, मान और अपमान का एक द्वन्द्व है—ये पांच प्रकार के द्वन्द्व हैं। अध्यात्म शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र इन पांचों द्वन्द्वों के आधार पर चलते हैं। शकुन का शास्त्र भी इन्हीं द्वन्द्वों के आधार पर चलता है।

ज्योतिषी ग्रहों की गति के आधार पर लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण का निर्णय करता है। शकुनशास्त्री शकुनों के आधार पर और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरशास्त्री स्वरों के आधार पर इनका निर्णय करता है। मनुष्य के भाग्य का निपटारा इन द्वन्द्वों के आधार पर होता है। जब इन द्वन्द्वों के विषय की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है तब द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। अध्यात्मशास्त्र इनसे प्रारंभ होता है किन्तु द्वन्द्वातीत चेतना के आधार पर चलता है। सामान्य जीवन में हम द्वन्द्वों से ही परिचित होते हैं। प्रतिकूल स्थिति में मन में शोक और अनुकूल स्थिति में मन में हर्ष आना स्वाभाविक है। हमने स्वाभाविक मान लिया। शोक को भी स्वाभाविक मान लिया और हर्ष को भी स्वाभाविक मान लिया। हमारे लिए कष्ट स्वाभाविक संवेदना स्वाभाविक और भी सारे सुख-दुःख स्वाभाविक। हमने इन सबको स्वाभाविक मान लिया, अर्थात् चेतना के परे भी कोई संसार है, चेतना के आयामों के परे भी कोई मन की स्थिति है—यह हमें ज्ञात ही नहीं है। हमारे जीवन का पूरा क्रम इन दो आयामों—इन्द्रिय चेतना और मनःचेतना में चलता है, उनकी परिधि में चलता है। अध्यात्म का विकास वहां से शुरू होता है जहां ये आयाम टूट जाते हैं। वहां तीसरा नया आयाम खुलता है। वह समभाव का आयाम है। वहां सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। न शोक, न हर्ष। न सुख, न दुःख। न जीने का हर्ष और न मरने का शोक। न मान के प्रति आकर्षण और न निन्दा के प्रति प्रकंपन—इस दोनों से हटकर एक ऐसी स्थिति बन जाती है जो संतुलित होती है। यह है चेतना का तीसरा आयाम। इस नए आयाम पर हमें बहुत विचार करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २२

संकलिका

- मानसिक शक्ति को जगाने के चार सूत्र—
  - शिथिलीकरण।
  - शक्तियों के अपव्यय से बचना।
  - प्राणधारा को निश्चित दिशा में प्रवाहित करना।
  - भावना का पूर्ण अभ्यास।
- मस्तिष्क और मेरुदण्ड द्वारा संचालित सक्रियता को जिस सीमा तक रोकते हैं उस सीमा तक स्वैच्छिक नाड़ी-मण्डल द्वारा संचालित अवचेतन की सक्रियता बढ़ती है। उससे शरीर के 'इन्वोलण्टरी' क्रिया-कलापों पर नियंत्रण।
- प्रशिक्षित व्यक्ति मानस-तरंगों की आवृत्तियों को कम कर सकता है, उनकी लम्बाई को बढ़ा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक शक्ति का विकास और उपयोग

हम अध्यात्म की साधना के लिए उपस्थित हैं। अध्यात्म की साधना आत्मा की साधना है। हमें आत्मा को जानना है, देखना है, अनुभव करना है। आत्मा को देखने के लिए शक्तिशाली अस्त्र चाहिए, विस्फोटक शक्ति चाहिए, जिससे कि हम आत्म-साक्षात्कार के बीच में आने वाली रुकावटों, अवरोधों तथा बाधाओं को पार कर वहां तक पहुंच सकें।

आत्मा को देखने के दो शक्तिशाली अस्त्र हैं—मानसिक शक्ति और प्राण शक्ति। एक अस्त्र है मन का और दूसरा है प्राण का। मानसिक शक्ति का जागरण और प्राण का संचय—ये दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं। जब मानसिक योग और प्राणिक योग सधता है तब आध्यात्मिक शक्ति की बात सहज सध जाती है। मन को शक्तिशाली बनाए बिना, प्राण की शक्ति को विकसित किए बिना यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करना चाहे, आत्मा को देखना-जानना चाहे तो यह चाह मात्र हो सकती है उसे सफलता कभी नहीं मिल सकती।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसकी अनगिन शक्तियां हैं। वे प्रशिक्षण के द्वारा जागृत होती हैं। मन की दो स्थितियां हैं–प्रशिक्षित और अशिक्षित। अशिक्षित मन अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकता। शक्तियां शक्तियां-मात्र रह जाती हैं। आदमी सोया का सोया रह जाता है। वह कभी जागता ही नहीं। जागरण के बिना शक्ति का उपयोग ही नहीं हो सकता। जब मन एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित हो जाता है तब आश्चर्यकारी घटनाओं को घटित करने में वह सक्षम हो जाता है। मन के प्रशिक्षण की एक पद्धति है। यह कोई आध्यात्मिक बात नहीं है। मन की शक्ति को जगाना कोई आध्यात्मिक घटना नहीं है, आध्यात्मिक जागरण नहीं है। जो लोग ज्ञान, दर्शन और चरित्र में पूर्ण निष्ठावान् नहीं होते, जिनका आचरण बहुत ऊंचा भी नहीं होता, वे लोग भी मानसिक शक्ति का जागरण कर लेते हैं। क्योंकि यह तो एक पद्धति का अभ्यास है। कोई भी इसे कर सकता है। शरीर की लाघवता को घटित किया जा सकता है। शरीर को हल्का बनाना पद्धति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सापेक्ष है। आठ सिद्धियों में एक सिद्धि है—अणिमा। इसके अभ्यास से शरीर हल्का हो जाता है। इतना हल्का कि वह चाहे जहां टिक सकता है, ठहर सकता है। यह योग की एक प्रक्रिया है किन्तु यह भी कोई आध्यात्मिक प्रक्रिया नहीं है। जितनी सिद्धियां हैं, वे सब अध्यात्म के नीचे रह जाती हैं। ये सिद्धियां मानसिक शक्ति के जागरण और मांसपेशियों के समुदित व्यायाम के द्वारा उपलब्ध होती हैं।

रूपाकोशा मगध देश की राजनर्तकी थी। आचार्य कपिलदेव के पास उसने नृत्य और संगीत का अभ्यास किया। धीरे-धीरे वह अपनी नृत्यकला में इतनी निपुण हो गयी कि सरसों के ढेर पर रखी सुई पर नाचने में वह सक्षम हो गयी। सरसों का एक दाना भी ढेर से अलग न हो और सुइयों से पैर भी न विंधे। यह था नृत्य का कौशल। रूपाकोशा उस नृत्य में उत्तीर्ण थी।

अभी कुछ वर्षों पूर्व की घटना है। बीकानेर के महाराजा गंगासिंहजी की हीरक जयन्ती मनाई जा रही थी। एक नर्तक आया हुआ था। वह अपना नृत्य दिखा रहा था। एक मंच पर वह नाच रहा था। मंच के नीचे अनाज के दो-चार ढेर किए हुए थे। वह नर्तक मंच पर नाचते-नाचते अनाज के ढेरों पर थिरकने लगा। जिस रूप में वह मंच पर नाच रहा था उसी रूप में वह अनाज के ढेर पर नाच रहा था। अनाज के दाने ज्यों के त्यों थे।

अनाज के ढेर पर नाचा जा सकता है और सरसों पर रखी हुई सुइयों पर भी नाचा जा सकता है। इसका रहस्य यही है कि जब शरीर के गुरुत्वाकर्षण को अभ्यास के द्वारा, साधना के द्वारा कम कर दिया जाता है तब शरीर भारहीन हो जाता है। जब गुरुत्वाकर्षण समाप्त हो जाता है तब नर्तक चाहे अनाज के ढेर पर नाचे या सुई पर नाचे, या अधर में नाचे, कोई अंतर नहीं आता। एक अन्तरिक्षयात्री जब अन्तरिक्ष की यात्रा करता है और गुरुत्वाकर्षण की सीमा से परे चला जाता है तब वह आकाश में तैरने लग जाता है। भारहीन अवस्था में कहीं भी अवस्थित होने में कोई कठिनाई नहीं होती।

शिष्य ने पूछा—"भंते! पदार्थ किस पर टिके हुए हैं?"

भगवान् ने कहा—"वत्स! पदार्थ स्व-प्रतिष्ठित हैं। वे किसी अन्य पदार्थ पर टिके हुए नहीं हैं।"

यह कैसे हो सकता है? स्पष्ट है कि हम पृथ्वी पर टिके हुए हैं। वृक्ष, पेड़-पौधे आदि सारे पदार्थ पृथ्वी पर टिके हुए हैं। यह कैसे कहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है कि पदार्थ स्व-प्रतिष्ठित हैं ? व्यवहार के धरातल पर हम कहते हैं कि पदार्थ पृथ्वी पर टिके हुए हैं। निश्चय के धरातल पर कहा जा सकता है कि पदार्थ अपने आधार पर ही टिके हुए हैं। व्यवहार स्थूल होता है। उसका निरूपण स्थूल ही होगा। निश्चय सूक्ष्म की व्याख्या करता है। सूक्ष्म सत्य यह है कि सब पदार्थ स्व-प्रतिष्ठित हैं। कोई किसी पर आधारित नहीं है, कोई किसी पर टिका हुआ नहीं है। गुरुत्वाकर्षण केवल आरोपित है। गुरुत्वाकर्षण समाप्त होते ही कोई किसी पर आधारित नहीं रहेगा। घड़ा घड़ा रहेगा, पानी पानी रहेगा। न घड़े में पानी है और न पानी में घड़ा है। घड़ा अपने अस्तित्व में है और पानी अपने अस्तित्व में है। स्थूलदृष्टि से निरूपण किया जाता है कि घड़े में जल है। घड़ा और पानी दो वस्तुएं हैं। घड़े में पानी है—यह हमारी स्थूलदृष्टि है। व्यवहार नय है। घड़ा अपने स्वरूप में है और पानी अपने स्वरूप में है। गुरुत्वाकर्षण समाप्त होते ही भारीपन समाप्त हो जाता है। फिर आधार की कोई अपेक्षा ही नहीं रहती।

मन की शक्ति अभ्यास के द्वारा जागृत होती है। एक है अभ्यास और एक है अभ्यास की पद्धति। अभ्यास की पद्धति प्राप्त हो जाए और बार-बार अभ्यास किया जाए तो उस दिशा में विकास हो जाता है। अभ्यास की हजारों पद्धतियां हैं जिनसे मन को शिक्षित किया जा सकता है। मन के द्वारा हजारों-हजारों काम किए जा सकते हैं। एक ही व्यक्ति सब पद्धतियां साधे यह संभव नहीं है। एक दिशा में अभ्यास किया जा सकता है। एक व्यक्ति ने सोचा कि मैं एक अभ्यास पर बिजली को जलाने और बुझाने की शक्ति प्राप्त कर लूंगा। एक दिशा में अभ्यास प्रारंभ किया। संकल्प बढ़ा। वह दूर बैठा ही बिजली जलाने-बुझाने में सफल हो गया। इसको हम कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं दे सकते। वह केवल मानसिक शक्ति का एक प्रयोग-मात्र है। अमुक धारा में मन का प्रवाह ले जाया गया और वह सध गया। एक व्यक्ति ने प्रयोग किया कि मैं मन की शक्ति के द्वारा किसी को वरदान और किसी को शाप दूंगा, किसी पर अनुग्रह करूंगा और किसी पर निग्रह करूंगा। उसी धारा में मन को प्रवाहित किया और उसे वह शक्ति प्राप्त हो गयी। उसमें वरदान देने की शक्ति भी आ गयी और शाप देने की शक्ति भी आ गयी।

एक संन्यासी भिक्षा के लिए गया। बहिन ने सुना-अनसुना कर दिया। संन्यासी का क्रोध भभक उठा। उसने शाप देते हुए कहा—"भस्म हो जाओ।" स्त्री ने हंसते हुए कहा—"महाराज ! मैं वह चिड़िया नहीं हूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसको आपने भस्म किया है। मैं पतिव्रता नारी हूं। आपकी मन-शक्ति मेरे पर काम नहीं करेगी।"

मन की अनगिन शक्तियां हैं। एक धनुर्धर था। वह अपने समय का विख्यात धनुर्धर था। उसे अपनी धनुर्विद्या पर गर्व था। एक व्यक्ति के समक्ष वह अपनी प्रशंसा कर रहा था। उस व्यक्ति ने कहा—"भाई! तुम प्रसिद्ध धनुर्धर हो। परन्तु मेरे गुरु की तुलना में तुम नहीं आ सकते। वे ऐसे धनुर्धर हैं, जिनकी तुलना कठिन है।" वह गुरु को देखने गया। धनुर्विद्या का चमत्कार दिखाने की प्रार्थना की। गुरु उसे एक पहाड़ की चोटी पर ले गया। गुरु ने आकाश को एकटक देखना प्रारंभ किया। आकाश की ऊंचाई पर पक्षियों का एक झुण्ड उड़ रहा था। वह उसकी दृष्टि की रेंज में आ गया। ज्योंही उसकी दृष्टि पक्षियों पर पड़ी, सारे पक्षी जमीन पर आ गिरे। उसने न कोई प्रत्यंचा तानी और न कोई तीर साधा। केवल अनिमेष प्रेक्षा से वह सध गया। यह थी बिना धनुष और बाण की धनुर्विद्या। अनिमेष प्रेक्षा से यह सब कुछ हो सकता है। उड़ते पक्षियों को गिराया जा सकता है, चलते वाहनों को रोका जा सकता है।

ये सब आध्यात्मिक नहीं, केवल मानसिक शक्ति के प्रयोग हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति को भी मानसिक शक्ति का जागरण करना होता है। चमत्कार दिखाने वाले व्यक्ति को भी मानसिक शक्ति का जागरण करना होता है। मानसिक शक्ति का जागरण दोनों के लिए नितान्त जरूरी है। मानसिक शक्ति के जागरण के बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता किन्तु दिशाएं भिन्न हो जाती हैं, ध्येय भिन्न हो जाते हैं, किन्तु जागरण की पद्धति में कोई अन्तर नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि सदाचारी व्यक्ति के तो मानसिक शक्ति का जागरण हो जाता है और असदाचारी व्यक्ति के वह नहीं होता। जिसका अच्छा ध्येय है उसके मानसिक शक्ति का विकास होता है और जिसका बुरा ध्येय है उसके मानसिक शक्ति का विकास नहीं होता—वह नियम नहीं है। शत्रुओं को नष्ट करने के लिए किसी ने विद्या की साधना की तो वह भी सिद्ध हो गयी। और किसी ने दूसरों की भलाई या कल्याण के लिए विद्या की साधना की तो वह भी सिद्ध हो गयी। अध्यात्म का मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जहां अपवित्र मन, वचन और कर्म के लिए कोई अवकाश नहीं है। नितान्त निर्मल मन, निर्मल वाक् और निर्मल कर्म ही इस अध्यात्म-जगत् की अपेक्षा है। यही इसकी इयत्ता है। अन्य क्षेत्रों में यह नियामकता नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई भी उस शक्ति को जागृत कर सकता है।

शक्ति-जागरण का अभ्यास जटिल नहीं है। उसमें कुछेक तथ्य अपेक्षित होते हैं।

पहला तथ्य है—शिथिलीकरण। प्रत्येक शक्ति के जागरण में इसका महत्त्वपूर्ण योग है। मन का शिथिलीकरण, वाणी का शिथिलीकरण, शरीर का शिथिलीकरण और श्वास का शिथिलीकरण किए बिना कोई भी शक्ति अभिव्यक्त नहीं होती। तनाव की स्थिति में कोई भी शक्ति जागृत नहीं हो सकती। मस्तिष्क में तनाव है, शरीर में तनाव है तो यह स्थिति शक्ति-जागरण में बाधक होती है। शिथिलीकरण अर्थात् प्रवृत्ति का विसर्जन। जब प्रवृत्ति का विसर्जन होता है तब भीतरी शक्तियों को जागने का अवसर मिलता है। भीतरी शक्तियां जागना चाहती हैं, किन्तु उनके सामने प्रवृत्ति का अवरोध आ जाता है। वे जाग नहीं पातीं। जब प्रवृत्ति का अवरोध समाप्त होता है तब वे जाग जाती हैं। जो व्यक्ति कायोत्सर्ग साध लेता है, वह शक्ति-जागरण का बीजमन्त्र पा लेता है।

दूसरा तथ्य है—शक्तियों के अपव्यय से बचना। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति शक्तियों का अपव्यय करता है। आवश्यकता हो या न हो आदमी सोचता रहता है, चिन्तन करता रहता है। मस्तिष्क को एक क्षण भी विश्राम नहीं मिलता। सोते हैं तब भी वह चलता है। स्वप्न आते हैं, मस्तिष्क सक्रिय रहता है। यह शक्ति का कितना बड़ा अपव्यय है!

मन निरन्तर क्रियाशील रहता है। वह कभी स्थिर नहीं होता। शरीर भी स्थिर नहीं रहता। कभी आधा घंटा भी एक आसन में बैठ जाते हैं तो अनेक स्थानों पर दर्द होने लग जाता है। स्थिरता का हमें अभ्यास ही नहीं है। हम मानते हैं कि यदि मन गतिशील रहेगा, वाणी और शरीर गतिशील रहेंगे तो विकास होगा। शरीर गतिशील होगा तो शक्ति बढ़ेगी, मन गतिशील होगा तो शक्ति बढ़ेगी, मन गतिशील होगा तो चिन्तन की शक्ति विकसित होगी, बुद्धि बढ़ेगी और वाणी गतिशील होगी तो वक्तृत्व का विकास होगा। किन्तु यह उल्टी प्रक्रिया चल रही है। वास्तविकता यह है जब मन, वाणी और काया का अप्रयोग होता है तब शक्ति का जागरण संभव बनता है। इनकी क्रियाशीलता में शक्ति कभी नहीं जाग सकती। इनसे कम काम लेना चाहिए, तभी शक्ति का जागरण हो सकता है। मैं यह नहीं कहता कि इनसे काम लेना ही नहीं चाहिए, किन्तु इनसे कम काम लेना ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेष्ठ है।

हमारे नाड़ी-संस्थान के दो भाग हैं—एक है स्वतःचालित और दूसरा है—परतःचालित। स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान को हम कम काम में लेते हैं। परतःचालित नाड़ी-संस्थान का उपयोग अधिक करते हैं। इसलिए हमारी आन्तरिक शक्तियां जागृत नहीं होतीं। उन्हें जागृत होने का अवसर ही नहीं मिलता।

हमारा यह सक्रिय नाड़ी-संस्थान, जो मस्तिष्क और मेरुदंड प्रणाली के द्वारा शासित और संचालित है, जितना सक्रिय रहता है उतनी ही हमारी आन्तरिक शक्तियां दबी रह जाती हैं। जब हम उस नाड़ी-संस्थान को अनुशासित करते हैं, उसकी सक्रियता को कम करते हैं तब आन्तरिक सक्रियता, अवचेतन मन की सक्रियता अपने-आप बढ़ जाती है। अवचेतन मन की सक्रियता बढ़ने का अर्थ है—शक्ति का जागरण। शक्तियों का स्रोत फूट पड़ता है, स्रोत खुल जाता है।

शक्ति-जागरण के लिए यह अत्यन्य अपेक्षित है कि स्थूल या चेतन मन की सक्रियता को, परतःचालित नाड़ी-संस्थान की सक्रियता को कम कर आन्तरिक मन की सक्रियता को बढ़ाया जाए।

तीसरा तथ्य है—प्राणधारा को निश्चित दिशा में बहाना। जब हम प्राणधारा को एक निश्चित दिशा में प्रवाहित करते हैं तब एक बिन्दु ऐसा आता है जहां दिशा उद्घाटित हो जाती है। कोई साधक चाहता है कि वह अज्ञात देश को जाने। वह प्रयोग करता है। जिस दिशा में वह देश स्थित है, उस दिशा में वह अपनी प्राणधारा को प्रवाहित करना प्रारंभ कर देता है। पूरी तन्मयता और एकाग्रता के साथ वह ऐसा करता है। कुछ दिनों तक यह प्रयोग चलता है। संकल्प जब पूर्ण स्थिर हो जाता है तब एक दिन वह अज्ञात देश उसके लिए ज्ञात बन जाता है। अब वह अज्ञात स्थान साक्षात् हो जाता है।

एक है ज्ञात स्थान को जानना। आपने अपना घर देखा है, जाना है। अब आप घर से हजारों मील दूर चले गए। मन को एकाग्र कर प्राणधारा को उस घर की दिशा में नियोजित करें। कुछ ही समय के पश्चात् आपको अपना घर प्रत्यक्षतः दीखने लग जाएगा। वहां की सारी हलचल प्रत्यक्ष हो जाएगी।

जैसे अज्ञात देश को जाना जा सकता है वैसे ही अज्ञात काल को भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाना जा सकता है। अतीत की यात्रा भी हो सकती है और भविष्य की यात्रा भी हो सकती है। स्थूल पर्यायों की यात्रा भी हो सकती है और सूक्ष्म पर्यायों की यात्रा भी हो सकती है। देश-काल के परे भी जाना जा सकता है और देश-काल की दूरी को भी जाना जा सकता है। उसे समाप्त किया जा सकता है। इस प्रक्रिया से यह सब संभव है। अब यह व्यक्ति पर निर्भर होता है कि वह क्या साधना चाहता है? जो व्यक्ति अपने लक्ष्य को बहुत ऊंचा निर्धारित करता है वह नीचे की बातों में नहीं फंसता।

रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद से कहा—"तुम आर्थिक संकट में से गुजर रहे हो। मां काली के पास जाओ और प्रार्थना करो कि तुम्हारा आर्थिक संकट मिट जाए।" गुरु के आदेश को मानकर विवेकानन्द मां काली के समक्ष गए। हाथ जोड़े और कुछ बोलना चाहा। पर वे बोल नहीं सके। मां के ध्यान में लीन हो गए। प्रतिदिन ऐसा ही होता रहा। वे अपनी प्रार्थना कर ही नहीं पाए। एक बार रामकृष्ण ने पूछा—"क्या तुमने मां से प्रार्थना की?" विवेकानन्द ने कहा—"मैं प्रार्थना कर ही नहीं पाता। भला, अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए मां को कष्ट दूं? यह नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता।"

जो व्यक्ति परम की साधना में लग जाता है, वह आत्मा की साधना में लग जाता है, उसके लिए आत्मा ही ध्येय है, आत्म-साक्षात्कार ही उद्देश्य है। वह अपनी सारी ऊर्जा और प्राणशक्ति को एक ही दिशा में, आत्मा की खोज में, प्रवाहित कर देता है, बीच में नहीं रुकता। यह वास्तविकता है कि जो भी अध्यात्म योगी हुए हैं, आत्मा की खोज करने वाले हुए हैं, वे बहुत चामत्कारिक नहीं हुए हैं। चमत्कारों के जाल में वे कभी नहीं फंसे हैं। जो अध्यात्म योगी नहीं हुए हैं, इस मध्यवर्ती मार्ग में रहे हैं, इसकी यात्रा की है, वे चामत्कारिक हुए हैं। उनका ध्येय सिमटकर इतना-सा रह गया कि वे अनुग्रह और निग्रह की शक्ति को प्राप्त कर सकें। वरदान और शाप की शक्ति को करने में ही उन्होंने अपनी साधना नियोजित की। किसी का भला कर देना और किसी का बुरा कर देना—यही सफलता का मानदण्ड बन गया। ऐसे लोग सामान्य जनता में आतंक उत्पन्न कर देते हैं। भय से प्रताड़ित लोग ऐसे व्यक्तियों के भक्त बन जाते हैं। किन्तु यह सच है कि जिन्होंने चमत्कारों में पड़कर, प्रदर्शन को ही सब कुछ मान लिया, उन लोगों को दुःख का जीवन जीना होता है। वे व्यक्तिगत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में बहुत दुःखी होते हैं। ऐसे लोग अन्त समय में ऐसा कहते हुए सुने गए हैं—'कोई भी इस मार्ग को न अपनाए। यह निकृष्ट मार्ग है।'

हम सटोरियों को बहुत बार यह कहते हुए देखते हैं कि भाई! यदि कोई अपना भला चाहे तो वह सट्टे के व्यापार में न फंसे। यह खराब धन्धा है। कोई उन्हें पूछता है—"फिर आप क्यों करते हैं?" वे कहते हैं—"यह हमारी आदत की लाचारी है। हम तो फंस गए। दूसरे इसमें कभी न फंसें। यह बरबादी का मार्ग है। इस मार्ग में पड़कर कोई सुखी नहीं हुआ है।"

ठीक यही दशा उन लोगों की है जो तुच्छ शक्तियों के लिए अपनी मानसिक शक्ति नियोजित करते हैं। वे छोटी-छोटी सिद्धियों में उलझकर अपने महान् लक्ष्य को भुला बैठते हैं।

यह भी रुचि का प्रश्न है। कुछेक व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर चलने में रुचि रखते हैं और कुछ चामत्कारिक साधना को अपना ध्येय बनाते हैं। दोनों की दो दिशाएं हैं। एक दिशा मंजिल तक पहुंचाती है और एक दिशा भटकाती है। एक आत्मगामी दिशा है और एक अनात्मगामी। एक आन्तरिक यात्रा की दिशा है और एक बहिर् भटकाव की दिशा है। मन की शक्ति का जागरण दोनों दिशाओं में होता है। केवल अन्तर है—उस शक्ति के उपयोग का।

अध्यात्म की साधना परम की साधना है। उसमें मन की शक्ति का उपयोग अध्यात्म की दिशा में करना होता है। मन को निर्मल बनाना, आत्म-साक्षात्कार करना—यह सबसे बड़ा चमत्कार है। इससे बढ़कर दुनिया में कोई चमत्कार नहीं हो सकता। आत्म-साक्षात्कार से बड़ा उपक्रम कोई है ही नहीं। इससे बड़ी कोई उपलब्धि नहीं है। जो साधक परम को पकड़ लेता है वह तुच्छ में नहीं उलझता। जो अनन्यदर्शी है वह दूसरे को नहीं देखता, स्वयं को ही देखता है। जो अनन्यदर्शी है वह दूसरे में रमण नहीं करता, वह स्व में ही रमण करता है। जो अनन्यदर्शी होता है वह दूसरे को नहीं चाहता, परम को ही चाहता है। जो अनन्य में रमण करता है, दूसरे में रमण नहीं करता, वह अनन्य को देख लेता है। वह अनन्यदर्शी हो जाता है।

अनन्य का अर्थ है—आत्मा। अनन्यदर्शन की प्रक्रिया आत्मदर्शन की प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य है—केवल आत्मा को देखना, और किसी को नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखना। हमारा घोष है—आत्म के द्वारा आत्मा को देखें। श्वास को देखना भी आत्मा को देखना है, क्योंकि श्वास उसी का एक हिस्सा है। श्वास इसीलिए संचालित हो रहा है कि आत्मा उस पर छाया हुआ है। उस पर आत्मा का अनुग्रह बरस रहा है, इसीलिए वह श्वास है, प्राण है। आत्मा न हो तो श्वास होगा ही नहीं। शरीर को देखना, उसके सूक्ष्मतम स्पंदनों को देखना भी आत्मा को देखना है। शरीर के स्पंदन आत्मा से बने हुए हैं, इसीलिए हम शरीर के स्पंदनों को देखने को महत्त्व देते हैं। आत्मा को देखने के लिए हम इन सबको देख रहे हैं। जो अनन्यदर्शी होता है वह आत्मा के अतिरिक्त और किसी को नहीं देखता। जिस साधक में इतनी गहरी निष्ठा होती है वही उस परम को प्राप्त कर सकता है।

आत्मा को देखने के लिए मन की शक्ति का जागरण अत्यन्त अपेक्षित है। हमारा ध्येय स्पष्ट है, किन्तु उस ध्येय की पूर्ति के लिए मानसिक शक्ति का स्फोट आवश्यक है।

मन की शक्ति को शिथिलीकरण या पूर्ण विश्रान्ति के द्वारा जगाया जा सकता है। मनोगुप्ति, वाक्गुप्ति और कायगुप्ति के द्वारा उसे जगाया जा सकता है। डॉक्टर की भाषा में पूर्ण विश्राम का अर्थ होता है—बिस्तर पर लेटे रहना। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार उसका अर्थ है—मन, वाणी और शरीर—तीनों को सुला देना। जहां डॉक्टर केवल शरीर को सुलाता है, वहां अध्यात्म योगी तीनों को सुला देता है। डॉक्टर कभी-कभी वाणी को सुलाने की बात कहता है, मौन रहने की बात कहता है। पर मन को सुलाने की बात उसे प्राप्त भी नहीं है। अध्यात्म की साधना करने वाला साधक मन की गुप्ति को साधता है, वचन की गुप्ति को साधता है और शरीर की गुप्ति को साधता है। वह तीनों गुप्तियों से युक्त होकर अपनी सारी प्रवृत्तियों को सुला देता है।

चौथा महत्त्वपूर्ण तथ्य है—भावना। भावना का अभ्यास बहुत सूक्ष्म बात है। जब तक भावना का अभ्यास नहीं होगा, जब तक मन परम से भावित नहीं होगा, तब तक शक्तियों का विकास नहीं होगा। 'भाविअप्पा' भावितात्मा शब्द जैन आगमों का महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसके पीछे रहस्यमयी भावना छिपी हुई है। जो भावितात्मा होता है वह अपनी भावना के अनुसार काम करने में सक्षम होता है। भावना का अर्थ केवल कुछ सोच लेना मात्र नहीं है। उसका अर्थ है—हमारे ज्ञान-तन्तुओं को, कोशिकाओं को अपने वश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावना को अंकित कर देना।

हमारे शरीर में अरबों-खरबों न्यूरॉन हैं, जीवकोशिकाएं हैं। ये न्यूरॉन हमारी अनेक प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। ये नियामक हैं। जो संकल्प न्यूरॉन तक पहुंच जाता है वह सफल हो जाता है। न्यूरॉन बड़े-बड़े काम संपादित करते हैं।

इनकी कार्य-प्रणाली को समझना बहुत ही कठिन है अरबों-खरबों की संख्या में ये ज्ञान-तंतु हमारे मस्तिष्क में बिखरे पड़े हैं। इनका मन की शक्ति के जागरण में बहुत बड़ा उपयोग है।

प्राकृत चिकित्सा वाले कहते हैं कि कोष्ठबद्धता हो तो पहले स्थिर बैठकर ध्यानस्थ हो जाओ और ज्ञान-तंतुओं को सूचना दो कि शौच साफ हो रहा है, पेट साफ हो रहा है। ज्ञान-तंतु वैसा ही आचरण करने लग जाएंगे। मानसिक विकास के क्षेत्र में स्वतः सूचना या सूचनाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। सम्मोहन की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। इनकी पृष्ठभूमि में ज्ञान-तंतुओं का ही चमत्कार है। इन ज्ञान-तन्तुओं में विचित्र क्षमताएं हैं जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सम्मोहन का प्रयोग सूचना के आधार पर चलता है। सूचना के आधार पर शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार काम करने लग जाते हैं। जब सूचनाओं के आधार पर ज्ञान-तन्तु काम करने में तत्पर रहते हैं तब हम उनसे लाभ क्यों नहीं उठाएं? अपने-आप सूचना दें। पुराने को बदलने के लिए, नए को घटित करने के लिए सूचनाएं दें। उन तन्तुओं के साथ आत्मीयता स्थापित करें। आप जो होना चाहेंगे, वह अवस्था घटित होने लगेगी। परिणमन प्रारंभ हो जाएगा। मन की शक्ति का विकास होने लगेगा।

मन की शक्ति के जागरण की यह एक प्रक्रिया है। इसे हम समझें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २३

संकलिका

- मन की शक्ति जागे और द्वन्द्व-चेतना रहे, तब दुःख अधिक।
- द्वन्द्व-चेतना से तनाव। तनाव से मानसिक विकार और रोग।
- मानसिक चिकित्सा का मुख्य अंग है—तनाव का अल्पीकरण।
- समता के तेल में जागृति की बाती निरन्तर जले।
- द्वन्द्व-चेतना आवेग के लिए उर्वरा। सारी समस्याएं यहीं अंकुरित होती हैं। सारे दुःख यहीं पनपते हैं।

- **द्वन्द्वातीत चेतना की तीन प्रेरणाएं**
  1. मनुष्य दुःख और समस्या नहीं चाहता।
  2. मानव मस्तिष्क में भौतिकता के परे की चाह।
  3. स्वतन्त्रता की अनुभूति।
- द्वंद्वातीत चेतना का नाम है—सामायिक।
- अन्य चाहों से बड़ी चाह है—निर्द्वन्द्व चेतना की उपलब्धि करना।
- सामायिक के फलित।
  - मन की गति पर अंकुश।
  - समस्याओं की समाप्ति।
  - समस्यामुक्त, दुःखमुक्त जीवन का प्रारंभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक शक्ति और सामायिक

हमारा जीवन दो विपरीत दिशाओं में चल रहा है। एक है शक्ति की दिशा और दूसरी है शक्ति-शून्यता की दिशा। जब शक्ति जागृत नहीं होती तब अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और जब शक्ति जाग जाती है तब भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। शक्ति-शून्यता की अवस्था में आने वाली कठिनाइयां एक प्रकार की होती हैं और शक्ति-जागरण की अवस्था में आने वाली कठिनाइयां दूसरे प्रकार की होती हैं। शक्ति का न होना भी एक समस्या है और शक्ति का अधिक होना भी एक समस्या है। इन दोनों समस्याओं से हमें निपटना है।

शक्ति-जागरण के बाद यदि द्वंद्वातीत चेतना नहीं होती, सारी चेतना द्वन्द्व में बद्ध होती है, उस स्थिति में भयंकर समस्याओं का सामना करना पड़ता है। शक्ति के जागने के बाद उसे झेलने के लिए द्वंद्वों से अतीत चेतना आवश्यक होती है। उसके बिना जागी हुई शक्ति से अनर्थ घटित हो सकता है। भूतों को वश में करने वाले जानते हैं कि जब भूत जागते हैं तब बलि की मांग करते हैं उस समय भूत-साधक घबड़ा जाता है। यदि वह स्थिति को नहीं संभाल पाता तो जागा हुआ भूत उसे ही लील जाता है। यदि वह साधक भूत की मांग पूरी कर देता है तो वह भूत उसके वश में हो जाता है। यही बात शक्ति-जागरण में घटित होती है। शक्ति-जागरण हो जाने पर जो साधक जागृत शक्ति की मांगें पूरी कर देता है तब तो वह शक्ति उसके लिए बहुत उपयोगी हो जाती है। यदि वह उसकी मांगें पूरी नहीं कर पाता तब वह जागी हुई शक्ति उसी को ग्रसित कर जाती है। साधक के लिए वह शाप बन जाती है। द्वंद्व-चेतना जब तक विद्यमान रहती है तब तक मनुष्य को जो चाहिए वह उपलब्ध नहीं कर सकता। शक्ति तो बहुत जाग गयी किन्तु यदि साधक द्वंद्व की चेतना में ही है तो वह हर्ष और शोक के झूले में झूलता रहेगा। हर्ष होगा तो भी तीव्र होगा और शोक होगा तो भी तीव्र होगा। शक्ति-जागरण के कारण भिन्नता आएगी, किन्तु वह साधक हर्ष और शोक के परे की स्थिति में नहीं जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाएगा। वह दोनों के बीच में रहेगा। कभी हर्ष और कभी शोक—इसी घेरे में बंधा रहेगा। वह कभी रुष्ट होगा और कभी तुष्ट, कभी राजी और कभी नाराज। यह स्थिति बराबर बनी रहेगी। उसे एक ओर यह निराशा सताएगी कि मैं इतना शक्तिशाली हो गया, फिर भी मैं इतना अशान्त, उद्विग्न और प्रताणित हूं, इतनी समस्याओं से घिरा हुआ हूं। यह तथ्य उसे कचोटने लगेगा। कमजोर आदमी तो समझता है कि मैं दुर्बल हूं इसीलिए सतत सताया जा रहा हूं। इतना सोचकर वह संतोष कर लेगा। किन्तु शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। एक ओर उसे शक्ति का दर्प सताता है और दूसरी ओर यह विचार सताता है कि मैं जो चाहता हूं वह नहीं हो रहा है।

केवल शक्ति से ही सब कुछ नहीं होता। यह समन्वय का संसार है। किसी एक तत्त्व से कुछ नहीं होता। प्रकृति के सारे तत्त्वों में ऐसा सामंजस्य और संतुलन है कि अनेक मिलते हैं तभी एक घटना घटित होती है। एक से कोई घटना घटित नहीं होती। यह संसार सहयोग और समवाय का संसार है। सब समवेत हों तो एक कार्य बन जाता है। केवल शक्ति से कुछ नहीं होता।

आनन्दमय जीवन के लिए चार तथ्य अपेक्षित होते हैं। जब वे चारों तथ्य समन्वित होते हैं तब पूर्ण जीवन जीया जा सकता है। वह जीवन जिसमें कोई कमी खलती नहीं, कोई अशांति और बेचैनी नहीं। वे चार तथ्य हैं—ज्ञान, दर्शन, वीतरागता और शक्ति। जब इन चारों का अवतरण एक साथ होता है तब व्यक्ति में पूर्णता आती है। ऐसी स्थिति में न शक्ति-शून्यता का अनुभव होता है, न अशांति और उद्वेग का अनुभव होता है और न अनुभव होता है कि जीवन में कोई खालीपन है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन सरिता की भांति प्रवहमान है, जिसके दोनों तटबन्ध व्यवस्थित हैं, जिसमे जीवन-धारा निर्बाध गति से प्रवाहित हो रही है। यह सब होता है समन्वित के द्वारा। एक से कुछ नहीं होता। हम एक की ही उपासना न करें। हम केवल शक्ति के, केवल चेतना के या केवल वीतरागता के उपासक न बनें। हम केवल ज्ञान के, केवल दर्शन के केवल पवित्रता के और केवल शक्ति के ही उपासक न बनें। हम चारों के उपासक बनें। हम यह मानकर चलें कि वीतरागता होगी तो चेतना का जागरण होगा, चेतना का जागरण होगा तो शक्ति का संवर्धन होगा; शक्ति का जागरण होगा तो वीतरागता का जागरण होगा। चारों साथ-साथ जागेंगे। ज्ञान, दर्शन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतरागता और शक्ति—ये चारों जागेंगे तब व्यक्तित्व का पूरा विकास होगा। सारा जीवन खिल उठेगा। चारों साथ-साथ नहीं जागेंगे तब व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं होगा। एक दिशा में होने वाला विकास कभी इष्ट नहीं होता। जब फैलाव चारों दिशाओं में होता है तब वह इष्ट होता है। शक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है। हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु यदि केवल शक्ति का ही विकास होता है, द्वन्द्वातीत चेतना का विकास नहीं होता है तो वह शक्ति लाभदायक नहीं होती। वह शक्ति द्वन्द्व को ही बढ़ायेगी, घटायेगी नहीं। द्वन्द्व-चेतना तनाव पैदा करती है। द्वन्द्व-चेतना आवेगों के लिए उर्वरक भूमि है, जहां सारे आवेग अंकुरित होते हैं। जितनी उत्तेजनाएं हैं। वे सारी तनाव की स्थिति में पैदा होती हैं। जब व्यक्ति में तनाव नहीं होता तब आवेग नहीं आ सकता, उत्तेजना नहीं आ सकती, वासना का उभार नहीं हो सकता। ये सब तब आते हैं जब तनाव की स्थिति होती है। तनाव इसका जनक है। प्रत्येक संस्कार पहले तनाव पैदा करता है। तनाव पैदा किए बिना कोई भी संस्कार नहीं उभरता।

द्वन्द्व-चेतना तनाव उत्पन्न करती है। जब तनाव होता है तब मानसिक रोग और मानसिक विकास उभरते हैं। उस समय व्यक्ति को यह नहीं लगता कि बहुत बड़ा अनर्थ हो रहा है। अनर्थ जैसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता। किन्तु वे धीरे-धीरे संचित होते जाते हैं और एक बिन्दु ऐसा आता है कि वह मानसिक विकार मानसिक पागलपन के रूप में बदल जाता है। पागलपन की स्थिति आ जाती है। वर्तमान जगत् में मानसिक विकारों और मानसिक उन्मादों की जितनी भयंकर स्थिति है, संभवतः अतीत में वैसी नहीं रही होगी। आज मानसिक विकारों और मानसिक पागलपन को बढ़ाने के के लिए बहुत अवकाश है, सुविधाएं हैं। ऐसी स्थिति है कि आदमी का पागलपन बहुत बढ़ सकता है, मानसिक विकार बहुत बढ़ सकते हैं। इनके लिए वातावरण अनुकूल है। आज मानसिक विकार इतने बढ़ गए हैं कि उनका समाधान नहीं हो रहा है। उनकी चिकित्सा असंभव-सी प्रतीत हो रही है।

आज की साइको-सोमेटिक पद्धति के द्वारा एक बात प्रतिपादित हुई है कि जो बहुत सारी शारीरिक बीमारियां समझी जाती हैं, वे वास्तव में मनोकयिक बीमारियां हैं, मन और शरीर से संबंधित बीमारियां हैं। वे केवल शारीरिक बीमारियां नहीं हैं। वे पहले मन में जन्म लेती हैं और फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर में अभिव्यक्त होती हैं। उनका मूल कारण शरीर नहीं है। उनका मूल कारण है मन। इस खोज के पश्चात् यह समस्या और अधिक गंभीर हो गयी कि हर बीमारी के मूल में मानसिक विकृति की खोज होनी चाहिए।

इस स्थिति में एक ज्वलंत प्रश्न है कि इतने मानसिक रोग हैं तो उनका उपचार कैसे किया जाए? बहुत बड़ा प्रश्न है। मनोचिकित्सक मानसिक रोगों का उपचार कर रहे हैं। उनके सामने अनेक पद्धतियां हैं। बिजली के झटके देकर तनाव की चिकित्सा करते हैं। लगातार निद्रा दिलाते हैं। ऐसी दवा इंजेक्ट करते हैं जिससे रोगी चौबीस घंटे तक निद्रा में रहे। अर्द्ध निद्रा भी दिलाते हैं। कुछ ऐसी दवाइयां देते हैं जिनसे रोगी आधी नींद में रहता है। मस्तिष्क में करेंट का निरंतर प्रयोग किया जाता है। तनाव-विसर्जन में ये उपाय उपयोगी माने जाते हैं। इस प्रकार चिकित्सा की अनेक पद्धतियां हैं। उन सारी पद्धतियों से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि रोग-निवारण के लिए औषधि का प्रयोग होता है या विद्युत् का प्रयोग होता है। सबका प्रयोजन है मस्तिष्क को आराम देना, विचारों और विकल्पों की उधेड़बुन को समाप्त करना। जो विचार निरंतर उभर रहे हैं। उनका शमन करना, नींद लाना, बेहोशी लाना—ये सब स्मृति को खोने के लिए किए जाते हैं। क्या इनके दुष्परिणाम नहीं होते? आज का चिकित्सक यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि आज जो औषधियां दी जाती हैं, वे प्रतिक्रिया पैदा करती हैं, शरीर में क्षति पैदा करती हैं। और भी अनेक मानसिक समस्याएं पैदा होती हैं, ये चिकित्सा-पद्धतियां पूर्ण निर्दोष नहीं हैं। चिकित्सा हो पर प्रतिक्रिया पैदा न हो, ऐसा इन चिकित्सा-पद्धतियों में नहीं है।

इस मानसिक तनाव की स्थिति में हम प्रेक्षा-ध्यान प्रणाली पर विचार करें। जो कार्य औषधियां और विद्युत् से संपन्न होता है क्या वह कार्य-प्रेक्षा-ध्यान से संभव है? इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में दिया जा सकता है। प्रेक्षा-ध्यान के अन्तर्गत हम जो छोटे-छोटे प्रयोग करते हैं, वे इस संदर्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। जो काम औषधियां नहीं कर पातीं वह काम ध्यान के ये छोटे-छोटे अभ्यास कर देते हैं। प्रश्न है मस्तिष्क को विश्राम देना। प्रश्न है विचारों की उधेड़बुन को समाप्त करना। कायोत्सर्ग से जितना विश्राम मस्तिष्क को मिलता है, स्नायु-संस्थान को जितना आराम मिलता है उतना विश्राम किसी दूसरी प्रणाली से नहीं मिलता। न औषधियां और न विद्युत् ही उतना आराम दे पाते हैं। इनकी अपेक्षा ही नहीं होती. विचारों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उधेड़बुन भी ध्यान से समाप्त हो जाती है।

प्रेक्षा-ध्यान में शरीर और श्वास की प्रेक्षा की जाती है। जब मन शरीर की प्रेक्षा में लग जाता है तब बाहरी विकल्प समाप्त हो जाते हैं। यदि हम दिन में आधा घंटा भी विकल्पशून्य रह सकते हैं, विचारों की उधेड़-बुन से छुट्टी पा सकते हैं तो समूचे दिन की क्रिया संपन्न हो जाती है, फिर और कुछ करने की जरूरत ही नहीं होती। प्रेक्षा से बड़ी-बड़ी उपलब्धियां भी संभव हो सकती हैं।

भरत चक्रवर्ती ने प्रेक्षा के द्वारा बहुत बड़ी उपलब्धि प्राप्त की। एक दिन वे स्नानगृह में गए। स्नान से निवृत्त होकर वस्त्र धारण कर बाहर आए। अपने आदर्शगृह (कांचघर) में गए। आदर्शगृह वह होता है जिसमें सब कुछ प्रतिबिम्बित हो सकता है। वहां जाकर वे बैठ गए। चारों ओर उनके प्रतिबिम्बि दीखने लगे। एक प्रतिबिम्ब पर उनका ध्यान अटका। वे उसे अनिमेष दृष्टि से देखने लगे। अनिमेष प्रेक्षा प्रारंभ हो गयी। भरत अपने ही प्रतिबिम्ब में खो गए। स्थूल शरीर की प्रेक्षा करते-करते वे सूक्ष्म शरीर की प्रेक्षा करने लगे। सबसे ज्यादा सूक्ष्म शरीर है कर्म-शरीर। वे कर्मों के विपाक की प्रेक्षा करने लगे। वहां घटित होने वाली सूक्ष्मतम अवस्थाओं को वे देखने लगे। असंख्य और अनन्त अवस्थाएं। सारे पर्याय सामने आने लगे। सारा नया ही नया। नया संसार दृष्टिगोचर होने लगा। अनिमेष दृष्टि। आंखें प्रतिबिम्ब पर टिकी हुई हैं और वे सूक्ष्मतम पर्यायों का अवलोकन कर रही हैं। शरीर की प्रेक्षा करते-करते शुभ परिणाम आए। शुभ अध्यवसाय और लेश्या बढ़ती गयी। एक बिन्दु ऐसा आया कि समग्र चेतना निरावृत हो गयी। आवरण हट गया। सारे बंधन टूट गए। पूर्ण चेतना प्रकट हो गयी। वे केवलज्ञान और केवलदर्शन को उपलब्ध हो गए। अब भरत चक्रवर्ती समाप्त हो गए। नए धर्म चक्रवर्ती का जन्म हो गया। आदर्शगृह में बैठे-बैठे, इस शरीर-प्रेक्षा के द्वारा उन्होंने उच्चतम उपलब्धि प्राप्त कर ली।

परंपरा के अनुसार भरत के इस कथानक में कुछ भेद है। अंगुली से अंगूठी के गिर जाने पर भरत चक्रवर्ती अनित्य भावना में आरूढ़ होते हैं और भावना के प्रकर्ष में केवलज्ञानी बन जाते हैं। यह परंपरागत कथानक है। किन्तु जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में 'अत्ताणं पेहेमाणे' का स्पष्ट पाठ है। वे शरीर को देखते-देखते, अपने शरीर की प्रेक्षा करते-करते इतने गहरे चले गए कि अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणा के स्कंधों को चीरकर पूर्ण चेतना, केवल चेतना के साम्राज्य में प्रवेश पा लिया। वहां जाते ही जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गया।

शरीर-प्रेक्षा का इतिहास बहुत पुराना है। यह इतिहास उस आदि युग से जुड़ जाता है जो धर्म का प्रारंभिक युग था। प्रेक्षा-ध्यान की परंपरा नयी नहीं है। हां, वह विस्मृत कर दी गयी थी। उसका आज पुनः उद्धार हो रहा है।

दुनिया में नया कुछ भी नहीं होता। जो बहुत पुराना हो जाता है, उसी का नाम होता है नया। एक बात प्रारंभ होती है। फिर वह विस्मृत हो जाती है। अतीत का अन्तराल बढ़ जाता है। फिर जब वह सामने आता है तब लोग उसे नया कहते हैं।

प्रेक्षा का पहला प्रयोग भरत चक्रवर्ती ने किया था, यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है। इतने युगों तक यह विस्मृत रही। आज उसकी बात फिर चालू हो रही है। यह ध्यान की सरल पद्धति है। जो साधना-पद्धिति कठिन होती है, वह कभी मान्य नहीं होती। मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह कभी कठोर बात को सहसा स्वीकार नहीं करती। वह सरलतम मार्ग को स्वीकार करती है। प्रेक्षा की पद्धति सरलतम मार्ग है।

प्रेक्षा-ध्यान से समभाव फलित होता है, द्वंद्वातीत चेतना का उदय होता है। ऐसी तटस्थता, ऐसी समता, ऐसी द्वन्दातीत चेतना जहां चेतना के दोनों आयाम समाप्त हो जाते हैं और तीसरा आयाम खुल जाता है—वह है समभाव। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि जितने द्वंद्व हैं, जो हमारे मन को विचलित करते हैं, जो हमारे मन को विकृत और रुग्ण बनाते हैं, वे सारे समाप्त हो जाते हैं।

सचाई यह है कि सारे दुःख द्वंद्व की चेतना से प्रसूत हैं। एक अपना प्रिय पुत्र है। वह व्यापार करता है, किन्तु लाभ नहीं कमा पाता। पिता के मन में ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि पुत्र की प्रियता उस प्रतिक्रिया के नीचे दब जाती है और पिता का मन आक्रोश से भर जाता है। ऐसी कटुता पैदा हो जाती है कि जीवनभर के लिए पिता-पुत्र का संबंध-विच्छेद हो जाता है। यह कटुता क्यों? यह प्रियता का विलोप क्यों? यह सारा होता है द्वन्द्व-चेतना के द्वारा। इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। यदि बेटा बहुत धन कमाकर देता है तो पिता उसे सिर पर रख लेते हैं। तीन बेटे हैं। एक खूब धन कमाता है, दो नहीं कमाते। पिता की सारी प्रियता उस कमाऊ बेटे की ओर प्रवाहित होने लग जाती है। दोनों बेटे अप्रिय बन जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहीं से अलगाव का सिलसिला चालू हो जाता है। यह सब द्वन्द्वात्मक चेतना से होता है।

द्वन्द्व-चेतना समस्याओं की जननी है। वहां सभी प्रकार की समस्याएं उभरती हैं। उनका कहीं अन्त नहीं आता। जब तक द्वन्द्व-चेतना है तब तक चाहे ज्ञान की शक्ति का उपयोग किया जाए, दर्शन की शक्ति का उपयोग किया जाए, शुद्ध शक्ति का उपयोग किया जाए, ये तीनों एक ओर खड़े हैं और एक ओर मूर्च्छा की चेतना, मूर्च्छा की शक्ति खड़ी है, तो वे तीनों कार्य-कर नहीं होते। मूर्च्छा उत्पादक केन्द्र है। वह आवेग को उत्पन्न करती है, द्वंद्व को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में तीनों के होने पर भी दुःख समाप्त नहीं होता। यदि दुःख को समाप्त करना है तो द्वंद्व-चेतना को समाप्त करना होगा।

कोई भी मनुष्य समस्या नहीं चाहता, दुःख नहीं चाहता। यही एक प्रेरणा है द्वन्द्व-चेतना को समाप्त करने की। यहां एक व्याप्ति बनती है। जब तक द्वंद्व-चेतना होगी तब तक दुःख निश्चित ही होंगे। उनका कभी अन्त नहीं होगा। द्वंद्व-चेतना का होना ही दुःख का होना और द्वंद्व-चेतना का नहीं होना ही दुःख का नहीं होना है। समस्याओं और दुःखों से छुट्टी पाने का एक ही उपाय है और वह है द्वंद्व-चेतना का समापन।

द्वंद्व-चेतना के समापन का एक और हेतु है। वह यह है कि मानव मस्तिष्क में अभौतिकता की एक चाह निरंतर बनी रहती है। यह मनुष्य की प्रकृति है। मनुष्य की इस प्रकृति का बोध उन लोगों को नहीं होता जो अभाव से ग्रस्त होते हैं। जिन्हें भौतिक पदार्थ उपलब्ध नहीं होते, उन मनुष्यों को इस सचाई का बोध नहीं होता क्योंकि उनकी सारी ऊर्जा पदार्थों की ओर ही प्रवाहित होती है। किन्तु जो लोग पदार्थों को उपलब्ध हो चुके हैं, जिन्हें भौतिक पदार्थों की कोई चाह नहीं है, उनको यह बोध होता है कि मनुष्य में एक ऐसी अमिट चाह है जो उन भौतिक पदार्थों से भी परे है। वह जान जाता है कि ऐसी चीज भी है जो इन पदार्थों से परे है। यदि भौतिक पदार्थों की संपन्नता शिखर पर पहुंच जाए और आदमी पूरा संतुष्ट हो जाए, तब तो कथा समाप्त। कोई खोज की जरूरत ही नहीं। किन्तु शिखर पर पहुंचने पर तो ऐसा लगता है कि मानो एक नयी तलहटी पर पहुंच गए हैं। दुःखों की नयी तलहटी उनके सामने आ गयी है। तब लगता है, कुछ और होना चाहिए जो पूर्णता दे सके। ये भौतिक पदार्थ पूर्णता नहीं दे पा रहे हैं। उस स्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में द्वंद्वातीत चेतना की खोज प्रारंभ होती है और मनुष्य सोचते हैं कि द्वंद्व-चेतना के परे भी कोई निर्द्वंद्व चेतना हो जो मनुष्य को पूर्णता दे सके, अपूर्णता समाप्त कर सके। यह अभौतिकता की चाह जो अन्तर में होती है, उसे समझाने का मौका मिल जाता है।

प्रत्येक शरीर के चारों ओर एक आभामंडल होता है। आभामंडल निर्जीव वस्तु में भी होता है। एक सिद्धांत है कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ से रश्मियां विकीर्ण होती हैं, रश्मियों का उत्सर्जन होता है। यही फोटोग्राफी का सिद्धांत है। मनुष्य के चले जाने पर भी, उस स्थान पर उस मनुष्य का फोटो लिया जा सकता है। वह फोटो इसीलिए लिया जा सकता है कि शरीर के चारों ओर से रश्मियां विकीर्ण होती हैं। आभामंडल को हम देख नहीं पाते, किन्तु उसको देखने की भी एक पद्धति है। आप अन्धेरे में बैठ जाएं। कहीं से प्रकाश की रेखा न आए। अपने हाथ को ऊंचा करें। थोड़े समय तक वैसे ही बैठे रहें। आपको हाथ तो दिखाई नहीं देगा, किन्तु हाथ के आसपास चारों ओर जो आभामंडल होता है वह दीखने लग जाएगा। दोनों हाथों को ऊंचा करेंगे तो यह लगेगा कि एक हाथ की रश्मियां दूसरे हाथ में जा रही हैं और दूसरे हाथ की रश्मियां पहले हाथ में आ रही हैं।

एक और प्रसिद्ध पद्धति है। दो व्यक्ति दस हाथ की दूरी पर अन्धेरे में बैठ जाएं। वे एक-दूसरे को दिखायी नहीं देंगे। वे यदि नग्न हों तो उनका आभामंडल स्पष्टता से दिखाई देने लगेगा। देखते-देखते कुछ समय के पश्चात् एक नीले रंग का आकार सामने दीखने लगता है। जो चीज प्रकाश में दिखायी नहीं देती वह अन्धेरे में दीखने लग जाती है।

अभौतिक सत्ता की चाह, चेतन तत्त्व की चाह जिसका हमें जीवन की चका-चौंध में, अन्धेरे में पता ही नहीं लगता था, किन्तु जहां भौतिक पदार्थों का सेवन करते-करते जीवन में घोर अन्धेरा छा जाता है तब पता चलता है कि भीतर में एक और भी चाह है जो इन चाहों से बहुत बड़ी चाह है। वह चाह ही इस सचाई को प्रकट करती है कि द्वंद्व-चेतना से परे भी मनुष्य निर्द्वंद्व-चेतना को चाहता है। इस द्वंद्वातीत चेतना का नाम है—सामायिक। इस सामायिक के घटित होने पर, मन की गति पर एक अंकुश लग जाता है। मन की गति पर अंकुश होता है तब समस्याएं समाप्त होने लगती हैं। उस स्थिति में समस्यामुक्त, दुःखमुक्त जीवन का अभ्यास प्रारंभ हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २४

संकलिका

- जब द्वन्द्व के आघात से चेतन सत्ता के साक्षात् की भावना और स्व-तन्त्रता की अनुभूति जागती है तब आत्मिक उन्मेष घटित होता है। यही है—सामायिक।
- जितना आत्मा का अनुभव उतना ही समभाव।
- ध्यान और ध्येय के बीच की दूरी जितनी अधिक उतने ही विकल्प अधिक, जितनी दूरी कम उतने ही विकल्प कम। दूरी समाप्त, विकल्प समाप्त।
- हमारा परिणमनात्मक अस्तित्व। इस प्रक्रिया से हम तन्मय या तद्-रूप हो, हम वही हो जाते हैं जैसा हमारा ध्येय होता है।
- अज्ञान + शक्ति = अश्रेयस् की यात्रा।
  ज्ञान + शक्ति = श्रेयस् की यात्रा।
- 'बनने' के चार स्तंभ—
  - कल्पनाशक्ति
  - संकल्पशक्ति
  - एकाग्रता की शक्ति।
  - तन्मयता की शक्ति।
- मन की दो भूमिकाएं—
  - व्यग्रता
  - एकाग्रता।
- कर्म-शरीर महाप्रपात है, शेष सारे छोटे-छोटे प्रपात हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति की श्रेयस् यात्रा

मन की शक्ति का जागरण जीवन की एक महत्त्वपूर्ण यात्रा है। जिसके चरण इस यात्रा में आगे नहीं बढ़ते, वह कुछ भी करने में सक्षम नहीं होता। अक्षम व्यक्ति दरिद्र होगा। उसकी दीनता कभी समाप्त नहीं होगी। वह जीवन-भर दया का पात्र बना रहेगा। इस दुनिया में अच्छा या बुरा जो कुछ हुआ है वह समर्थ व्यक्ति के द्वारा ही हुआ है। अशक्त व्यक्ति ने कुछ भी नहीं किया। उसने कुछ बुरा भी नहीं किया और कुछ अच्छा भी नहीं किया। शक्ति-संपन्नता जीवन की सफलता का पहला चिह्न है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। केवल शक्तिशाली होना ही पर्याप्त नहीं है। पर्याप्तता के लिए कुछ और भी होना आवश्यक है। शक्तिशाली व्यक्ति यदि ज्ञानी होता है तो जीवन की पर्याप्तता हो जाती है। शक्ति भी है, ज्ञान भी है। वह पुरुष शक्ति-संपन्न भी है और ज्ञान-संपन्न भी है। व्यक्ति शक्तिशाली है और अज्ञानी है तो शक्ति का दुरुपयोग होगा, शक्ति की अश्रेयस् यात्रा शुरू हो जाएगी। शक्तिशाली पुरुष यदि ज्ञानी होता है तो जीवन की यात्रा श्रेयसोन्मुख हो जाती है। जब शक्ति और ज्ञान के सहयोग से श्रेयस् की यात्रा प्रारम्भ होती है तब व्यक्ति की सारी जीवन धारा बदल जाती है।

एक मनुष्य शक्ति-संपन्न है किन्तु वह ज्ञान-संपन्न नहीं है तो वह दूसरों उत्पीड़न करेगा। तथ्य यह है कि वह स्वयं का भी उत्पीड़न करेगा। वह दूसरों को अयथार्थ की यात्रा पर ले जाएगा। दूसरों को ही नहीं, वह स्वयं अयथार्थ की यात्रा पर चल पड़ेगा। वह अनात्म की ओर बढ़ेगा। वह दूसरों को ठगेगा। साथ-साथ स्वयं को भी ठगेगा। उसकी सारी यात्रा अश्रेयस् की यात्रा होती है, अकल्याण की यात्रा होती है। किन्तु जब ज्ञान और शक्ति—दोनों एक साथ घटित होते हैं तब व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ, सारा पराक्रम श्रेयस् में लग जाता है। उसकी समूची यात्रा श्रेयस् की, कल्याण की ओर होती है। वह स्वयं को जानने का प्रयत्न करता है, स्वयं को पाने का प्रयत्न करता है। और जब व्यक्ति स्वयं को जानने और पाने का प्रयत्न करता है तब वह दूसरों के लिए अहितकर, अकल्याणकर या अश्रेयकर नहीं होता। वह ऐसा हो ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सकता। हजार प्रयत्न करने पर या हजार परिस्थितियों के आने पर भी वह अनिष्ट, अहित या अश्रेयस् नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अपने-आपको देखना या जानना प्रारंभ कर लेता है, उसे इतनी बड़ी सचाई उपलब्ध हो जाती है, मूर्च्छा के सारे वलय इस प्रकार टूट जाते हैं कि वह फिर मूर्च्छा के चक्रवात में नहीं फंसता। वह मूर्च्छा से चालित नहीं होता। आज तक वह उस बिन्दु से प्रेरित होता रहा है जिसकी आदि नहीं खोजी जा सकती है। वह उस मूर्च्छा के थपेड़ों से प्रताड़ित होता रहा है जिससे छूटने का प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाया है। किन्तु जब स्वयं को जानने-देखने की अभीप्सा तीव्र होती है तब ऐसा बिन्दु आता है कि मूर्च्छा का वलय टूटने लगता है, मूर्च्छा की तन्द्रा समाप्त होती है और आदमी जाग जाता है। जागरण की अवस्था में कुछ विचित्र-सा घटित होता है।

एक व्यक्ति में जब जागरण घटित हो गया तब उसने कहा—

"बन्धो ! क्रोध ! विधेहि किञ्चिदपरं स्वस्याधिवासास्पदं,
भ्रातर् ! मान ! भवानपि प्रचलतु, त्वं देवि ! माये ! व्रज ।
हंहो ! लोभ ! सखे ! यथाभिलषित गच्छ द्रुतं वश्यतां,
नीतः शान्तरसस्य सम्प्रति लसद्वाचा गरूणामहम ।।

—"भाई क्रोध ! अब तुम अपना दूसरा ठिकाना खोज लो। इस स्थान में तुम्हें अब अवकाश नहीं है।" क्रोध ने सोचा—'यह क्या ? यह कैसा पागल है ? हम अनन्त काल से साथ रह रहे हैं, आज अचानक मुझे बाहर ढकेल रहा है। यह क्या हो गया ?' साधक ने मान को सम्बोधित कर कहा—"भाई मान ! तुम भी चले जाओ। हे देवी माया ! अब तुम्हारा यहां कोई काम नहीं है। तुम भी चली जाओ।" सबने सोचा, शायद साधक पागल हो गया है, अन्यथा वह अपने जीवन-साथियों को चले जाने के लिए क्यों कहता ? हमने कभी यह सोचा भी नहीं था कि इससे बिछुड़ना पड़ेगा। यह हमें इस प्रकार चुनौति देगा, यह हमारे समझ से परे की बात थी। इतने में साधक ने कहा—"अरे भाई लोभ ! तुम भी अपना स्थान खाली करो। यहां से जहां चाहो वहां चले जाओ।" क्रोध, मान, माया और लोभ चारों असमंजस में पड़ गए। उन्होंने कहा—"हम सदा से तुम्हारे साथ रहे हैं। एक क्षण के लिए भी हमने तुम्हारा साथ नहीं छोड़ा। तुम्हारे सुख में भी हम साथ रहे और दुःख में भी हमने तुम्हारा साथ निभाया। आज तुम हमें छोड़ रहे हो, यह अन्याय है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक ने कहा—"जब मैं सोया था तब तुम जागते थे। जब तक मैं सोता रहा, तुम मेरे में बने रहे। आज मैं जाग गया हूं। मेरी मूर्च्छा टूट गयी है। ऐसी कोई अमृत-वर्षा हो रही है जिसमें मैं आकण्ठ मग्न हूं। मैं जागूंगा तब तुम नहीं रह पाओगे। मैं सोया रहता हूं तब ही तुम कुछ कर पाते हो। जागने के बाद तुम अकिञ्चित्कर हो जाते हो। मालिक सोता है तब घर में चोर घुस जाते हैं, घर में रह सकते हैं, किन्तु जब मालिक जाग जाता है तब चोर घर में नहीं रह सकते।"

जीवन में जब कोई आत्मिक उन्मेष जागता है, आध्यात्मिक घटना घटित होती है तब सारी दिशा बदल जाती है और सारी शक्ति श्रेयस् की दिशा में प्रवाहित होने लग जाती है। यह आत्मिक उन्मेष ही सामायिक है। यह जागना ही सामायिक है। सामायिक, समता, साम्य तब घटित होता है जब स्वानुभव का एक लव भी जागृत हो जाता है। जब तक स्व का अनुभव नहीं होता, आत्मा का अनुभव नहीं होता, आत्मा का उन्मेष नहीं जागता, तब तक जीवन में सामायिक घटित नहीं होता, कुछ भी श्रेयस् घटित नहीं होता।

सामायिक और चैतन्य का अनुभव—दोनों साथ में जुड़े हुए हैं। जितना-जितना चैतन्य का अनुभव उतना-उतना सामायिक। ऐसे भी कहा जा सकता है—जितना-जितना सामायिक, उतना-उतना चैतन्य का अनुभव, स्व का अनुभव या आत्मा का अनुभव। परानुभव और स्वानुभव—ये दो विरोधी दिशाएं हैं। ये कभी मिलने वाली नहीं हैं। परानुभव भी चलता रहे और स्वानुभव भी होता रहे, यह कभी संभव नहीं है। दो समानान्तर रेखाएं कभी नहीं मिलतीं। परानुभव और स्वानुभव दो समानान्तर रेखाएं हैं। परानुभव और सामायिक साथ-साथ भले ही चलें, पर वे परस्पर कभी नहीं मिल सकते।

जब आत्मा का अनुभव जागता है तब व्यक्ति कहता है—"करेमि भंते! सामाइयं—भगवन् मैं सामायिक करता हूं।" सामायिक करने की भावना तब जागती है जब स्वानुभव का उन्मेष होता है। सामायिक के लिए यह बहुत ही जरूरी है कि उसे सान्निध्य मिले।

उन्मेष और निमेष—दोनों का क्रम सतत चलता रहता है। तरंगे उठती हैं। तरंगें गिरती हैं। तरंगों का उन्मेष होता है। तरंगों का निमेष होता है। पलकें खुलती हैं। पलकें गिरती हैं। पलकों का उन्मेष होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पलकों का निमेष होता है। यह उन्मेष और निमेष का चक्र चलता रहता है।

आत्मिक उन्मेष जागा, किन्तु वह स्थायी कैसे हो, यह महत्त्वपूर्ण बात है। जो ज्योति जली, वह अखंड ज्योति कैसे बने, शाश्वत ज्योति कैसे बने, उसमें निमेष आए ही नहीं, सदा उन्मेष ही रहे, यह कैसे संभव हो सकता है? इसके लिए सान्निध्य की जरूरत है। इसके लिए मन की शक्तियों का प्रयोग और संकल्प-शक्ति जरूरी है।

सबसे पहली बात है सान्निध्य की। कोई व्यक्ति समता की यात्रा प्रारंभ करता है, यह अनजानी यात्रा है, अज्ञान यात्रा है। यह वह मार्ग है जिस पर वह पहले कभी चला नहीं है। यह वह दिशा है जिस दिशा में पैर कभी आगे नहीं बढ़े हैं। सारा अज्ञात ही अज्ञात। अज्ञात मार्ग में, अज्ञात दिशा में सहारा अपेक्षित होता है। अन्यथा व्यक्ति भटक जाता है। जहाजों के लिए भी दिशा-निर्देश यंत्र की आवश्यकता होती है, जो दिशा का ठीक निर्देश दे सके। इसी प्रकार इस अज्ञात यात्रा में किसी-न-किसी व्यापक या गमक साधन की जरूरत होती है, जिससे ठीक दिशा का पता लग सके और सही दिशा में यात्रा हो सके। अध्यात्म के इस अनजाने मार्ग पर पादन्यास करने से पूर्व साधक सान्निध्य की याचना करता है। वह कहता है—"करेमि भंते! सामाइयं—भगवन्! मैं सामायिक में उपस्थित हो रहा हूं, मैं सामायिक कर रहा हूं, आपकी सन्निधि मुझे प्राप्त हो, आपका सान्निध्य मुझे प्राप्त हो। मैं आपकी साक्षी से इस मार्ग पर चल पड़ा हूं।"

वह सामायिक करता है भगवान् की साक्षी से। वह पहले सान्निध्य को अपने में उतारता है। वह उस आत्मा के सान्निध्य को उपलब्ध होता है जिस आत्मा ने सामायिक के चरम शिखर पर पहुंचकर सामायिक के उत्कर्ष को प्राप्त कर लिया है। ऐसे सान्निध्य को प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं होता जिसने स्वयं सामायिक का अभ्यास नहीं किया है। ऐसा सान्निध्य और अधिक असामायिक की ओर ले जाएगा। सान्निध्य का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। कोई एक व्यक्ति सामायिक के पथ पर चल रहा है और उसे सान्निध्य मिलता है असामायिक की ओर ले जाने वाले व्यक्ति का, विषमता की ओर ले जाने वाले व्यक्ति का तो रास्ता छूट जाएगा और व्यक्ति भटक जाएगा। वह कहेगा—"कहां जा रहे हो? हिंसा और उत्पीड़न किए बिना रोटी कमाकर कैसे खा सकोगे? क्या बिना पैसे के बाल-बच्चों को पढ़ा पाओगे? क्या रहने के लिए मकान बना पाओगे? क्या आधुनिक सुख-सुविधाओं का उपभोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकोगे ? तुम कहां भटक गए ? यह सामायिक का रास्ता गलत है।" यह व्यक्ति ऐसा भटकता है, मार्ग-च्युत होता है कि सामायिक कहीं रह जाती है, पीछे छूट जाती है और वह पुनः विषय मार्ग पर अग्रसर हो जाता है।" इसलिए सान्निध्य ऐसा मिले जो समता की ओर बढ़ा सके, आगे ले जा सके, जिससे यह सतत प्रेरणा और स्फुरण मिलती रहे कि जीवन में यदि सामायिक उपलब्ध नहीं हुआ तो कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ। सब-कुछ पाकर भी व्यक्ति दरिद्र है यदि उसे सामायिक प्राप्त नहीं है। वह बेचारा गरीब ही बना रहा जिसने सामायिक को उपलब्ध नहीं किया और जिसने समता का आस्वादन नहीं किया।

जब हमारे सामने एक परम पवित्र आत्मा विराजमान रहती है, हमारा इष्ट होता है, उस परम आत्मा का सान्निध्य हमारे अन्तःकरण में, हमारी चेतना के कण-कण में विद्यमान होता है, उस समय कोई भी शक्ति हमें समता से विचलित नहीं कर सकती। इसलिए श्रेयस् की यात्रा में सान्निध्य बहुत अपेक्षित होता है।

सन्निधि का अर्थ है—निकटता। जब सामायिक के चरम शिखर को उपलब्ध आत्मा के साथ हमारी एकात्मकता होती है, तब सहज ही हमारे जीवन में सामायिक का अवतरण हो जाता है। उसी क्षण में यह अनुभूति जागती है—'करेमि भंते ! सामाइयं—भगवन् ! मैं सामायिक करता हूं।' सामायिक जीवन की एक बहुत बड़ी घटना है। यह घटना घटित होती है उस यात्रा में गति होने पर। जब व्यक्ति सभी पापमय प्रवृत्तियों से अपने अस्तित्व को पृथक् अनुभव करता है तब सामायिक घटित होती है। जब सावद्य कर्मों के साथ, क्लेश में डालने वाले कर्मों के साथ अपने अस्तित्व को जोड़ता चलता है तब तक सामायिक घटित नहीं होती। सामायिक घटित होती है उस संकलन के द्वारा कि जो कुछ मेरे सामने है वह सारा का सारा भिन्न है। मेरा अस्तित्व इन सबसे भिन्न है। मेरे अस्तित्व के साथ इनका जुड़ना ही दुःख है। जब व्यक्ति अपने अस्तित्व को पृथक् देखना शुरू करता है और अपने अस्तित्व से परे की सारी वस्तुओं को भिन्न देखता है, उस क्षण में जीवन में सामायिक घटित होती है। जितनी भी सावद्य प्रवृतियां हैं, जितनी भी क्रोध की, मान की, माया की, राग-द्वेष का प्रवृतियां हैं, जिनको हमने अपने अस्तित्व से जोड़ रखा है, जिनकों हमने अपने अस्तित्व का अंग बना रखा है, जब तक उनके साथ अभिन्नता की दृष्टि बनी रहेगी तब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक कभी नहीं घटेगी, उसका अवतरण नहीं होगा। जब यह मिथ्या-दृष्टि बदल जाएगी, जब सम्यग्दृष्टि आ जाएगी कि ये विजातीय तत्त्व मेरे अंग नहीं हैं, ये सब 'पर' हैं, मेरे स्वत्व पर अधिकार जमाए हुए हैं, मुझे दुःख के चक्र में डाले हुए हैं—यह दृष्टि बनते ही सामायिक घटित होगी। ये विजातीय गुण-धर्म मुझे कष्ट देने वाले ठगने वाले, दुःख के चक्र में डालने वाले हैं—यह स्पष्ट होते ही, उसी दिन सामायिक के लिए उचित स्थान बन जाएगा।

हम सामायिक को उपलब्ध करने के लिए मन की शक्तियों का प्रयोग करें। मन की शक्ति का प्रयोग अनावश्यक नहीं है। वह भ्रम नहीं है।

मन की पहली शक्ति है—कल्पना। कल्पना की शक्ति का भी महत्त्व है। कल्पना-शक्ति का उपयोग किए बिना कोई भी आदमी बड़ा काम नहीं कर सकता। ध्यान के अभ्यास-काल में हम बार-बार कहते हैं—"कल्पना मत करो, कल्पना मत करो, विकल्प मत करो।" किन्तु काम के समय कल्पना की बहुत अपेक्षा होती है। निर्विकल्प शक्ति के द्वारा कल्पनाशक्ति का विकास होता है। आप यह न मानें कि निर्विकल्प दशा में और कल्पना की मनोदशा में कोई सर्वथा विरोध है। उनमें सर्वथा विरोध नहीं है। ध्यान-काल में कोई विकल्प न करें, कोई कल्पना न करें शक्ति के संवर्धन के लिए। ध्यानमुक्त काल में कल्पना करें। दोनों जरूरी हैं। ध्यान के विकास के लिए कल्पना करना बहुत जरूरी है। ध्यान में बैठने से पूर्व कल्पना करनी चाहिए। अर्हत् की कल्पना करें। एक स्वस्थ आकृति खींचें। मन में एक स्वस्थ आकृति का निर्माण करें। जब तक कोई आकृति स्पष्ट नहीं होती तब तक काम आगे नहीं बढ़ सकता। सबसे पहले कल्पना करनी होती है, एक चित्र का निर्माण करना होता है कि मैं यह बनना चाहता हूं। ध्यान में यह क्षमता है कि आपको अपने संकल्प के अनुसार ढाल सकता है। जैसा चाहें वैसा बनें—इसमें ध्यान माध्यम बनता है। एक व्यक्ति चाहता है कि मैं अमुक व्यक्ति को पीड़ित करूं। ऐसी शक्ति भी ध्यान के द्वारा ही प्राप्त होती है, एकाग्रता के द्वारा ही प्राप्त होती है। एकाग्रता के द्वारा शक्ति को अर्जित कर अनेक व्यक्ति दूसरों का उत्पीड़न करते हैं, दूसरों को सताते हैं, लूटते हैं और मार भी डालते हैं। यह शक्ति भी ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है। कोई व्यक्ति किसी का भला करना चाहे, अच्छा करना चाहे तो यह शक्ति भी ध्यान के माध्यम से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों प्रकार की शक्तियां ध्यान के माध्यम से ही उपलब्ध होती हैं। इसलिए आत्मविकास करने वाले व्यक्ति का यह पहला कर्त्तव्य है कि जो बनना है उसका वह चित्र बनाए। जब तक यह नहीं होता, तब तक जो बनना होता है वह नहीं बना जा सकता।

इसके पश्चात् संकल्पशक्ति का उपयोग करें, इच्छाशक्ति का उपयोग करें। जो हमारी भावना है उसमें प्रबलता लाएं। भावना में प्रबलता का नाम ही इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति या दृढ़ निश्चय है। जब इच्छाशक्ति दृढ़ और प्रबल होती है तब 'बनने' की दिशा में गति प्रारंभ हो जाती है। इच्छाशक्ति के द्वारा विचारों में ऐसे प्रकंपन पैदा होते हैं कि हमारा परिणमन प्रारंभ हो जाता है। न केवल हमारे विचारों में प्रकंपन शुरू होता है किन्तु आकाश-मंडल भी प्रकंपित हो उठता है। वायुमंडल में प्रकंपन होते हैं और वह घटित होने लग जाता है, जो होना है।

हम कभी-कभी सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। कैसे किया ?—यह एक प्रश्न है। जिस व्यक्ति के मन में महावीर का चित्र स्पष्ट था, उसने महावीर का साक्षात् कर लिया। जिस व्यक्ति के मन में राम या कृष्ण का चित्र स्पष्ट था, उसने राम या कृष्ण का साक्षात् कर लिया। यह साक्षात् उसी रूप में होता है जिस रूप में व्यक्ति ने महावीर, राम या कृष्ण को देखा है, जाना है, समझा है। जिस व्यक्ति के मन में आचार्य भिक्षु का चित्र स्पष्ट था उस व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु के दर्शन कर लिये। न जाने कितने भक्त कितने भगवानों को देख लेते हैं। वे देखते उसी भगवान् को हैं जिसका चित्र मन में स्पष्ट होता है। दूसरे भगवानों को नहीं देखा जा सकता। इसका तात्पर्य यही है कि पहले हमने एक चित्र बनाया। फिर कल्पनाशक्ति या संकल्पशक्ति के द्वारा वायुमंडल को इतना आन्दोलित कर दिया, इतनी तरंगें पैदा कर दीं कि सारा वायुमंडल प्रकंपित हो उठा और उसमें से जो हमारा इष्ट था, उसकी आकृति हमारे सामने स्पष्ट हो गयी। यही हमारा साक्षात्कार है।

दो शक्तियां हैं। एक है कल्पनाशक्ति और दूसरी है संकल्पशक्ति। इन दोनों का उपयोग करें। तीसरी शक्ति है—एकाग्रता। इसका भी उपयोग करें। हम जो होना चाहते हैं, उसी की ओर मन की सारी शक्ति को प्रवाहित कर दें। भटकाव को मिटा दें। मन की शक्ति जब इधर-उधर दौड़ती है, एक लक्ष्य की ओर प्रवाहित नहीं होती तब सफलता नहीं मिल सकती। मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ऊर्जा जब एक दिशागामी होती है तब हम जो बनना चाहते हैं वह बन जाते हैं। 'एगायणं रयस्स'—जो एक ही आयतन में रत होता है, जो एक ही आयतन को देखता है, वह उस आयतन तक पहुंच जाता है। कभी नहीं भटकता। हम सीधी दिशा में चलें, परिक्रमा न करें। परिक्रमा करने वाला उस निश्चित वर्तुल में ही घूमता रहता है, आगे नहीं बढ़ पाता। आगे वह बढ़ता है जो एक ही दिशा में चलता रहता है। साधक परिक्रमा न करे, सीधा उस चित्र की दिशा में बढ़ता जाए। मन की सारी ऊर्जा को एक दिशा में प्रवाहित करना सफलता का चिह्न है। जब तीनों शक्तियों—कल्पनाशक्ति, संकल्पशक्ति और एकाग्रता की शक्ति—का उपयोग सम्यक् होने लगता है, उस समय हम तन्मय होकर ध्यान की स्थिति में चले जाते हैं।

हमारा ध्येय है सामायिक। हम हैं ध्याता। ध्याता और ध्येय के बीच बहुत दूरी होती है। आप पूछेंगे—कितनी दूरी? इसका कुछ निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु इसके लिए एक सिद्धान्त स्थापित किया जा सकता है कि जितनी व्यग्रता उतनी ही दूरी। जितनी एकाग्रता उतनी ही दूरी की कमी। मन की व्यग्रता दूरी को बढ़ाती है। मन की एकाग्रता दूरी को कम करती है।

मन की दो भूमिकाएं हैं। एक है व्यग्रता की भूमिका और दूसरी है एकाग्रता की भूमिका। व्यग्र मन अर्थात् एक अग्र-आलंबन पर न टिकने वाला मन। नाना अग्रों—आलंबनों पर भटकने वाला मन। उसका भटकाव कभी नहीं मिटता। एकाग्रमन अर्थात् एक ही अग्र पर टिकने वाला मन। इनमें भटकाव मिट जाता है।

जितनी व्यग्रता होती है उतनी ही दूरी बनी की बनी रहती है। व्यक्ति ध्येय के निकट नहीं पहुंच पाता। ध्येय तक पहुंचने के लिए व्यग्रता को कम करना होगा।

ज्ञान की दो अवस्थाएं हैं—ज्ञान और ध्यान। दोनों ज्ञान हैं। जो चेतना चंचल है, उसका नाम है ज्ञान और जो चेतना स्थिर है, उसका नाम है ध्यान। ध्यान ज्ञान है, परन्तु हर ज्ञान ध्यान नहीं है। प्रत्येक ध्यान ज्ञान है। ऐसा कोई भी ध्यान नहीं है जो ज्ञान न हो, अज्ञान हो। किन्तु प्रत्येक ज्ञान ध्यान नहीं है। वही ज्ञान ध्यान है जो एकाग्र है, एक आलंबन पर चलने वाला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्याता और ध्येय में बहुत बड़ी दूरी है। उसे पाटना बहुत कठिन होता है। जब साधक इस दूरी को पाटने का प्रयत्न करता है तब बीच में अनेक अवरोध आ जाते हैं। ध्यान भंग हो जाता है। एकाग्रता मिट जाती है। मन बाहर की चीजों में उलझ जाता है। ध्येय धुंधला हो जाता है, छूट जाता है। जब ध्येय की दिशा में गमन ही नहीं होता या भटकाव हो जाता है तब ध्येय उपलब्ध कैसे हो सकता है? जब चरण ध्येय की दिशा में बढ़ते ही नहीं, तब वहां तक पहुंचने की बात ही प्राप्त नहीं होती। ध्येय की दूरी नहीं मिट सकती। दूरी तभी मिट सकती है जब हमारे मन की गति निरंतर ध्येय की दिशा में होती है। जब मन व्यग्रता से शून्य हो जाता है तब ध्येय की निकटता होने लगती है। जब निकटता बढ़ते-बढ़ते हमारे चरण ध्येय तक पहुंच जाते हैं तब मन की जो स्थिति बनती है, वह है तन्मयता। तन्मय हो जाने का अर्थ है—एक हो जाना। ध्येय और ध्याता तब दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं। जो पूर्व रूप था वह मिट जाता है और जो ध्येय का रूप है वह अवतरित हो जाता है। पूर्व व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और ध्येय का व्यक्तित्व समाविष्ट हो जाता है। वहां 'मैं' समाप्त हो जाता है। जो बनना होता है वह घटित हो जाता है। साधक उस स्थिति में चला जाता है, जहां ध्याता और ध्येय दो नहीं रहते। ध्याता स्वयं ध्येय रूप बन जाता है। फिर व्यक्ति अलग नहीं होता और सामायिक अलग नहीं होती। व्यक्ति स्वयं सामायिक बन जाता है। फिर वह ऐसा नहीं कह सकता कि 'मैं सामायिक कर रहा हूं।' कौन करने वाला और कौन सामायिक? 'मैं सामायिक करता हूं'—इसका तात्पर्य है कि एक करने वाला है और एक की जाने वाली वस्तु है। यह भेद समाप्त हो जाता है। तब 'मैं' और 'सामायिक' दो नहीं रहते। करने की बात छूट जाती है। सामायिक जीवन में अवतरित हो जाती है। समता के ध्येय को उपलब्ध करने के लिए जीवन में सामायिक की घटना घटित होनी आवश्यक होती है। इसकी संपूर्ति के लिए चारों प्रकार की शक्तियों का उपयोग करना होता है—

१. कल्पना की शक्ति
२. इच्छा की शक्ति
३. एकाग्रता की शक्ति
४. तन्मयता की शक्ति।

जब ये चारों शक्तियां साधक को उपलब्ध हो जाती हैं, तब जीवन में सामायिक अवतरित होती है। यह केवल सामायिक की ही प्रक्रिया नहीं है। आप जो भी ध्येय बनाएं, जो भी चित्र बनाएं, जिसको उपलब्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना चाहते हैं, उसकी यही प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा आप जो चाहें वह साध सकते हैं, उसे उपलब्ध कर सकते हैं। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

हम प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। हमारा ध्येय है—चैतन्य का अनुभव करना। यह ध्येय तो हमने चुन लिया किन्तु प्रेक्षा-ध्यान में हम सबसे पहले चमड़ी को, फिर हड्डियों को, फिर मांस को, फिर मज्जा और रक्त को, फिर और-और चीजों को देखते जाते हैं। शरीर में जितनी गंदगी है, उसको देखना प्रारम्भ करते हैं। ध्येय तो है आत्मा के अनुभव का और देखते हैं दूसरी-दूसरी चीजों को। यह विरोधी-सा लगता है। किन्तु यह विरोधी बात नहीं है। दिशा का भटकाव नहीं है। सही दिशा में हमारी गति का क्रम है। हमें चैतन्य का अनुभव करना है। चैतन्य क्या आकाश से टपकता है? हम बन्दर तो नहीं हैं जिसने मगरमच्छ से कहा था कि तुम मेरा कलेजा चाहते हो पर मैं तो अपने कलेजे को साथ लेकर नहीं फिरता। उसे मैं वृक्ष पर टांग आया हूं। आदमी बन्दर नहीं है। वह नहीं कह सकता कि मैं मेरे अध्यात्म को, मैं मेरी सामायिक को कहीं अन्यत्र रखकर आया हूं। आदमी विकसित चेतना वाला प्राणी है। वह बन्दर की तरह अल्प विकसित प्राणी नहीं है।

जो व्यक्ति अपने जीवन में कुछ घटित करना चाहता है, अपने चैतन्य की यात्रा करना चाहता है, वह यह बहाना नहीं कर सकता कि मेरा चैतन्य कहीं वृक्ष पर टंगा हुआ है। सारा का सारा चैतन्य इसी शरीर के भीतर अवस्थित है। जब वह शरीर के भीतर है, तब उसे प्राप्त करने के लिए हमें शरीर की यात्रा करनी होगी। इस यात्रा का प्रारम्भ हमें चमड़ी से करना होगा। फिर एक-एक आवरण को पार कर हमें नाड़ी-संस्थान तक पहुंचना होगा। फिर हमें तैजस शरीर को पार करना होगा। तैजस शरीर हमारी समस्त प्रवृत्तियों का संचालक है। हमारी प्राणशक्ति तैजस शरीर के द्वारा प्राप्त होती है। उसे भी हमें पार करना होगा। जो प्राण हमें जीवनीशक्ति दे रहा है उसके स्पंदनों को पार करने के पश्चात् हमें कर्म शरीर की यात्रा प्रारम्भ करनी होगी, जहां से सारी शक्तियां उमड़-उमड़कर आती हैं। ये सब छोटे-मोटे झरने हैं। महाप्रपात तो वही कर्म-शरीर है। सूक्ष्म कर्म-शरीर के एक-एक अणु पर, अनादिकाल से चिपके हुए संस्कारों को देखना होगा और एक-एक को पार करने का प्रयत्न करना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म शरीर का बहुत बड़ा संसार है। वह इतना बड़ा संसार है कि आज के अरबों-खरबों दृश्य संसार इसमें सहजता से समाविष्ट हो सकते हैं। इतना बड़ा संसार दूसरा है नहीं। कुछ तारे ऐसे हैं जिनमें सात नील पृथ्वियां समा जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म कर्म शरीर के सामने ये तारे भी छोटे हैं। उस अनन्त संसार को, अनन्त संस्कारों के संसार को हमें पार करना होगा। उसको पार करते ही चैतन्य का अनुभव प्रारंभ हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २५

संकलिका

- व्यक्तित्व के छह खंड—
  - भौगोलिक व्यक्तित्व—जो आकार-प्रकार देता है।
  - आनुवंशिक व्यक्तित्व—जो जन्म के साथ-साथ बहुत कुछ देता है।
  - सामाजिक व्यक्तित्व—जो विकास और प्रकाश का अवसर देता।
  - शारीरिक व्यक्तित्व—जो तृप्ति-अतृप्ति की अनुभूति का माध्यम बनता है।
  - मानसिक व्यक्तित्व—जो सबके दायित्वों और प्रतिक्रियाओं का भार अकेला ढोता है।
  - परामानसिक व्यक्तित्व—जो व्यक्ति के सभी प्रकारों पर अपना स्वामित्व रखता है, सबको अपने प्रभाव से संचालित करता है।
- सामायिक है—व्यक्तित्व के नव निर्माण की प्रक्रिया।
- सामायिक है—रेचन की प्रक्रिया।
- सामायिक है—अतीत के व्यक्तित्व को विसर्जित कर नए व्यक्तित्व को घटित करने की प्रक्रिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तित्व का नव निर्माण

हमारा व्यक्तित्व छह खंडों में विभाजित है। ये छह कर्मशास्त्रीय अवधारणा के आधार पर होते हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार मैंने इन छह खंडों पर व्यक्तित्व को देखने का प्रयत्न किया है। ये छह खंड हैं :—

१. भौगोलिक व्यक्तित्व
२. आनुवंशिक व्यक्तित्व
३. सामाजिक व्यक्तित्व
४. शारीरिक व्यक्तित्व
५. मानसिक व्यक्तित्व
६. परामानसिक व्यक्तित्व।

सबसे पहला है—भौगोलिक व्यक्तित्व। हमारा एक व्यक्तित्व होता है जिसके निर्माण में भूगोल का बहुत बड़ा अनुदान होता है। एक व्यक्ति भारत में जन्म लेता है। दूसरा व्यक्ति यूरोप में जन्म लेता है। एक व्यक्ति उत्तर में जन्म लेता है। दूसरा व्यक्ति दक्षिण में जन्म लेता है। दोनों में अपनी-अपनी विशेषता होती है। यह विशेषता भौगोलिक है। हम व्यक्ति के वर्ण, रहन-सहन आदि को देखकर जान लेते हैं कि यह अमुक देश का है। अमुक प्रान्त का है। उसकी क्षेत्रीय विशिष्टता उसके भौगोलिक व्यक्तित्व को उजागर करती है।

आनुवंशिकता का भी व्यक्तित्व में बहुत बड़ा अवदान होता है। आनुवंशिकता का भी एक पूरा व्यक्तित्व बन जाता है। माता-पिता के गुण-दोष संतान में सक्रांत होते हैं। माता-पिता के अवयव, अवयवों के गुण-दोष संतान में संक्रमित होते हैं। संतान माता-पिता का मिश्रण है। उनमें तीन अवयव माता के और तीन अवयव पिता के होते हैं। मनुष्य मनुष्य जैसा होता है, वह हाथी जैसा नहीं होता। इसका कारण है—आनुवंशिकता। यह आनुवंशिकता ही यह निश्चित करती है कि मनुष्य मनुष्य के आकार का ही होगा, हाथी के आकार का नहीं। मानव को मानव आकार मिलता है, मांस पेशियां मिलती हैं, अस्थि-संस्थान, मस्तिष्क आदि मिलते हैं, यह सब आनुवंशिकता के कारण मिलता है। हमारे व्यक्तित्व का एक खंड है—आनुवंशिक व्यक्तित्व।

व्यक्तित्व का तीसरा खंड है—सामाजिक व्यक्तित्व। समाज के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है। वह समाज से परे रहने पर नहीं बनता। एक आदमी दूसरे से बातचीत करता है, स्पष्ट बोलता है। अपनी बात दूसरों को समझाता है और दूसरों की बात स्वयं समझता है, वह विकास समाज के आधार पर ही होता है। यदि समाज न हो तो यह विकास नहीं हो सकता। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार करता है, लेन-देन करता है, यह सारा सामाजिक व्यक्तित्व है। जितनी परस्परता है वह सामाजिक व्यक्तित्व है। समाज के नियम हैं, समाज की व्यवस्थाएं हैं और समाज की अवधारणाएं हैं। एक व्यक्ति एक प्रकार की वेशभूषा पहनता है और दूसरा दूसरे प्रकार की। यह सामाजिक प्रभाव है। जो व्यक्ति जिस समाज में रहता है वह उसकी अवधारणा के अनुसार वस्त्र पहनता है और यदि वह कुछ भी परिवर्तन करता है तो वह स्वयं एक प्रश्नचिह्न बन जाता है। वेशभूषा, व्यवहार और आचार-विचार—ये सारे हमारे सामाजिक व्यक्तित्व के कारण हैं। यदि व्यक्ति अकेला व्यक्ति होता, यदि उसका सामाजिक व्यक्तित्व नहीं होता तो शायद व्यक्ति अपने तक ही सीमित रहता, बहुत विकास नहीं कर पाता। यह हमारे व्यक्तित्व का तीसरा महत्त्वपूर्ण खंड है।

चौथा खंड है—शारीरिक व्यक्तित्व। शरीर के आधार पर हमारा एक व्यक्तित्व निर्मित होता है। शरीर की अवधारणाओं के आधार पर, शरीर की दीप्ति के अनुसार एक व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे बहुत सारे कार्य शारीरिक अवधारणाओं के आधार पर होते हैं। शरीर की मांग के आधार पर, शरीर की तृप्ति और अतृप्ति के आधार पर अनेक वर्जनाएं और कार्य की अनेक विधाएं चल सकती हैं।

पांचवां खंड है—मानसिक व्यक्तित्व। यह सब व्यक्तित्वों का भार ढोने वाला है। यह सब व्यक्तित्वों के दायित्वों और प्रतिक्रियाओं का भार ढोता है। परामानसिक व्यक्तित्वों का भार भी वही ढोता है। सभी प्रकार के व्यक्तित्वों के दायित्व का वहन करना, प्रतिक्रियाओं को झेलना, क्रियाओं का उत्सर्जन करना—यह सब मानसिक व्यक्तित्व करता है। यह व्यक्तित्व मन के आधार पर खड़ा है। इसने अनेक मान्यताएं बना रखी हैं। इनमें दोनों प्रकार की मान्यताएं हैं—वर्जना की मान्यताएं और बहुत करने की मान्यताएं। हमने इतनी मान्यताएं खड़ी कर रखी हैं कि पूरा मानसिक व्यक्तित्व हमारे ऊपर छाया हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये पांचों व्यक्तित्व स्पष्ट हैं। इनकी प्रतिष्ठापना के लिए बहुत तर्क अपेक्षित नहीं है। बहुत सरलता से इन्हें समझाया जा सकता है। व्यक्ति पर माता-पिता का, समाज का, शरीर का और मन का प्रभाव होता है। ये ऐसी उजली, सफेद बातें हैं कि इनको देखने के लिए दीया जलाने की आवश्यकता नहीं होती। जो स्वयं में स्पष्ट है उसके लिए प्रकाश आवश्यक नहीं है।

हमारे व्यक्तित्व का छठा खंड है—परामानसिक व्यक्तित्व। यह छिपा हुआ है, तमस् में है, अंधेरे में है। प्रकट नहीं है। किन्तु यह ऐसा व्यक्तित्व है जिसके हाथों में दूसरे पांचों व्यक्तित्वों की नकेल है। वह चाहे तो भौगोलिक आनुवंशिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक—सभी प्रभावों को नष्ट कर सकता है। इसके हाथ में है—बनाना और बिगाड़ना, सृष्टि और संहार। प्रलय और निर्माण—सब-कुछ इसके हाथ में है। यह भीतर छिपा रहकर इस प्रकार संचालन कर रहा है कि सब इसके इशारे पर नाच रहे हैं।

वर्तमान वैज्ञानिकों और मानसशास्त्रियों ने बहुत बड़ी क्रांति की। उन्होंने कहा—"चेतन मन के स्तर पर या भौतिक स्तर पर जो घटित हो रहा है वह अवचेतन मन का प्रतिबिम्ब है। यह भौतिक जगत् में बहुत बड़ी घटना है जो समूचे सिद्धान्त को बदल देती है। जहां केवल शरीर या स्थूल मन के आधार पर सारी अवधारणाएं चलती हैं, उस स्थिति में यह प्रतिपादन सामने आया कि व्यक्ति जो स्वप्न लेता है, व्यक्ति के मन में जो वासनाएं उभरती हैं, जो वासनाएं हैं, वे सब दमित वासनाएं स्वप्न में उभरती हैं और जागते में उभरती हैं।

मन के दो स्तर हैं—चेतन मन का स्तर और अवचेतन मन का स्तर। अवचेतन मन का स्तर अत्यन्त शक्तिशाली है। अवचेतन मन उससे कुछ अवदान प्राप्त कर अपना कार्य चलाता है। जितनी घटनाएं घटित होती हैं, हमारे जितने आचरण हैं, उन सबका स्रोत है—अवचेतन मन। कर्मशास्त्र ने हजारों वर्षों पूर्व इस विषय का प्रतिपादन किया था कि व्यक्ति जो कुछ करता है उसके पीछे कर्मक प्रेरणा होती है। 'कम्मुणा जायए'—कर्म से ही होता है। यही प्रेरक तत्त्व है। हमारे सभी आचरणों का मूल स्रोत है कर्म। जो कर्म संचित हैं, जो कर्म अस्तित्व मे हैं, सत्ता में हैं और जब वे उदय में आते हैं, जब उनका विपाक होता है तब नाना प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं। सारा का सारा व्यक्तित्व उनके आधार पर चलता है। कर्मशास्त्र की भाषा में जिसे हम कर्मों का विपाक कहते हैं, उसे ही मनोविज्ञान की भाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दमित इच्छाओं का उभार कहते हैं। दोनों का आशय तो निकट है ही, भाषा की दूरी भी नहीं है।

हमारे समूचे व्यक्तित्व के पीछे व्यक्तित्व में घटित होने वाली घटनाओं के पीछे जो रहस्यमय सत्ता छिपी हुई है, वह है सूक्ष्म शरीर या कर्मशरीर का सत्ता या सूक्ष्म शरीरीय चेतना की सत्ता। इसे हम परामानसिक सत्ता कहते हैं। इस तक पहुंचे बिना किसी भी कार्य या घटना की व्याख्या नहीं की जा सकती।

कर्म का संबंध परामानसिक है। एक व्यक्ति उसी भूखंड में रहता है जहां दूसरे लोग रहते हैं। कुछ लोगों पर भौगोलिकता का असर नहीं होता और कुछ लोगों पर भौगोलिकता का प्रभाव होता है। इसकी व्याख्या कैसे की जाए? यदि हम केवल भौगोलिकता के आधार पर उसकी व्याख्या करें तो पूरी व्याख्या नहीं हो सकती। परामानसिक व्यक्तित्व उसमें परिवर्तन ला देता है। आनुवंशिकता की बात भी ऐसी ही है। यह भी सर्वथा लागू होने वाला सार्वभौम सिद्धांत नहीं है। शारीरिक, सामाजिक और मानसिक व्यक्तित्वों में भी अनेक अपवाद मिलते हैं। उन सब अपवादों को घटित करने वाला परामानसिक व्यक्तित्व है। परामानसिक व्यक्तित्व व्यक्ति को चलते-चलते बदल देता है। चेतन मन की इच्छा होती है—साधना करूं, ध्यान करूं। किन्तु परामानसिक व्यक्तित्व एक ऐसी प्रक्रिया चालू करता है कि ध्यान कहीं का कहीं रह जाता है, सर्वथा छूट जाता है और व्यक्ति ध्यान की प्रतिकूल अवस्थाओं में चला जाता है। मन की इच्छा कुछ होती है और उसके विपरीत ही सब-कुछ घटित होने लग जाता है। कोई व्यक्ति सच्चरित्र है, सामाजिक प्रतिबद्धताओं, नियमों और अवधारणाओं को मानकर चलने वाला है, किन्तु ऐसा कोई अकल्पित कार्य कर बैठता है कि लोग आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। वे सोचते हैं—ऐसे आदमी ने यह जघन्य अपराध कैसे कर डाला? कितना समझदार, बुद्धिमान् और विवेकी था वह, फिर भी यह कार्य कर बैठा। वहां लोगों की समझ काम नहीं करती। तर्क के आधार पर भी इसे नहीं समझा जा सकता। वह कार्य अतार्किक और अहैतुक है। कोई तर्क या हेतु स्पष्ट नहीं दीखता। किन्तु उसके भीतर भी एक सूक्ष्म हेतु है, जो उस कार्य को घटित करता है। वह सूक्ष्म हेतु अन्दर काम करता है। हम सामायिक करें, मन की शक्ति के साथ समता का उपयोग करें या और कुछ करें, हम इस सचाई को अवश्य समझें कि जब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतीत हमारा पीछा करता रहेगा तब तक हम जो चाहते हैं वह जीवन में घटित नहीं कर पाएंगे। अतीत का भूत हमारा पीछा कर रहा है, हम इससे पीछा छुड़ाएं। जब ऐसा होगा तभी हम स्वतंत्र रूप में अपना स्वतंत्र जीवन संचालित कर पाएंगे। वह हमारा पीछा करता रहे, हम उससे न बच पाएं तो हम स्वतंत्र व्यक्तित्व को नहीं पनपा सकेंगे। परतंत्रता का सामना हमें पग-पग पर करना पड़ेगा।

सामायिक करने वाला व्यक्ति इस बात से बहुत सावधान और जागरूक रहता है, इसलिए वह कहता है—"**करेमि भंते! सामाइयं सव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाएतिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि, करंतपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि!**"—"भंते मैंने आपका सान्निध्य प्राप्त किया है। मैंने समताभाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने का संकल्प लिया है। मैंने सावद्य कर्मों और प्रवृत्तियों को त्यागने का संकल्प किया है। मैं कोई भी अकर्म नहीं करूंगा। कोई भी अवांछनीय कर्म नहीं करूंगा। मन से, वचन से और काया से मैं सावद्य कर्म न करूंगा, न कराऊंगा और न करने वाले का ही अनुमोदन करूंगा।"

यह बहुत ही स्वस्थ संकल्प है। सान्निध्य भी उपलब्ध है। सब कुछ ठीक है। साथ-साथ साधक इस सचाई के प्रति जागरूक भी है कि मेरा यह संकल्प तब ही फलित हो सकता है जब अतीत का पीछा छूट जाए। यदि अतीत का पीछा नहीं छूटता है तो संकल्प नहीं चल सकता। टूट जाता है। इसलिए वह साधक दोहराता है—'**पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि।**' 'भंते! अतीत में मैंने जो आचरण किए थे, मैं उनका प्रतिक्रमण करता हूं। उस भूमिका से अब मैं नयी भूमिका में लौट आया हूं। मैं जो विषमता की भूमिका में था अब समता की भूमिका में लौट आया हूं। मैं अपने से दूर चला गया था, अपने स्वत्व से दूर चला गया था, अपने घर को छोड़ बाहर चला गया था, अब मैं अपने घर में फिर लौट आया हूं। मैं निन्दा करता हूं। मैंने विषमता का जो आचरण किया था, आज मैं अनुभव करता हूं कि वह निंदनीय और कुत्सित था। मैं गर्हा करता हूं। सारा पापकर्म घृणित था। आदरणीय नहीं था।" 'अप्पाणं वोसिरामि'—"मैं अपने सारे पुराने व्यक्तित्वों का विसर्जन करता हूं। आज से मैं नए व्यक्तित्व का निर्माण करता हूं। व्यक्तित्व का नव निर्माण करता हूं और जो मैं था उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़ देता हूं। सामायिक से पूर्व जो मेरा व्यक्तित्व था, उसका विसर्जन करता हूं। आज से मेरा नया जन्म होगा, व्यक्तित्व का नव निर्माण होगा और मैं नए सिरे से जन्म प्राप्त कर अपना जीवन धारण करूंगा।"

यह बहुत बड़ी जागरूकता है। जब तक अतीत का शोधन नहीं होता तब तक हमारा संकल्प चलता नहीं है। व्यक्ति दिन में १०-२० बार सोच लेता है कि यह काम अच्छा नहीं है, मुझे नहीं करना चाहिए। किन्तु समय आते ही वही का वही काम हो जाता है। इसी प्रकार क्रोध न करने की सोचता है किन्तु घटना आते ही गुस्सा तैयार है। व्यक्ति अनेक मनोरथ निर्मित करता है किन्तु जब अवसर आता है तब सारी बातें व्यर्थ हो जाती हैं, विलीन हो जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि हम केवल वर्तमान को सुधारना चाहते हैं, किन्तु अतीत की निर्जरा करना नहीं चाहते। अतीत की निर्जरा किए बिना, अतीत की शक्ति को क्षीण किए बिना केवल वर्तमान को सुधारने की बात व्यर्थ हो जाती है। वर्तमान में रहना बहुत ही जरूरी है। किन्तु वर्तमान में रहना तभी संभव है जब अतीत पीछा करना छोड़ दे। अतीत को क्षीण करने का एकमात्र उपाय है—द्रष्टाभाव का विकास। जिस व्यक्ति ने अपने द्रष्टाभाव को विकसित कर लिया उसने अतीत से अपना पिंड छुड़ा लिया। जिसने द्रष्टाभाव का विकास नहीं किया, उसे अतीत भूत की भांति सताता रहता है। जब वह ध्यान करने बैठता है तब हजारों प्रकार की वासनाएं उभर आती हैं। व्यक्ति निराश हो जाता है। सोचता है—ध्यान मेरे वश की बात नहीं है। ध्यान मन की शांति के लिए करता हूं किन्तु ध्यान करने के लिए बैठते ही मन अशांत हो जाता है। वह निराश व्यक्ति ध्यान को छोड़ देता है। जब तक द्रष्टाभाव का विकास नहीं होता तब तक स्थिति में परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से द्रष्टाभाव विकसित होता है। प्रेक्षाध्यान से वह सुस्थिर होता है। हमारी चेतना की ऐसी अवस्था निर्मित हो जाती है कि जो कुछ घटित होता है वह देखा जाता है, प्रतिक्रिया नहीं होती। साधक मात्र द्रष्टा रहे, प्रतिक्रिया न करे। द्रष्टाभाव का विकास होते ही प्रतिक्रियाएं पीछे रह जाती हैं।

अतीत का रेचन करने के लिए दो आलंबन अपेक्षित हैं—कायोत्सर्ग और प्रेक्षा। जब साधक को यह लगे कि अतीत सता रहा है, मन को झक-झोर रहा है, वासनाएं उभर रही हैं, आकांक्षाएं बढ़ रही हैं, लोभ बढ़ रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तृष्णा बढ़ रही है—ये बातें मन में जागती हैं तब साधक कायोत्सर्ग करे। जो भी विचार आए, उसे देखता रहे। विचारों को रोके नहीं। उन्हें आने का मुक्त अवकाश दे। द्रष्टाभाव से देखता जाए। जो आता है वह अपने-आप चला जाएगा। जब साधक द्रष्टाभाव में रहता है तब अतीत कुछ बिगाड़ नहीं सकता। कर्मों का, संस्कारों का उभार होता है, उनका उदय होता है, साधक द्रष्टाभाव से सब कुछ देखता जाता है। वे विपाक होते हैं और मिट जाते हैं। उनका आना-जाना चालू रहता है और साधक का देखना चालू रहता है। यही प्रेक्षाध्यान की पद्धति है।

आचार्य हेमचंद ने योगशास्त्र लिखा। उसमें बारह प्रकरण हैं। प्रथम ग्यारह प्रकरणों में उन्होंने परम्परागत ध्यान की पद्धति का प्रतिपादन किया और बारहवें प्रकरण में अपने अनुभूत तथ्यों का उल्लेख किया। उन्होंने लिखा —"मैं जो कुछ इस प्रकरण में लिख रहा हूं वह किसी शास्त्र के आधार पर नहीं लिख रहा हूं, किसी परंपरा के आधार पर नहीं लिख रहा हूं, किन्तु मेरा अपना जो अनुभव है वह मैं यहां प्रकट कर रहा हूं।" अपने अनुभवों के प्रकटीकरण में उन्होंने बताया कि जो विचार आते हैं उन्हें रोको मत। विचारों को रोकने से वे भीतर दब जाते हैं। ऐसा लगता है कि उनके ये विचार आज की मनोविज्ञान की भाषा में इस प्रकार कहे जाते हैं— 'इच्छाओं का दमन मत करो। इच्छाओं का दमन करोगे तो वे और गहरे में चली जाएंगी और फिर भयंकर रूप धारण कर सताएंगी।

आचार्य कहते हैं—"विचारों को रोको मत, दबाओ मत।" तो क्या बुरे विचारों को भी आने दें? धार्मिक लोग भला बुरे विचारों को कैसे आने देंगे। वे कहेंगे—"बुरे विचारों पर नियंत्रण लगाना चाहिए। उन्हें रोकना चाहिए।" आज के धार्मिक स्वयं के बुरे विचारों के प्रति इतने जागरूक नहीं होते, जितने जागरूक वे दूसरों के बुरे कर्मों के प्रति रहते हैं। वे दूसरों को बुरे कर्मों से बचाने के लिए अनेक प्रकार का नियंत्रण रखते हैं, अनेक नियम-उपनियम बनाते हैं। ऐसा लगता है कि मानो धर्म नियंत्रण के आधार पर चल रहा है। नियंत्रण से परिष्कार नहीं आता। यह परिष्कार या निर्जरा की पद्धति नहीं है। यह तो एक ऐसी पद्धति है कि जिससे रोग दब जाता है, मिटता नहीं।

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति दोषों को बाहर निकालकर स्वास्थ्य प्रदान करती है। दोषों को दबाती नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति पंचकर्म के द्वारा दोषों को समाप्त कर शरीर को स्वस्थ बनाती है।

ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति दोषों को दबाती है। जब दोष दब जाते हैं तब व्यक्ति में स्वस्थ होने का भ्रम पैदा होता है। कालान्तर में वे दोष उभरते हैं और व्यक्ति को दबोच लेते हैं।

नियंत्रण से बुराई को मिटाने की तुलना ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति से की जा सकती है। इसमें बुराई मिटती नहीं, उपशांत होती है। जो उपशांत होती है, वह उभरती है। जो मिट जाती है, उसके उभार का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। मोह कर्म का उपशमन करने वाला वीतराग की स्थिति तक चला जा सकता है। उसका वीतराग व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है। किन्तु उस साधक ने मोह के अणुओं को दबाया है, उपशांत किया है! उसने कषायों का उपशमन किया है। वे आत्मा में दबे पड़े हैं। उनका अस्तित्व बना हुआ है। निमित्त मिलते ही वे उछलते हैं और वीतराग व्यक्ति पुनः अवीतराग बन जाता है नीचे चला जाता है, गिर जाता है। वह लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता।

उपशमन की प्रक्रिया, दबाने की प्रक्रिया, भीतर रहने देने की प्रक्रिया बहुत ही खतरनाक होती है। बहुत सारे अधिकारी लोग प्रतिकूल घटना को दबाने में अधिक विश्वास करते हैं। वे भूल जाते हैं कि दबी हुई घटना भयंकर रूप धारण करती है और उससे अपराध भी भयंकर होता है।

साधक दबाए नहीं, परिष्कार करे, निर्जरा करे। विचार चाहे अच्छा हो या बुरा, उसे दबाए नहीं उसे खुलकर आने दे। साधक केवल मन का कायोत्सर्ग करे, वचन का कायोत्सर्ग करे और शरीर का कायोत्सर्ग करे। साधक जागरूकता से बहुत कुछ देखता रहे। जैसे श्वास और शरीर की प्रेक्षा करते हैं, जैसे चैतन्य-केन्द्रों और कर्म-विपाकों की प्रेक्षा करते हैं, वैसे ही विचारों की प्रेक्षा करें। विचारों को तटस्थभाव से देखते चले जाएं। विचार अपने आप विसर्जित हो जाएंगे। जब तक उनका रेचन नहीं होगा तब तक वे सताते रहेंगे।

प्राणायाम में तीन बातें की जाती हैं—रेचक, पूरक और कुंभक। हमारे व्यक्तित्व में दो बातें प्राप्त होती हैं—रेचक और पूरक, छोड़ना और लेना। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो लेने की बात गौण हो जाती है, क्योंकि हम मानते हैं कि आत्मा पूर्ण है। आत्मा को कुछ भी लेना नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपादेय कुछ भी नहीं है। वहां केवल रेचक की बात प्रधान है। हमारी पूर्णता इसलिए प्रकट नहीं होती कि हम रेचन करना नहीं जानते। हमारे संकल्प, हमारी कामनाएं और भावनाएं, हमारे मनोरथ इसीलिए अधूरे रह जाते हैं कि हम रेचन करना नहीं जानते। हम रेचन करना सीखें।

सामायिक के साथ रेचन की बात आवश्यक अंग के रूप में जुड़ी हुई है। 'तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि'—यह रेचन की प्रक्रिया है।

प्रत्येक साधक रेचन करना सीखें। अच्छे विचार आने पर खुश न हो और बुरे विचार आने पर निराश न हो। जो होता है उसे होने दो। जब नए लोग ध्यान का अभ्यास करते हैं तब बुरे विचार आते ही घबरा जाते हैं। वे कहते हैं—आज बहुत बुरा हुआ। मैं कहता हूं—बहुत अच्छा हुआ कि उतनी गंदगी बाहर निकल गयी। ध्यान का अर्थ है—गहराई में जाना। जब व्यक्ति गहराई में उतरता है तब एक के बाद एक परत उघड़ती है और दबे हुए सारे संस्कार उदित होने लगते हैं। यह ध्यानकाल के प्रारंभ में होता ही है। साधक इससे घबराए नहीं।

दो प्रकार के ज्वर होते हैं—हाडज्वर और सामान्य ज्वर। जब ज्वर हड्डीगत हो जाता है तब लगता है कि कोई ज्वर नहीं है किन्तु वह ज्वर बहुत ही खतरनाक होता है। जिस ज्वर के लक्षण प्रत्यक्ष दीखते हैं उसकी चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु अस्थि-ज्वर ऐसा नहीं है। वह बाहर नहीं दीखता। भीतर ही भीतर चलता है। विचारों का, संस्कारों का भी यही क्रम है। साधक के द्वारा जब उन संस्कारों को कुरेदा जाता है, उखाड़ा जाता है तब वे आक्रमण करते हैं।

जो साधक ध्यान की गहराई में जाता है वह इस बात से न घबराए कि बुरे संस्कार उभर रहे हैं। बुरे विचार आ रहे हैं। यदि वह घबराकर ध्यान छोड़ देता है तो वह पथच्युत हो जाता है। यदि वह उस स्थिति को संभाल लेता है तो आगे बढ़ जाता है। यह एक ऐसा बिन्दु है जहां से व्यक्ति नीचे गढ़े में भी गिर सकता है और छलांग मारकर ऊपर शिखर पर भी पहुंच सकता है।

इसलिए सामायिक की साधना करने वाला व्यक्ति समझ लेता है कि जो अतीत का ऋण या देय है, वह प्रकट होगा, सामने अवश्य ही आएगा, किन्तु मुझे घबराना नहीं है, क्योंकि मैं अपने व्यक्तित्व के नव निर्माण में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा हुआ हूं और पुराने व्यक्तित्व को विसर्जित करने में प्रयत्नशील हूं। मैंने अनेक मान्यताओं और धारणाओं के आधार पर जिस व्यक्तित्व का निर्माण किया था उसे आज छोड़ रहा हूं, उसका रेचन कर रहा हूं। व्यक्तित्व के नव निर्माण के लिए नई ईंटें, नया चूना और नई सामग्री चाहिए। मैंने उसे जुटा ली है। पुराने व्यक्तित्व के विसर्जित हो जाने के कारण अब मैं सामायिक की साधना में निरंतर आगे से आगे बढ़ता जाऊंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २६

संकलिका

शक्ति और समता की धारा एक साथ बहती है तब मानसिक स्वास्थ्य घटित होता है।

समता की साधना के सूत्र ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र हैं—

- अपने-आप को जानें—अपनी क्षमता-अक्षमता को जानें।
- अपने कृत के परिणामों को स्वीकार करें।
- सत्य (सार्वभौम नियमों) के प्रति समर्पित रहें।
- सहिष्णुता को विकसित करें।
- अपना यथार्थ रूप प्रस्तुत करें।

पर्सनेलिटी पेरामीटर

इससे व्यक्तित्व का अङ्कन और मानसिक स्वास्थ्य की परख होती है। इसके छह संकेत-बिन्दु हैं—

१. वेशभूषा—कपड़े कैसे पहनता है? अपने प्रति कितना सजग है?
२. व्यवहार—विभिन्न परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करता है?
३. विचार—अपने बारे में तथा दूसरे के बारे में कितना सामञ्जस्य स्थापित कर पाता है?
४. प्रतिक्रिया—उतार-चढ़ाव या विभिन्न परिस्थितियों की क्या प्रतिक्रिया होती है?
५. स्वभाव कैसा है?—आशा, निराशा, मिलनसारिता।
६. निर्णय-शक्ति—व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों स्तर पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक स्वास्थ्य

क्या हम स्वस्थ हैं ?—यह प्रश्न हम किसी दूसरे से न पूछें, अपने-आप से पूछें। इस प्रश्न का उत्तर किसी दूसरे से पाने का प्रयत्न न करें किन्तु अपने-आप से ही इसका उत्तर पाने का प्रयत्न करें। यदि हमारे जीवन में समता है तो समझना चाहिए कि हम शरीर से भी स्वस्थ हैं और मन से भी स्वस्थ हैं। यदि समता नहीं है तो हम शरीर से भी स्वस्थ नहीं हैं और मन से भी स्वस्थ नहीं है। हम स्वास्थ्य को दो टुकड़ों में तोड़ते हैं। एक है शारीरिक स्वास्थ्य और दूसरा है मानसिक स्वास्थ्य। यदि हम गहरे में उतरकर देखें तो यह विभाजन जरूरी नहीं लगता। मन स्वस्थ है तो समझ लेना चाहिए कि शरीर स्वस्थ है। शरीर स्वस्थ है तो समझ लेना चाहिए कि मन स्वस्थ है। शरीर और मन—दोनों जुड़े हुए हैं। मन शरीर को प्रभावित करता है और शरीर मन को प्रभावित करता है। किन्तु मन का प्रभाव शरीर पर गहरा होता है। यदि मन स्वस्थ है तो शरीर स्वस्थ होगा ही। मन का स्वास्थ्य समता से संबंधित है। यदि मन में समता है तो मानसिक स्वास्थ्य होगा और यदि समता नहीं है तो मन कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। समता की साधना के जो सूत्र हैं, वे ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र हैं।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पहला सूत्र है—अपने-आपको जानो। जो व्यक्ति अपने-आपको नहीं जानता, वह मनसा स्वस्थ नहीं होता। मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपने-आपको जानना बहुत जरूरी है। जो अपनी क्षमता को नहीं जानता, अपनी अक्षमता को नहीं जानता, वह व्यक्ति मन से स्वस्थ कैसे हो सकता है ? हमारे में योग्यता है, क्षमता है, किन्तु हमने कभी अपने-आपको जानने का प्रयत्न नहीं किया। व्यक्ति सक्षम होते हुए भी अक्षम अनुभव करता है। मन अनुताप से भर जाता है। अपने प्रति अभद्र व्यवहार देखकर व्यक्ति भभक उठता है, मन में असंतोष उभर आता है क्योंकि वह अपनी अक्षमता को नहीं जानता। जब वह अपनी अक्षमता को नहीं जानता तब वह दूसरों को ही देखता है, स्वयं को नहीं देख पाता। पिता के दो पुत्र हैं। पिता एक पुत्र को दायित्व सौंप देता है तब दूसरे के मन में असंतोष की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्वाला उभर आती है। यह इसलिए उभरती है कि वह यह नहीं जानता कि वह इस दायित्व के लिए अक्षम है। जो व्यक्ति अपने-आप को नहीं जानता वह अपने मन में सदा जलने वाली आग सुलगा देता है और उसमें सदा जलता रहता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए स्वयं की योग्यता और अयोग्यता का निरीक्षण बहुत आवश्यक है।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का दूसरा सूत्र है—परिणामों की स्वीकृति। हम प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु उसके परिणामों को स्वीकार नहीं करते और इसीलिए मन में असंतोष और अशांति पैदा होती है। कृत के परिणामों से जहां अपने-आप को बचाने की मनोवृत्ति होती है, वहां मानसिक स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है। रोग का एक कीटाणु उसमें घुस जाता है। परिणाम को स्वीकार करने के लिए मन बहुत शक्तिशाली चाहिए। जो मन शक्तिहीन होता है वह कभी परिणामों को स्वीकार नहीं कर सकता। हमें अच्छे या बुरे—सभी प्रकार के परिणामों को स्वीकारना चाहिए। इसमें कभी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। जिस व्यक्ति में परिणामों को स्वीकार करने का साहस नहीं होता, भय होता है वह परिणामों को दूसरे के माथे पर मढ़ देता है। स्वयं बच निकलना चाहता है। यदि परिणाम अच्छा है तो उसका श्रेय स्वयं लेना चाहेगा और यदि बुरा परिणाम है तो उसका अश्रेय दूसरे पर उंड़ेल देगा। यह साहसहीनता है। इससे मन मलिन होता है, बीमार होता है।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का तीसरा सूत्र है—सत्य के प्रति समर्पण। सत्य की व्याख्या बहुत ही जटिल है। किसे सत्य माना जाए? हमें इसमें उलझना नहीं है। सत्य का अर्थ है—सार्वभौम नियम (युनिवर्सल ट्रुथ) मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, यह एक बड़ी सचाई है। कोई भी इसे नहीं टाल सकता। इस दुनिया में तीर्थंकर भगवान्, अर्हत्, मसीहा आदि-आदि अनेक शक्तिशाली व्यक्ति हुए हैं जो इस शाश्वत नियम को नहीं टाल पाए हैं। कोई भी इस सार्वभौम नियम का अपवाद नहीं बन सकता। कोई अमर नहीं रह सकता। कोई भी प्राणी सदेह अमर नहीं होता। विदेह में जो अमर होता है वह हमारे सामने नहीं है। मृत्यु एक सचाई है। कर्म एक सचाई है। काल एक सचाई है। वस्तु स्वभाव एक सचाई हैं। जो भी सार्वभौम सचाइयां हैं, व्यापक सत्य हैं, उनके प्रति जो समर्पित रहता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकता है।

एक व्यक्ति के पास एक घड़ी थी। वह गुम हो गयी। व्यक्ति रोने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा। उसका विलाप कई दिनों तक चलता रहा। उसके मुंह पर उदासी छा गई। जो अरबपति हैं, करोड़पति हैं, उनके जेब से भी यदि सौ रुपये गुम हो जाते हैं, तो उसका सारा दिन उदासी में बीतता है। इसका मतलब है कि वे सचाई के प्रति समर्पित नहीं हैं। वे इस सचाई को नहीं जानते कि जहां संयोग होता है वहां वियोग निश्चित है। हम इस सचाई के प्रति समर्पित हों—'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' संयोग विप्रयोग से जुड़े रहते हैं। जिस क्षण में संयोग होता है वहीं से वियोग का सिलसिला भी चालू हो जाता है। जन्म के साथ ही मृत्यु का क्षण भी प्रारंभ हो जाता है। जन्म का अंतिम परिणाम है मृत्यु। जन्म हो और मृत्यु न हो यह कभी संभव नहीं है। जो इस सचाई के प्रति समर्पित नहीं होते वे असंतुलित और विकृत हो जाते हैं। उनका मन अस्वस्थ हो जाता है। मानसिक रोग आक्रान्त कर लेता है। जो मृत्यु की सचाई को जानते हैं वे किसी के मर जाने पर अपना संतुलन नहीं खोते। कुछ दुःख होता है, किन्तु वह भी स्थायी नहीं रहता, क्षणिक होता है। जिन्होंने इस शाश्वत सत्य के प्रति समर्पण नहीं किया वे मृत्यु की घटना से विचलित हो जाते हैं और अपने मन को रोगी बना देते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का चौथा सूत्र है—सहिष्णुता का विकास। सहिष्णुता को विकसित किए बिना कोई व्यक्ति संतुलित जीवन नहीं जी सकता। जो व्यक्ति सहिष्णु नहीं होता वह अपने मन को सदा दुःख में डाले रहता है। कांच का बर्तन कब फूट जाए कहा नहीं जा सकता। असहिष्णु व्यक्ति का मन कब टूट जाए कहा नहीं जा सकता। सदा आशंका बनी की बनी रहती है। थोड़ी-सी कोई स्थिति आती है और तत्काल मन बेचैन हो उठता है। व्यक्ति ध्यान करने बैठता है। गर्मी के दिन हैं। पंखा अचानक बंद हो जाता है। अब मन ध्यान से हट कर पंखे में उलझ जाता है। मन तड़पने लगता है। मन इतना आकुल-व्याकुल हो जाता है कि बेचारा ध्यान कहीं अटक जाता है।

यह क्यों होता है? यह इसीलिए होता है कि व्यक्ति ने सहिष्णुता का मूल्यांकन नहीं किया। हजारों पदार्थों के उपलब्ध होने या न होने पर भी सहिष्णुता अपना मूल्य नहीं खोती। जीवन की सारी सुख-सुविधाएं उपलब्ध हों, किन्तु वे शाश्वत नहीं हैं। यह सार्वभौम नियम है कि वे प्राप्त होती हैं और दूर हो जाती हैं। जिस क्षण में वे छूटती हैं उस क्षण में क्या बीतती है, यह वही व्यक्ति जान सकता है, जिसने सहिष्णुता को नहीं समझा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जिसने सहिष्णुता को साध लिया है उसके लिए सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुविधा-असुविधा कोई अर्थवान् नहीं होते। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों ने अपने मन का और अपने शरीर का ऐसा निर्माण कर डाला है कि वह हर स्थिति को झेलने में समर्थ और सक्षम होता है। जब हर स्थिति को झेलने का सामर्थ्य नहीं होता तब अनेक समस्याएं उठती हैं, व्यक्ति घबरा जाता है। जो व्यक्ति कठिनाइयों में पला-पुसा, फिर कुछ सुविधाएं उपलब्ध हुईं आराम में जीने लगा, फिर कठिनाइयां आ गयीं तो ऐसा व्यक्ति उन कठिनाइयों को झेल सकता है। वह विचलित नहीं होता। जिस व्यक्ति ने आग को झेला है, वह हर आंच में से गुजरने में सफल हो जाता है। किन्तु जो व्यक्ति आराम में रहा है, जिसने कभी दुःख-दुविधाओं को नहीं देखा, वह व्यक्ति आकस्मिक कठिनाइयों में टूट जाता है। वह उनको सहन नहीं कर सकता। इसलिए विपदाओं को झेलने का अभ्यास करना चाहिए।

लोग संकल्प करते हैं, पर अपने संकल्प पर टिक नहीं पाते। इसके तीन कारण हैं—

१. चित्त की चपलता।
२. असहिष्णुता।
३. इन्द्रियों की उच्छृंखलता।

'अत्यक्तचित्त चापल्याः, अजितोग्रपरीषहाः।
अनिरुद्धाक्षसन्तानाः, प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये॥'

"संकल्प करते समय कष्टों की धारणा नहीं होती, किन्तु वे आते हैं तब जिनमें तितिक्षा का अभ्यास नहीं होता उनका जीवन ही नष्ट हो जाता है।"

जीवन में सहिष्णुता का विकास अत्यन्त आवश्यक है। तितिक्षा का इतना विकास होना चाहिए कि व्यक्ति आने वाली प्रत्येक परिस्थिति को झेल सके और उसके साथ सामजस्य स्थापित कर सके। ऐसी स्थिति में विश्व की कोई शक्ति मन को विचलित नहीं कर सकती। जिस व्यक्ति ने सहिष्णुता का अभ्यास कर लिया, सहिष्णुता साध ली, उस व्यक्ति के मन को भगवान् भी असंतुष्ट नहीं कर सकता। जिसने सहिष्णुता का अभ्यास नहीं किया उस व्यक्ति के मन को भगवान् भी स्वस्थ नहीं बना सकता। सब-कुछ मिल जाने पर भी वह यही कहेगा—अमुक वस्तु नहीं मिली। उसका असंतोष उभर-उभरकर बाहर आता रहेगा। सहिष्णुता का विकास होने पर असंतोष मिट जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पांचवां सूत्र है—अपने-आपको यथार्थरूप में प्रस्तुत करना। समाज के सन्दर्भ में व्यक्ति अपने-आपको यथार्थ-रूप में प्रस्तुत करना नहीं चाहता। वह अपने-आपको बड़े के रूप में प्रस्तुत करता है जिससे कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़े और वैवाहिक संबंध सुविधापूर्वक हो सके। किन्तु जब यथार्थ सामने आता है तब बहुत कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। तब मन-मुटाव होता है, लड़ाइयां होती हैं, मानसिक अशांति होती है और वह वर्षों तक बनी रहती है। सुना है, एक व्यक्ति अपनी लड़की के लिए दूसरे गांव में लड़का देखने गया। वहां पहले से ही षड्यंत्र रचा रखा था। एक कमरे से रुपयों के टनकार की आवाज आ रही थी। वह टनकार क्षण भर के लिए भी बन्द नहीं हो रही थी। लड़की वालों ने सोचा, कितना धन है इनके पास? कितने समय से ये रुपये गिन रहे हैं? बहुत संपन्न लगते हैं। विवाह की बात तय हो गयी। ठीक समय पर विवाह हो गया। फिर वास्तविकता का पता चला। दोनों परिवार वाले एक-दूसरे से कट गए। संबंधों में दरारें पड़ गयीं।

सामजिक सन्दर्भ में अपने-आपको अयथार्थरूप में प्रस्तुत करना अपने-आपको धोखा देना है दूसरे को धोखा देना है। इससे न जाने कितनी कठि-नाइयां और समस्याएं पैदा हो जाती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के हर क्षेत्र में यथार्थ को छिपाता है और अयथार्थ को प्रस्तुत करता है। यह द्वैध है। जो सुन्दर नहीं है, वह अपने को सुन्दर दिखाने का भरपूर प्रयत्न करता है। वह सभी उपाय काम में लाता है। जितनी भी प्रसाधन की सामग्री है वह उपयोग करता है। पर वास्त-विकता जब खुलती है तब नग्न सत्य सामने आता है। सामने वाला व्यक्ति भी असंतुष्ट होता है और स्वयं भी असंतुष्ट होता है।

एक व्यक्ति था। वह अनेक बार संपर्क में आता। वह सदा यही कहता—"मैंने जीवन में एक व्रत ले रखा है कि मैं जैसा हूं वैसा ही दीखूं, वैसा ही अपने-आपको प्रस्तुत करूं। ऐसा न हो कि मैं हूं तो और कुछ और प्रस्तुत कुछ और ही करूं अपने व्यक्तित्व पर ऐसा परदा डाल दूं कि देखने वाले को वह और किसी रूप में दीखे। यह धोखा है।" जो व्यक्ति सामा-जिक संदर्भों में अपने-आपको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है वह मानसिक दृष्टि से बहुत स्वस्थ और शक्तिशाली होता है। अयथार्थ रूप में वही व्यक्ति अपने को प्रस्तुत करता है जो मन से दुर्बल होता है। ऐसा व्यक्ति अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कमजोरी का लाभ उठाना चाहता है।

मानसिक स्वास्थ्य के ये कुछेक सूत्र हैं। ये ही समता के सूत्र हैं। जिस व्यक्ति के मन में समता प्रतिष्ठित है वह कभी अपने को अयथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं करेगा। जिस व्यक्ति के मन में सहिष्णुता का विकास है वह समता को साध सकेगा। जिसके मन में सहिष्णुता नहीं है, वह समता नहीं साध सकता। वह बालू क्या समता साध पाएगी जो थोड़ी-सी गर्मी में गर्म हो जाती है और ठंड में ठंडी हो जाती है? प्रश्न है कि क्या बालू गर्म है? क्या बालू ठंडी है? उत्तर कुछ भी नहीं दिया जा सकेगा। वह सर्दी के दिनों में ठंडी और गर्मी के दिनों में गर्म होती है। दिन में बालू गर्म होती है और रात में ठंडी। इसका अपना कुछ नहीं है। वैसे ही हवा भी न ठंडी होती है और न गर्म। सर्दी के दिनों में वह ठंडी और गर्मी के दिनों में गर्म हो जाती है। हवा अपने-आप में ठंडी भी नहीं है और अपने-आप में गर्म भी नहीं है।

जिस व्यक्ति का मन मूढ़ता से आप्लावित नहीं है जिस व्यक्ति का मन समता में प्रतिष्टित है, वह न ठंडा है और न गर्म, वह न राजी है और न नाराज। कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जिसका मन मूढ़ होता है वह पहले क्षण में राजी होता है और दूसरे ही क्षण में नाराज हो जाता है। मन के अनुकूल होता है तो वह राजी होता है और प्रतिकूल होने पर तत्काल नाराज हो जाता है। वह मदारी के हाथ का बंदर बन जाता है। जब चाहो तब नचा लो, जैसा चाहो वैसा नचा लो। समता के आने पर यह सब छूट जाता है। नाराजगी और राजीपन का चक्र टूट जाता है।

मन की अनन्त पर्यायें हैं। वह प्रतिपल बदलता रहता है। मन के आधार पर किसी एक निश्चित सिद्धांत की स्थापना नहीं की जा सकती। किसी भी, एक निश्चय की अनुभूति नहीं की जा सकती। मन अनेक रूप बदलता है। इसको एक निश्चय पर ले जाने का एक ही मार्ग है, वह मार्ग है—सहिष्णुता का। सहिष्णुता और समता का पारस्परिक अनुबंध है। सहिष्णुता से समता का विकास होता है। मन अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों स्थितियों को समभाव से सह सके, यह है उसको एक निश्चय पर ले जाना।

जब व्यक्ति सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है तब समता की साधना विकसित होती है। जो व्यक्ति सत्य के प्रति समर्पित नहीं होता वह सामायिक नहीं कर सकता, समता की साधना नहीं कर सकता। समता और मानसिक स्वास्थ्य अलग-अलग नहीं हैं। समता का ही एक नाम है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वास्थ्य। दोनों पर्यायवाची हैं। आयुर्वेद में शरीर के स्वास्थ्य को ही स्वास्थ्य नहीं माना है, मन के स्वास्थ्य को भी स्वास्थ्य माना है। एक प्रश्न आया कि स्वस्थ कौन है? इसके उत्तर में कहा गया—

'समाग्निः समदोषश्च, समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते॥'

—जिस व्यक्ति के शरीर की धातुएं सम हैं, विषम नहीं हैं, अग्नि सम है, विषम नहीं है, दोष और मल की क्रिया भी सम है, वह स्वास्थ्य के ये लक्षण हैं। जिसकी इंद्रिया उच्छृंखल नहीं हैं, जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण है, जो प्रसन्न आत्मा है वह स्वस्थ्य है जिसकी शरीर की धातुएं और मल-दोष सम हैं किन्तु मन की प्रसन्नता नहीं है, निर्मलता नहीं है तो वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है वह स्वस्थ नहीं हो सकता। स्वस्थ रहने के लिए शरीर की क्रियाओं का ठीक होना और मन की प्रसन्नता होना—दोनों आवश्यक हैं। मन की प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नहीं है। जहां हर्ष है वहां शोक है। जहां शोक है वहां हर्ष है। केवल हर्ष या केवल शोक नहीं होता। यह एक जोड़ा है, द्वन्द्व है। मन की निर्मलता इससे भिन्न वस्तु है। 'निर्मलं गगनं'—आकाश निर्मल है। इसका अर्थ है कि आकाश बादलों से रहित है, निर्मल है। जो आकाश बादलों से व्याप्त है, रेत और धूल से व्याप्त है, वह निर्मल नहीं होता। जो इन सबसे शून्य है वह निर्मल होता है। जिसमें हर्ष और शोक—दोनों नहीं हैं वह है मन की निर्मल अवस्था, मन की प्रसन्न अवस्था। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य को नहीं तोड़ा जा सकता। मानसिक स्वास्थ्य और समता को भी नहीं तोड़ा जा सकता। अपने-आप से प्रश्न पूछें और अपने-आप समाधान प्राप्त कर लें।

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के परीक्षण की कसौटियां भी दी हैं। 'पर्सनेलिटी पेरामीटर' की पद्धति से व्यक्तित्व को अंकित करने और मानसिक स्वास्थ्य को जांचने के सूत्र दिए हैं, कुछ बिन्दु प्रस्तुत किए हैं। पहला पेरामीटर है—वेश-भूषा। व्यक्ति कैसे कपड़े पहनता है। वह अपने प्रति कितना सजग है। वह कपड़ों को किस चतुराई से धारण करता है। कपड़े पहनने की विधि से मन की प्रसन्नता नापी जा सकती है।

दूसरा पेरामीटर है—व्यवहार। व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करता है? कभी संतुलित व्यवहार और कभी असंतुलित व्यवहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले का मन स्वस्थ नहीं होता। जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो उसके प्रति सामने वाला कितना ही दुर्व्यवहार क्यों न करे, वह अपना संतुलन नहीं खोएगा। वह अच्छा व्यवहार ही करेगा। वह अपने अच्छे व्यवहार के द्वारा सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार को बदलेगा या उसे यह सोचने के लिए बाध्य करेगा कि यह व्यक्ति सचमुच ही विनम्र और सद्व्यवहार करने वाला है।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन आध्यात्मिक व्यक्ति थे। साधारण से साधारण व्यक्ति भी उनके सामने आता, टोपी उतारकर प्रणाम करता तो स्वयं राष्ट्रपति भी अपना हैट उतारकर उसके अभिवादन को स्वीकार करते। राष्ट्रपति के मित्रों ने यह देखकर कहा—"आप राष्ट्रपति हैं। आपको सामान्य व्यक्ति के आगे हैट नहीं उतरना चाहिए। एक सामान्य नागरिक आपका अभिवादन करता है तो वह उसका कर्त्तव्य है, उसे करना ही चाहिए। पर आप राष्ट्रपति हैं, आपको अपने स्थान की गरिमा रखनी है।" राष्ट्रपति बोले—"अमेरिका का राष्ट्रपति विनम्रता और व्यवहार में किसी से छोटा पड़ना नहीं चाहता। अमेरिका का नागरिक सद्व्यवहार करे और अमेरिका का राष्ट्रपति तुच्छ व्यवहार करे यह कैसे हो सकता है? राष्ट्रपति का जो पद है, दायित्व है, उसकी जो गरिमा है, उसको देखते हुए यह आवश्यक है कि वह अपने विनम्र व्यवहार को न छोड़े।"

मानसिक स्वास्थ्य की एक कसौटी है। जो व्यक्ति मन से स्वस्थ होता है वह अच्छा व्यवहार करने वाले के प्रति अच्छा व्यवहार करता है और उस व्यक्ति के प्रति भी अच्छा व्यवहार करता है जो प्रतिकूल व्यवहार करता है। अच्छे के प्रति अच्छा और बुरे के प्रति भी अच्छा। वह ऐसा इसलिए करता है कि यदि सामने वाला व्यक्ति मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ है तो क्या वह भी अस्वस्थ हो जाए? वमन करने वाले को देखकर क्या स्वयं भी वमन करने लग जाए? मन की स्वस्थता रखने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। प्रतिकूल व्यवहार वही व्यक्ति करता है जो मन से दुर्बल है, मन से अस्वस्थ है। जिन व्यक्तियों ने इन सूत्रों का विकास किया कि 'शठे शाठ्यं समचरेत्,' 'ईंट का जवाब पत्थर से'—वे व्यक्ति वास्तव में ही मन से रोगी थे। यदि वे स्वस्थ होते तो इस प्रकार के सूत्रों का प्रतिपादन नहीं होता। आवश्यकता यह है कि सामने वाला व्यक्ति यदि मन से दुर्बल है, अस्वस्थ है तो तुम अपने मानसिक स्वास्थ्य का परिचय दो और उसे यह समझने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर दो कि तुम मन से रुग्ण नहीं हो, मन से स्वस्थ हो।

मानसिक स्वास्थ्य का तीसरा पेरामीटर है—विचार। मानसिक अशांति का बहुत बड़ा कारण यह कि व्यक्ति विचार करना नहीं जानता। आदमी सोचने कुछ बैठता है और सोच कुछ और लेता है। आदमी जानता ही नहीं कि कैसे सोचना चाहिए, कैसे चिन्तन करना चाहिए? मनुष्य का सारा जीवन विचार के द्वारा संचालित होता है। जीवन का सारा कार्य-कलाप विचार के द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु वह नहीं जानता कि कैसे सोचना चाहिए, कैसे चिन्तन करना चाहिए? सोचते समय मनुष्य के सामने अनेक तर्क प्रस्तुत होते हैं और वह अपने सोचने के मार्ग से भटक जाता है। विचार के द्वारा व्यक्ति को परखा जा सकता है। व्यक्ति के विचारों का विश्लेषण करो और तुम यह जान जाओगे कि वह कैसा है। विचार के द्वारा ही व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को जाना जा सकता है। जब मन स्वस्थ होता है, तब व्यक्ति की उपज भी स्वस्थ होती है। वह सही बात को सही ढंग से सोचता है।

स्वस्थ चिन्तन कैसे होता है, इसे हम समझें। आचार्य भिक्षु जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। संयोगवश कोई साधु पास में नहीं था। वे अकेले ही थे। उस मार्ग से एक काफिला निकला। कुछ लोग पास में आए। उन्होंने वंदना कर पूछा—"महाराज आप कौन हैं? आपका नाम क्या है।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"मैं मुनि हूं। मेरा नाम है भीखन।" लोग एक साथ बोल पड़े—"अरे, भीखनजी! हमने आपकी बहुत प्रशंसा सुनी है। गांव-गांव में आपकी महिमा के गीत गाए जा रहे हैं। हमारे मन में तो आपकी तस्वीर ही दूसरी थी। हमने सोचा था—कितने बड़े संत होंगे। उनके साथ संतों की बड़ी टोली होगी। उनके पास हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर आदि होंगे। बड़ा ठाट-बाट होगा। परन्तु आप तो अकेले ही हैं। जमीन पर बैठे हैं। न नौकर, न चाकर, न घोड़ा, न हाथी। सामान्य व्यक्ति की भांति आप बैठे हैं।"

आचार्य भिक्षु के मन पर इस चिन्तन का कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि उनका चिन्तन स्वस्थ था। यदि चिन्तन अस्वस्थ होता तो मन-ही-मन दुःखी हो जाते और यह सोचते कि लोगों के मन में मेरी तस्वीर कुछ और है और मैं कुछ और हूं। यदि जमीन फट जाए तो मैं उसमें समा जाऊं।

आचार्य भिक्षु ने सोचा—'यदि मेरे पास इतना ठाट-बाट, हाथी-घोड़े होते तो भीखन की इतनी महिमा नहीं होती। मैं अकेला हूं इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सारी महिमा होती है। जो व्यक्ति अपने में अकेला होता है और अपने अकेलेपन का अनुभव करता है वह स्वयं अपनी महिमा का अनुभव करता है और दूसरे भी उसकी महिमा का अनुभव करते हैं।'

यह था आचार्य भिक्षु का स्वस्थ चिन्तन। चिन्तन से व्यक्ति को परखा जा सकता है, व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का परीक्षण किया जा सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य का चौथा पेरामीटर है—प्रतिक्रिया। विभिन्न परिस्थितियों में होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वारा समझा जा सकता है कि व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। कोई व्यक्ति कटु बात कहता है तो उसका उत्तर कटु बात से ही दिया जाए यह जरूरी नहीं है। किन्तु जब ये प्रतिक्रियाएं प्रगट होती हैं जब यह जान लिया जाता है कि व्यक्ति मन से कितना रुग्ण है। पिता यदि मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है तो पुत्र के क्रोधित होने पर भी वह विचलित नहीं होगा। वह कहेगा—"बेटा ! कोई बात नहीं है। धैर्य रखो। शांत होकर इस बात को सोचो।" लोग सोचते हैं—"बेटा गुस्से में है और बाप यदि उससे दुगुना गुस्सा न करे तो वह कैसा बाप !" ऐसा सोचना मानसिक अस्वास्थ्य का लक्षण है। बेटे ने गुस्से में कहा—"पिताजी ! आज से मैं आपसे अलग होता हूं। मैं आपके साथ भोजन नहीं करूंगा।" स्वस्थ मन वाले पिता ने कहा—"कोई बात नहीं। तुम मेरे साथ भोजन मत करना। मैं तुम्हारे साथ भोजन कर लिया करूंगा। इतने दिन तुम मेरे साथ थे, आज से मैं तुम्हारे साथ रहूंगा।" यह सुनते ही बेटे का क्रोध उतर जाता है और संघर्ष टल जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य को मापने का पांचवां पेरामीटर है—स्वभाव। आदमी का स्वभाव कैसा है ? आदमी आलसी है या कर्मठ ? आशावादी है या निराशावादी ? कुछ लोग ऐसे होते हैं जो आशा में भी निराशा ढूंढ़ निकालते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निराशा में भी आशा ढूंढ़ निकालते हैं। आशावादी व्यक्ति नीरस वातावरण में भी आशा और उत्साह भर देता है। आप यह न मानें कि जो व्यक्ति हमेशा आशा और उत्साह की बात करते हैं वे अयथार्थ की बात करते हैं। वह जीवन का यथार्थ है, जीवन का पलायन नहीं है। वे इस सचाई में एक तथ्य यह जोड़ देना चाहते हैं जिससे कि वह सचाई वास्तविक सचाई या क्रियान्विति की सचाई बन जाए। निराशा में आशा देखने वाले व्यक्ति ऐसे होते हैं।

एक घटना है। आचार्य भिक्षु के समय में वेणीरामजी नाम के एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि थे। एक बार वे भिक्षा में दो दालें मिश्रित कर ले आए। एक दाल थी उड़द की और एक दाल थी मूंग की। आचार्य भिक्षु ने कहा—"यह क्या किया? दो दालें क्यों मिला लाए?" वेणीरामजी ने कहा—"दोनों दाल हैं। मिलाने में अपत्ति ही क्या है? दाल-दाल एक ही होती है।" भिक्षु बोले—"माना कि दोनों दालें हैं। किन्तु रुग्ण मुनि के लिए यह मिश्रित दाल अभोज्य है। उसे केवल मूंग की दाल ही दी जा सकती है।" वेणीरामजी ने आवेश में आकर कहा—"जो हो गया सो हो गया।" आचार्य भिक्षु ने उपालंभ दिया। वेणीरामजी जाकर सो गए। सब भोजन करने बैठे। आचार्य भिक्षु ने कहा—"वेणीराम नहीं आया?" संतों ने कहा—"वे सो रहे हैं।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"वेणीराम! दोष मेरे देख रहा है या अपने?" यह सुनते ही वेणीरामजी आए और आचार्य भिक्षु के चरणों में पड़कर क्षमायाचना करने लगे।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आशा में निराशा जगा देते हैं और कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो निराशा में भी आशा के दीप जला देते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य को नापने का छठा पेरामीटर है—निर्णय की शक्ति। व्यक्ति ठीक निर्णय लेता है या नहीं लेता? व्यक्ति तत्काल निर्णय लेता है या नहीं लेता? चिंतन तो चलता है और निर्णय कुछ भी नहीं लिया जाता—इन सबके आधार पर मन के स्वास्थ्य का पता लगाया जा सकता है।

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के परीक्षण के ये कुछ पेरामीटर, छह बिन्दु सुझाए हैं। हमने आध्यात्मिक दृष्टि से समता के बिन्दुओं पर विचार किया और मनोविज्ञान की दृष्टि से मानसिक स्वास्थ्य के बिन्दुओं पर विचार किया। इसका निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति संतुलित जीवन जीता है, समता का जीवन जीता है, सहिष्णुता का जीवन जीता है, मन को आवेशों और दुश्चिंताओं की भट्टी में नहीं झोंकता, वह व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। समता का बहुत बड़ा परिणाम है मानसिक स्वास्थ्य। जिस व्यक्ति ने समता का मूल्यांकन नहीं किया, उसने अपने मानसिक स्वास्थ्य को कभी भी संजोकर रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो व्यक्ति समता का अनुभव करता है, संतुलन का अनुभव करता है, वह व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को एक बहुत बड़ी धरोहर मानकर उसकी सुरक्षा करता है। समता का होना मानसिक स्वास्थ्य का होना है और मानसिक स्वास्थ्य का होना समता का होना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २७

संकलिका

- प्रेक्षा के अभ्यास से—
  - शरीर की सक्रियता बढ़ती है।
  - चैतन्य-केन्द्र सक्रिय होते हैं।
  - द्रष्टाभाव का विकास होता है।
  - पदार्थ से निकट का सम्बन्ध स्थापित होता है और उसके आन्तरिक स्वरूप को जानने-समझने का अवसर मिलता है।
- अनुप्रेक्षा के अभ्यास से—
  - यथार्थ की अनुभूति होती है।
  - सामाजिक सम्पर्कों से पनपने वाली मूर्च्छा को तोड़ने और मलों की सफाई का अवसर मिलता है।
  - मन की निर्मलता का विकास होता है।
- एकाग्रता के अभ्यास से—
  - मन की शक्ति का विकास होता है।
- लेश्या-ध्यान के अभ्यास से—
  - निर्मल भावों का निर्माण होता है।
- दर्शन-मूलक दर्शन—आत्म-परिष्कार, समन्वय, मैत्री।
- तर्क-मूलक दर्शन—विवाद, संघर्ष, जय, पराजय।
- सूक्ष्म-सत्य और स्थूल-सत्य को जानने के साधन—सूक्ष्म और स्थूल।
- आज के दार्शनिक के पास केवल तर्क, जो पहुंचता नहीं किन्तु उलझाता है।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेक्षा-ध्यान और मानसिक प्रशिक्षण

प्रेक्षा-ध्यान की साधना के द्वारा दर्शन का नया अध्याय खुल रहा है। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं इसलिए उसकी विशेषताओं के साथ-साथ उसकी कमियां भी जानता हूं। दर्शन के प्रति मन में एक सम्मान का भाव है तो साथ-साथ उसके प्रति मन में अल्पता का भी भाव है और वह इसलिए है कि आज दर्शन की भूमिका कहां से कहां तक पहुंच गई। जो दर्शन, दर्शन-मूलक था, आज वह केवल तर्क-मूलक रह गया है। दर्शन का अर्थ है—देखना, साक्षात् करना। देखने की जो पद्धति है, साक्षात्कार की जो पद्धति है, उसका नाम है दर्शन। आज देखने की बात छूट गयी, साक्षात् करने की बात लुप्त हो गई। आज केवल तार्किक नियमों के आधार पर दर्शन का समूचा प्रासाद खड़ा हुआ है। आज केवल तर्क है, अनुभूति नहीं। सब कुछ उधार ही उधार। अपना कुछ भी नहीं, स्व-अनुभव कुछ भी नहीं, केवल पर-अनुभव। प्रत्यक्षानुभूति कुछ भी नहीं, केवल परोक्षानुभूति। इसीलिए मध्ययुगीन दर्शन का विकास केवल अनुमान के आधार पर हुआ। जब प्रत्यक्ष का अनुभव नहीं हुआ तब अनुमान की शरण में जाना पड़ा और अनुमान के सहारे सत्य की खोज का दावा करना पड़ा। किन्तु क्या परोक्ष के आधार पर, व्याप्ति के आधार पर सत्य को खोजा जा सकता है? क्या इनके आधार पर सत्य उपलब्ध हो सकता है? क्या सूक्ष्म सत्य को तर्क के द्वारा जाना जा सकता है? कभी नहीं। यह संभव ही नहीं है। प्राचीन दार्शनिक सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म चेतना के द्वारा खोजते थे। जब तक चेतना को सूक्ष्म नहीं किया जाता तब तक सूक्ष्म सत्य नहीं खोजा जा सकता। स्थूल चेतना से स्थूल सत्य ही पकड़ा जा सकता है। सूक्ष्म चेतना में दोनों शक्तियां होती हैं। वह सूक्ष्म सत्य को भी पकड़ सकती हैं और स्थूल सत्य को भी पकड़ सकती हैं। किन्तु स्थूल चेतना में सूक्ष्म सत्य को पकड़ने की शक्ति नहीं होती। आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म सत्यों को खोजने में बहुत सफल हुआ है। इसका कारण है सूक्ष्म यन्त्रों का निर्माण। आज सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा सूक्ष्म सत्य खोजे गए हैं। स्थूल यंत्रों के द्वारा सूक्ष्म सत्य नहीं खोजे जा सकते। परमाणु को देखा गया। अणु को तोड़ा गया। यह सब सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा ही हो सका है। तलवार कितनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही पैनी क्यों न हो, वह परमाणु को नहीं तोड़ सकती, नहीं काट सकती। चश्मा कितने ही नम्बर का क्यों न हो, उससे परमाणु नहीं देखा जा सकता। ये सब स्थूल उपकरण हैं। इनसे सूक्ष्म सत्य नहीं पकड़ा जा सकता। समूचे वैज्ञानिक जगत् की सफलता का आधार है—सूक्ष्म यन्त्रों का निर्माण। इसे दर्शन की भाषा में अतीन्द्रिय यन्त्रों का निर्माण भी कहा जा सकता है। जो बातें इन्द्रियों द्वारा नहीं जानी जातीं, वे इन यन्त्रों के द्वारा जानी जा सकती हैं। हम क्यों न मानें कि ये अतीन्द्रिय यंत्र हैं। अतीन्द्रिय यन्त्र का अर्थ है—इन्द्रियों से परे काम करने वाले यन्त्र। इन्द्रिय-चेतना के द्वारा जिन सूक्ष्म सत्यों का ग्रहण नहीं होता वे इन अतीन्द्रिय उपकरणों के सहयोग से गृहीत हो जाते हैं।

अतीन्द्रिय का अर्थ परम सत्य की उपलब्धि नहीं होता। अतीन्द्रिय-चेतना का अर्थ परम सत्य की उपलब्धि की चेतना ही नहीं होता। अतीन्द्रिय-चेतना परम सत्य की उपलब्धि कराने वाली ही होती है। किन्तु अतीन्द्रिय-चेतना प्रारंभिक-चेतना भी होती है। हिमालय केवल शिखर ही नहीं होता। तलहटी भी हिमालय होता है। अतीन्द्रिय-चेतना केवल शिखर ही नहीं होती वह तलहटी भी होती है। अतीन्द्रिय-चेतना का प्रारंभिक रूप यह है जो इन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना जाता वह अतीन्द्रिय के द्वारा जान लिया जाता है।

आज की स्थिति से मुझे आश्चर्य भी होता है और खेद भी होता है। आश्चर्य इसलिए होता है कि आज का दार्शनिक दोनों से वंचित हो गया। न वह पूरा दार्शनिक ही रहा और न वह पूरा वैज्ञानिक ही रहा। न उसके पास प्राचीन दार्शनिकों की चेतना के जागरण की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सूक्ष्म चेतना का जागरण कर सूक्ष्म सत्यों को देख सके और न उसके पास सूक्ष्मतम वैज्ञानिक उपकरण हैं, जिनके द्वारा वह सूक्ष्म सत्यों को देख सके। वह दोनों से वंचित है। अब उनके लिए केवल तर्क ही शेष रहा है। वह एक का समर्थन करे और दूसरे का असमर्थन। हम यह कह सकते हैं कि आज का दार्शनिक एक वकील बन गया है। उसे दार्शनिक कहने की अपेक्षा एक वकील कहना चाहिए। वकील को किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती। उसे केवल कानून की पुस्तकें पढ़ना पर्याप्त होता है। वह उन पुस्तकों के आधार पर अपनी तार्किक मेधा के द्वारा काट-छांट करता रहे। सूक्ष्म ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान को विकसित करने की कोई अपेक्षा नहीं है। आज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का दार्शनिक इस दृष्टि से, कोरा वकील या तार्किक बन गया है।

आज दर्शन की विचित्र स्थिति है। आज विद्याओं की अनेक शाखाओं में दर्शन की दयनीय स्थिति है। जहां विज्ञान की शाखा में सैकड़ों विद्यार्थी मिल जाते है, वहां दर्शन के विद्यार्थी पांच-दस ही मिल पाते हैं।

प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया दर्शन के पुनर्जागरण की प्रक्रिया है। यह दर्शन की प्रक्रिया है, देखने की प्रक्रिया है। पुराने जमाने के दार्शनिक ऋषि कहलाते थे। ऋषि का अर्थ है—द्रष्टा, देखने वाला। 'दर्शनात् ऋषिः।' जो देखने वाला होता है वह ऋषि कहलाता है। एक समय आया जब देखने वाले समाप्त होने लगे। तब देवताओं ने कहा—"अब हमारा सहारा कौन होगा? ऋषि सब जा रहे हैं।" कहा गया अब ऋषियों के अभाव में तुम्हारा सहारा तर्क होगा। तब से तर्क का प्राबल्य हुआ।

दर्शन-मूलक दर्शन के द्वारा आत्मा उपलब्ध होती है, समन्वय सधता है, मैत्री उपलब्ध होती है। तर्क-मूलक दर्शन के द्वारा संघर्ष बढ़े हैं, विवाद और जय-पराजय की भावना बढ़ी है। मध्ययुगीन दार्शनिक ग्रन्थों में प्रत्येक दर्शन का तार्किक रूप उपलब्ध होता है। उसमें जय-पराजय की व्यवस्थित प्रक्रिया है। अपने पक्ष का समर्थन और पर-पक्ष का खंडन कैसे किया जाए, कौन-कौन-से तर्क दिये जाएं, इसकी व्यवस्थित पद्धति निर्दिष्ट है। उनमें छल, जाति और वितण्डा का भी निर्देश है। वाद-विवाद में इनका प्रयोग भी स्वीकृत है, सहमत है। यह मान्य कर लिया गया कि प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए यदि छल, जाति और वितण्डा का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुचित नहीं है, उचित है। प्रतिपक्षी को हराने के लिए प्रत्येक दर्शन ने क्या-क्या विधान नहीं किए। उनमें शुद्ध दर्शन की बात छूट गयी। केवल जय-पराजय ही लक्ष्य बन गया। इसके फलस्वरूप विवाद बढ़े, मतभेद खड़े हो गए।

अनुभव के क्षेत्र दो नहीं हो सकते। इस क्षेत्र में चाहे 'क' जाए या 'ख' जाए, चाहे भारत का व्यक्ति जाए या यूरोप का व्यक्ति जाए। अनुभव में द्वैध नहीं हो सकता। इसमें काल का व्यवधान भी नहीं होता। आज भी वही अनुभव और दस हजार वर्ष पहले भी वही अनुभव। अनुभव में कोई अन्तर नहीं आता। एक ही परिणाम होगा। एक ही प्रकार की चेतना का जागरण होगा। कोई मतभेद नहीं हो सकता। धर्म और अध्यात्म में कोई द्वैत नहीं होता। सारा द्वैध, सारा संघर्ष होता है तर्क-मूलक दर्शन में। आज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम दर्शन को पुनः दर्शन-मूलक बनाएं। वर्तमान के वैज्ञानिक विकास के बाद यह और प्रज्वलित अपेक्षा हो गई है कि दर्शन का नया अध्याय खुले। यह अध्याय केवल ध्यान के द्वारा ही हो सकता है। जब तक ध्यान की साधना के द्वारा अतिमानसिक चेतना का जागरण नहीं किया जा सकता, जब तक ध्यान की साधना के द्वारा मन को प्रशिक्षित नहीं किया जाता, जब तक ध्यान की साधना के द्वारा संवेदनशीलता को विकसित नहीं किया जाता, तब तक दर्शन का नया अध्याय नहीं खुल सकता तथा धर्म और दर्शन के बारे में उभरने वाले प्रश्नों को समाहित भी नहीं किया जा सकता।

दर्शन का पहला आयाम है—अतीन्द्रिय-चेतना का जागरण। ध्यान-साधना का प्रथम ध्येय है—अतीन्द्रिय-चेतना का जागरण। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी सूक्ष्म चेतना जागे जिसके द्वारा सूक्ष्म सत्यों को देख सकें और उनका अनुभव कर सकें।

दर्शन का दूसरा आयाम है—मन का प्रशिक्षण। हम मन को प्रशिक्षित कर, मन को सूक्ष्म बनाकर जितना देख सकते हैं उतना स्थूल मन के द्वारा नहीं देख पाते। मन को प्रशिक्षित करने के अनेक सूत्र हैं। उनमें पहला सूत्र है—भावक्रिया। भावक्रिया का अर्थ है—कर्म और मन का सामंजस्य। कर्म और मन दोनों साथ-साथ चलें। मन कहीं भटक रहा है और क्रिया कुछ हो रही है, यह विसंवाद है। जो किया जाए मन उसी में लगा रहे। आदमी चलता है तो मन चलने में ही लगा रहे। ऐसा होने पर ही गमन सही हो सकता है, अन्यथा सब कुछ गड़बड़ा जाता है। ज्योतिषी जा रहा था। शरीर चल रहा था धरती पर और मन आकाश में ग्रहों में भटक रहा था। पैर धरती पर थे और मन आकाश में। चलते-चलते वह गढ़े में जा गिरा। वह चिल्लाया। एक बुढ़िया ने उसे गढ़े से निकाला। वह बोली—"ज्योतिषीजी! केवल आकाश को ही न देखें, कभी-कभी धरती को भी देख लिया करें।" कितना तीखा व्यंग्य था। न जाने हमारे जीवन में ऐसे कितने व्यंग्य पलते हैं। हम करते कुछ हैं, और मन की यात्रा कुछ और ही होती है। जीवन में ऐसे क्षण विरल ही आते हैं जहां कर्म के साथ मन लगा रहता है। मन को प्रशिक्षित करने से कर्म और मन का सामंजस्य साधा जा सकता है। मन को प्रशिक्षित करने का एक मात्र उपाय है—ध्यान। ध्यान सधता है तो मन सध जाता है। खायें तो मन खाने की स्मृति में रहे, चलें तो मन चलने की स्मृति में रहे, बोलें तो मन बोलने की स्मृति में रहे, सोचें तो मन मस्तिष्क

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रक्रिया में जुटा रहे, यह है कर्म और मन का सामंजस्य। भावक्रिया दर्शन का महत्त्वपूर्ण आयाम है। जब भावक्रिया सध जाती है तब ध्यान की पद्धति केवल एक घंटा बैठकर करने की पद्धति नहीं रहती, वह समग्र जीवन-दर्शन बन जाता है। फिर प्रत्येक क्रिया में ध्यान बना रहेगा। फिर चाहे व्यक्ति झाड़ू लगाएगा तब भी ध्यान होगा। हाथ झाड़ू लगाएगा तो मन भी साथ-साथ झाड़ू लगाने की क्रिया में संलग्न हो जाएगा। यह नहीं होगा कि हाथ तो झाड़ू लगाए और मन कहीं सिंहासन पर जाकर बैठ जाए। यह व्यक्तित्व का विभाजन नहीं होगा। यह खंडित व्यक्तित्व नहीं होगा। जिस काम में शरीर व्याप्त है, उसी काम में मन व्याप्त हो जाएगा। ऐसा नहीं होगा कि मन आदेश देकर कहीं चला जाए और शरीर बेचारा काम करता रहे। यह स्वामी और सेवक का सम्बन्ध भावक्रिया में नहीं रहेगा। वहां दो साथियों का सम्बन्ध होता है मन और शरीर में। दोनों साथ-साथ काम करेंगे। दोनों साथ-साथ विश्राम करेंगे। मन काम करेगा तो शरीर भी काम करेगा। मन विश्राम करेगा तो शरीर भी विश्राम करेगा। दोनों का पूरा सामंजस्य होगा।

भावक्रिया मन को प्रशिक्षित करने का पहला सूत्र है। इससे मन पटु होता है, सूक्ष्म होता है, जिससे कि वह सूक्ष्म सत्यों को पकड़ सके।

मन को प्रशिक्षित करने का दूसरा सूत्र है—कल्पनाशक्ति का विकास, संकल्प या इच्छाशक्ति का विकास। मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वह स्पष्ट चित्र बना सके। कल्पनाशक्ति के द्वारा चित्र का निर्माण और संकल्पशक्ति के द्वारा उस चित्र की उपलब्धि। हमारी जो भावना होती है उसको हम अपने सुझावों के द्वारा इच्छाशक्ति के रूप में बदल देते हैं और फिर इच्छाशक्ति के द्वारा जहां पहुंचना चाहते हैं वहां पहुंच जाते हैं। जो होना चाहते हैं वह हो जाते हैं। जिस दिशा में हम चलना चाहते हैं, उस दिशा में स्वयं प्रस्थित हो जाते हैं।

मन को प्रशिक्षित करने का तीसरा सूत्र है—एकाग्रता। मन का सहज स्वभाव है चंचलता। वह कहीं एक स्थान पर नहीं टिकता। कहीं न टिकना, चंचल बना रहना, यह मन की अपनी सहज प्रकृति है। यदि वह स्थिर हो जाता है तो मानना चाहिए वह अपनी प्रकृति से ऊपर उठ गया है। मन की तुलना पारे से की जा सकती है। पारा सहज चंचल होता है, उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पकड़ा नहीं जा सकता। मन भी सहज चंचल है। उसे पकड़ा नहीं जा सकता। हजारों वर्षों से यह प्रश्न चर्चित होता रहा है कि मन को कैसे पकड़ा जाए? मनुष्य उद्यमशील है। उसने अनेक गूढ़ सत्य खोज निकाले हैं। पारा चंचल है, पर आदमी ने उसकी गोलियां बांध दीं। अब उसे पकड़ा जा सकता है। पारे की गोली हो सकती है तो मन की गोली क्यों नहीं हो सकती? जब पारा बांधा जा सकता है तो मन को क्यों नहीं बांधा जा सकता? वह भी बंध सकता है। विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा पारा बंध सकता है। वैसे ही ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा मन बांधा जा सकता है।

मन को बांधने की एक प्रक्रिया है—एकाग्रता। मन को ऐसा अभ्यस्त करना चाहिए कि वह एक स्थान पर टिक सके, एक ध्येय पर टिक सके। जब मन एक विषय पर तीन घंटा टिक जाता है तब मन की असंख्य शक्तियां जागृत हो जाती हैं। तीन घंटा टिका पाना सहज नहीं है। बहुत अभ्यास और धृति की अपेक्षा होती है। यदि मन एक घंटा भी टिक जाता है तो साधक स्वयं अनुभव कर सकता है कि भीतर कितना विस्फोट हो रहा है। कितनी शक्तियां जाग रही हैं। एक घंटा स्थिर रहना बहुत दूर की बात है, यदि कोई व्यक्ति ५-१० मिनट एक विषय पर स्थिर रह सकता है तो वह अनुभव कर सकता है कि शरीर में शक्ति और उत्साह का नया स्रोत उभर रहा है।

मन को प्रशिक्षित करने का चौथा सूत्र है—प्रेक्षा का अभ्यास। प्रेक्षा का अर्थ है – देखना। मन को देखने का अभ्यास करना चाहिए। मन सोचना तो बहुत जानता है। उसे यही सिखाया गया है। मन भी पक्का हो गया। वह निरंतर सोचने में लगा रहता है। हमें उसे इस दिशा में प्रशिक्षित करना है कि वह देख सके। मन में देखने की शक्ति भी है। सोचना और विचारना—यह सतही स्तर की अवस्था है। देखने में बहुत गहराई होती है। जब मन देखने लग जाता है तब सोचने की बात नीचे रह जाती है। कोई भी बात आती है तो देखने की बात मुख्य होगी, सोचने की बात पार्श्विक बन जाएगी। हम सोचते हैं, विचारते हैं, उसका हम स्वयं अनुभव नहीं करते और वही बात जब हमारे सामने आती है तब हम विश्वस्त हो जाते हैं; हम मान लेते हैं कि यह बिल्कुल ठीक है। क्योंकि जब हम केवल सोचते हैं, देखते नहीं तब वह बात हमारे प्रत्यक्ष नहीं होती। किन्तु जब हम आंखों से देख लेते है तब कोई संदेह नहीं होता। प्रत्यक्ष का कितना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास और भरोसा होता है। व्यवहार में भी कहा जाता है—यह आंखों देखी बात है, केवल कानों सुनी नहीं। जो आंख की दुहाई देता है वह अपनी बात को सर्वोच्च बना देता है। आंखों का अर्थ ही है—प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्करण। साक्षात्करण का बहुत बड़ा स्थान है। घटना साक्षात् हो जाए, कष्ट साक्षात् हो जाए, उससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता। 'प्रत्यक्षं प्रमाणम्'—सबसे बड़ा प्रमाण है—प्रत्यक्ष। मन को प्रेक्षा का अभ्यास दें। उसे देखना सिखाएं। मन को गहरे में उतार कर देखें। देखने का इतना अभ्यास करें कि सोचने की बात द्वयं हो जाए, प्रथम न रहे। मन का सामान्य अभ्यास यह है कि उसके लिए सोचना प्रथम है और देखना द्वितीय है। प्रशिक्षण के द्वारा इस स्थिति को उल्टा जा सकता है।

हम प्रेक्षा का अभ्यास शुरू करते हैं। श्वास के माध्यम से श्वास के साथ मन को जोड़ते हैं या मन से श्वास को देखते हैं; आंख से नहीं देखते। श्वास आंखों से नहीं देखा जाता किन्तु मन से देखा जा सकता है। मन से श्वास को देखते हैं; किन्तु सोचते नहीं। यह देखना भी एकाग्रता का प्रयत्न नहीं है। एकाग्रता तो साथ-साथ सधती है। मूलतः केवल देखने का प्रयत्न है। हम श्वास की प्रेक्षा एकाग्रता के लिए नहीं करते, किन्तु अपने द्रष्टाभाव को विकसित करने के लिए करते हैं। हमारी चेतना का मूल धर्म है—जानना और देखना, ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव। हम श्वास-प्रेक्षा के द्वारा अपने जानने और देखने की मूल प्रकृति का जागरण करते हैं, ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव को विकसित करते हैं। एकाग्रता अपने-आप सधती है। यह गौण बात है, मुख्य बात नहीं है।

हम शरीर-प्रेक्षा करते हैं। शरीर के बाहरी भाग को देखते हैं। शरीर के भीतर मन को ले जाकर भीतरी भाग को देखते हैं। शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पंदनों को देखते हैं। शरीर के भीतर जो कुछ है उसे देखने का प्रयत्न करते हैं। शरीर के भीतर वह सब कुछ है जो इस संसार में है। ऐसा क्या तत्त्व है जो संसार में हो और इस शरीर में न हो। यह शरीर समूचे संसार का प्रतिनिधित्व करता है। हम उस शरीर की प्रेक्षा करते हैं, मन को देखने का प्रशिक्षण देते हैं। आप यह मानें कि हमारा मन वही है जो मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है। मन भी बहुत भागों में बंटा हुआ है। हमारी चेतना भी बहुत भागों में बंटी हुई है। एक है—इन्द्रिय स्तरीय चेतना और दूसरी है—कोषस्तरीय चेतना। हमारे शरीर के जितने सेल्स हैं, जितने कोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, उन सबके साथ अपना मस्तिष्क भी है। वह मस्तिष्कीय चेतना, कोषीय चेतना, जो हर कोष के पास है, उसे भी हम प्रेक्षा के द्वारा जागृत करते हैं। समूचे शरीर को देखने का अर्थ है—चेतना के जो कोष सोये हुए हैं, कुंठित हैं, उन्हें जगाना। उनकी मूर्च्छा टूट जाए, यह अपेक्षित है। चैतन्य का कण-कण जाग उठे। चैतन्य मूर्च्छा से मुक्त हो जाए। शरीर का प्रत्येक अवयव मूर्च्छा से ग्रस्त है। उस मूर्च्छा को तोड़ने का हमने कभी प्रयत्न ही नहीं किया। यदि ठीक प्रयत्न हो तो कोई कारण नहीं कि शरीर का कण-कण मन की शक्ति का स्वागत न करे, उसे स्वीकार न करे। शरीर का प्रत्येक कण चित्त के निर्देश को स्वीकार करने के लिए तत्पर है कि वह जाग जाए और चित्त के साथ उसका सम्बन्ध-सूत्र जुड़ जाए। किन्तु जब जगाने का प्रयत्न नहीं होता तब वे मूर्च्छा में रह जाते हैं और ऐसी स्थिति में चित्त का निर्देश उन तक पहुंच ही नहीं पाता। वे निष्क्रिय ही बने रह जाते हैं।

शरीर के स्तर पर शरीर के कोष जागृत हैं और वे बराबर अपना काम करते हैं। हमारी नाड़ी-संस्थान में जितने ज्ञानवाही और क्रियावाही तन्तु हैं, वे शरीर-संचालन के क्षेत्र में अपना काम पूरा करते हैं। पैर में कांटा चुभा। तत्काल मस्तिष्क या पृष्ठरज्जु में संदेश पहुंचेगा। वहां से निर्देश मिलेगा। मांसपेशियां सक्रिय हो जाएंगी और हाथ कांटा निकालने के लिए आगे बढ़ जाएगा। यह काम इतनी शीघ्रता से सम्पन्न होता है कि हमें पता ही नहीं चलता। संदेश प्रेषण की सारी प्रक्रिया भीतर-ही-भीतर चलती है और कार्य निष्पन्न हो जाता है। यह इसलिए होता है कि सारे ज्ञान-तन्तु और क्रिया-तन्तु जागृत हैं।

किन्तु सूक्ष्म सत्यों को जानने के लिए जिन ज्ञान-तन्तुओं को जागृत होना चाहिए, वे अभी सोये हुए हैं। इसलिए चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा का बार-बार अभ्यास करते हैं जिससे कि मूर्च्छित ज्ञान-तन्तु सक्रिय हो जाएं, वे जाग उठें। इनके जागने से सूक्ष्म सत्यों की अतीन्द्रिय-चेतना विकसित हो जाती है। तब सूक्ष्म सत्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं रहती।

प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा केवल अपने शरीर को या शरीर की भिन्न-भिन्न पर्यायों को ही नहीं देखा जाता, किन्तु दूसरे पदार्थों को भी देखा जा सकता है। उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। धर्म-ध्यान या विचय-ध्यान की पद्धति भी प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति है। इससे पदार्थ का आंतरिक स्वरूप, उसकी संरचना प्रत्यक्ष हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक पौधा है। आप उसके गुण-दोष नहीं जानते। वह अत्यन्त अपरिचित है। आपके मन में जिज्ञासा उठी कि यह क्या है? इसका स्वभाव क्या है? इसका वीर्य क्या है? इसमें कौन-कौन-सी शक्तियां हैं? आप ध्यान कर बैठ जाएं और उस पौधे के साथ सम्पर्क स्थापित करें, तादात्म्य जोड़ें और फिर उस पौधे से ही पूछें—तुम्हारी प्रकृति क्या है? तुम्हारा गुण-धर्म क्या है? तुम्हारी क्रिया क्या है? आप इतने संवेदनशील बनें, ऐसा गाढ़ सम्बन्ध स्थापित करें, ऐसा अद्वैत स्थापित करें कि वह पौधा आपको सब-कुछ बता दे। सम्पर्क स्थापित होते ही आप उसकी लिपि को समझने लग जाएंगे। उसकी प्रतीक-लिपि को, उसकी सांकेतिक भाषा को आप समझ लेंगे। उसका पूरा लेखा-जोखा सामने आ जाएगा। आपको ऐसा लगेगा कि किसी पुस्तक के पन्ने उलटे जा रहे हैं और सारी बातें सामने प्रकट हो रही हैं।

प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा जैसे शरीर की पर्यायों को जाना जा सकता है वैसे ही पदार्थ के पर्यायों को भी जाना जा सकता है। अपने तथा पदार्थ के सूक्ष्म पर्यायों को जानने के लिए प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति बहुत ही मूल्यवान् है। यह दर्शन का नया अध्याय है। इसे इस भाषा में भी कहा जा सकता है कि यह पुरानी कड़ी का नया अनुसंधान होगा। दर्शन को अपनी मूल स्थिति प्राप्त हो जाएगी। मध्ययुग में जो कड़ी टूट गयी थी, उसका अनुसन्धान हो जाएगा।

हम इस ध्यान-साधना के द्वारा दर्शन के नए अध्याय को खोलें, उसके पृष्ठों को लिखें, पढ़ें, भरें तो बहुत सारे प्रश्न समाहित हो जाएंगे। आज दर्शन और धर्म के विषय में जो भी नए प्रश्न उभर रहे हैं, वे बिना तर्क का सहारा लिये स्वतः उत्तरित हो जाएंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २८

संकलिका

- विकास का आधार—सत्य की खोज और सत्य का अनुशीलन ।
- बदलने वाला बदले, न बदलने वाला न बदले ।
- मन पर जमने वाले मलों का संशोधन ।
- स्वभाव-परिवर्तन ।
- मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन ।
- ऐसे निर्जन द्वीप की खोज जहां शक्ति का व्यय कम हो, नयी शक्ति का सञ्चय हो ।
- शक्ति व्यय का हेतु—
  - निरन्तर गतिशीलता ।
  - अतिरिक्त प्रवृत्ति ।
  - बुरे कर्म व बुरे विचार ।
  - विचार और संवेदन का अनियंत्रण ।
- शक्ति का उपयोग करें । उपयोग न होने पर वह व्यर्थ है ।
- शक्ति के उपयोग की सही दिशा—
  - स्वयं को जान सके, स्वयं को पा सके ।
- सिद्धि के तीन स्तर—
  - प्राकृतिक, जैसे परिस्थितियों पर प्रभुत्व पाना ।
  - चेतना का जागरण ।
  - मूर्च्छा की समाप्ति ।
- साधना का उद्देश्य—
  - कषाय की शांति ।
  - चेतना की निर्मलता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना का प्रस्थान : अज्ञात की दिशा

साधक को ज्योति की जरूरत होती है। उसे प्रकाश की अपेक्षा होती है। जिससे कि वह देख सके। अन्धकार में दिखायी नहीं देता। प्रकाश में सब कुछ दीख जाता है। प्रकाश जितना तेज होगा, देखने की स्पष्टता भी उतनी ही अधिक होगी। जो ज्ञात है वह भी प्रकाश से दीख जाता है और जो अज्ञात होता है वह भी दीख जाता है। ज्ञात को देखने के लिए उतना प्रकाश नहीं चाहिए, जितना प्रकाश अज्ञात को देखने के लिए अपेक्षित होता है। हमारा ज्ञात-जगत् बहुत छोटा है और अज्ञात-जगत् बहुत बड़ा है। अज्ञात-जगत् की तुलना में ज्ञात-जगत् एक सूई के अग्रभाग जितना भी नहीं है। ज्ञात-जगत् एक बिन्दु है तो अज्ञात-जगत् एक सिन्धु है। ज्ञात-जगत् सीमित है। अज्ञात-जगत् असीम है। उसे किसी उपमा के द्वारा उपमित नहीं किया जा सकता।

हम इन्द्रियों के द्वारा जो जानते हैं, वह बहुत ही सीमित है। कान के द्वारा हम सुनते हैं, किन्तु अमुक फ्रीक्वेन्सी के शब्द ही हम सुन पाते हैं। यदि हम होने वाली समस्त ध्वनियों को सुन सकें तो कान का पता ही नहीं चलेगा। सारा वायु-मण्डल ध्वनियों से प्रकम्पित है। इन सबको सुनने वाला बच ही नहीं पाता। हम इस पृथ्वीतल से जो उपलब्ध करते हैं, अपनी इन्द्रियों के द्वारा, उनमें से हम कुछेक रूपों को ही देख पाते हैं, कुछेक शब्दों को ही सुन पाते हैं और कुछेक वस्तुओं का ही उपयोग कर पाते हैं। बस इतना ही ज्ञात होता है, शेष सारा अज्ञात रह जाता है और अज्ञात है इसी-लिए मनुष्य की जिज्ञासा भी है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अज्ञात को ज्ञात करता है। वह इसी में संतोष और तृप्ति मानता है कि वह सदा सत्य को खोजता रहे, अज्ञात को ज्ञात करता रहे। मनुष्य की चेतना इस दिशा में आदिकाल से प्रस्थान करती रही है और समूचे विकास का आधार ही है—सत्य की खोज। यदि सत्य की खोज नहीं होती तो मनुष्य का विकास नहीं होता। पशु का इसीलिए विकास नहीं होता कि वह सत्य की खोज में प्रस्थित नहीं है। हजार वर्ष पहले भी वह बैलगाड़ी में जुतता था और आज भी वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाड़ी में जुतता है। उसका कोई विकास नहीं हुआ है। मनुष्य ने न जाने हजार वर्षों में कितना विकास किया है, कितने नए आयाम खोले हैं। यह सब इसी आधार पर हुआ कि मानवीय चेतना में विकास की क्षमता है और वह सदा सत्य की खोज करता रहता है। मनुष्य जैसे-जैसे सत्य की खोज करता है, वैसे-वैसे उसके ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है और उपयोगिता का क्षेत्र भी विकसित होता है। साथ-साथ उसकी क्षमताएं भी बढ़ती हैं।

मनुष्य कुछ ज्ञात करता है। उसमें से कुछ ज्ञात ज्ञेय के रूप में ही रहता है और कुछ ज्ञात उपयोगिता में बदल जाता है, उपादेय बन जाता है। साधना का प्रयत्न, प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास, अज्ञात को खोजने का प्रयत्न करना है। हमारी वह कहीं न रुकने वाली अनवरत यात्रा सत्य की खोज की दिशा में सतत अग्रसर होने वाली यात्रा है। इस यात्रा के फलस्वरूप जो ज्ञात है वह भी उपलब्ध होता है और जो अज्ञात है वह भी उपलब्ध होता है। सबसे बड़ा सूत्र जो उपलब्ध होता है, वह यह है कि इस दुनिया में कुछ ऐसा है जो बदला जा सकता है और कुछ ऐसा भी है जो नहीं बदला जा सकता। जो बदला जा सकता है, उसे बदलना चाहिए और जो नहीं बदला जा सकता उसे नहीं बदलना चाहिए। जब यह सचाई स्पष्ट हो जाती है तो अगला चरण यह होता है कि जो बदलने योग्य है उसे बदल देना चाहिए। साधना का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि जो अनित्य है, परिवर्तनशील है, बदलने जैसा है, उसे बदल ही देना चाहिए। यथावत् वही रह सकता है जो शाश्वत है। अशाश्वत कभी यथावत् नही रह सकता।

हम बदलते हैं साधना के माध्यम से। सबसे पहले उसे बदलते हैं जो निरन्तर हमें बदलता रहता है। श्वास जीवन को निरन्तर बदलता रहता है। सबसे पहले हम उस श्वास को बदलने का प्रयत्न करते हैं। यह बहुत बड़ी सचाई है कि जब तक उस श्वास की गतिविधि को नहीं बदला जाता, तब तक साधना में विकास नहीं किया जा सकता, तब तक अज्ञात की दिशा में लम्बी यात्रा नहीं की जा सकती। अज्ञात की दिशा में लम्बी यात्रा करने के लिए प्राणशक्ति की प्रचुरता अपेक्षित होती है। प्राणशक्ति के लिए श्वास का ईंधन चाहिए। श्वास का ईंधन जितना सशक्त होगा, प्राणशक्ति उतनी ही सशक्त होगी। प्राणशक्ति जितनी सशक्त होगी, हमारी यात्रा उतनी ही निर्विघ्न होगी। इसलिए श्वास की गतिविधि को बदलना जरूरी है।

प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला सबसे पहले श्वास की गति को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बदलता है। जो श्वास छोटा होता है, उसको लंबा बना देता है, गति में दीर्घता आ जाती है, श्वास दीर्घ हो जाता है।

सामान्यतः आदमी एक मिनट में १५-१७ श्वास लेता है। इसके आस-पास दो स्थितियां बनती हैं। एक स्थिति है श्वास की संख्या को बढ़ाने की और दूसरी स्थिति है श्वास की संख्या को घटाने की। दूसरे शब्दों में, एक स्थिति है श्वास की गति को छोटा करने की और एक स्थिति है श्वास की गति को लम्बा करने की। ये दो स्थितियां बनती हैं। जो व्यक्ति साधना-रत नहीं हैं, बहुत आवेशशील हैं, वे व्यक्ति उस दिशा में प्रस्थान करते हैं कि श्वास की गति कम हो जाती है और उसकी संख्या बढ़ जाती है। १५-१७ की संख्या ३०-४०, ५०-६० तक बढ़ जाती है। आवेश में, कषाय में, वासनातृप्ति में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। श्वास की संख्या बढ़ती है, गति घटती है और साथ-साथ प्राणशक्ति पर उसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी असर होता है। किन्तु प्रेक्षा-ध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति सबसे पहले श्वास की गति को बदलने का प्रयास करता है। वह श्वास की गति की लम्बाई को बढ़ाता है। श्वास मंद हो, श्वास दीर्घ हो, श्वास सूक्ष्म हो, श्वास की सारी दिशा बदल जाए—यह साधक का प्रथम प्रयास होता है। फलस्वरूप श्वास की संख्या घटती है, लम्बाई बढ़ती है, मन शांत होता है। इसके साथ-साथ आवेश शांत होते है, कषाय शान्त होते हैं तथा उत्तेजनाएं और वासनाएं शान्त होती हैं। श्वास जब छोटा होता है तब वासनाएं उभरती हैं, उत्तेजनाएं आती हैं, कषाय जागृत होते हैं। जब श्वास छोटा होता है तब ये सब उभरते हैं या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जब ये उभरते हैं तब श्वास छोटा हो जाता है। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है श्वास। ये श्वास पर आरोहण करके आते हैं। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घ श्वास लेने लग जाएं, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है कि श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नहीं हो पाता है। बिना आलम्बन के कोई उत्तेजना या वासना प्रकट नहीं हो सकती। ध्यान की साधना करने वाला साधक मन की सूक्ष्मता को पकड़ने में अभ्यस्त हो जाता है। वह जान लेता है कि मस्तिष्क के अमुक केन्द्र में कोई वृत्ति उभर रही है। वह तत्काल दीर्घश्वास का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। उभरने वाली वृत्ति तत्काल शान्त हो जाती है। साधक उन वृत्तियों का, उत्तेजनाओं का शिकार नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक को सबसे पहला परिवर्तन जो करना होता है वह है श्वास का परिवर्तन। जो इसके मूल्य को नहीं जानता, वह सचाई को नहीं पकड़ सकता। जो साधक दीर्घश्वास को केवल प्राणायाम के रूप में ही स्वीकार करता है वह अपने स्वास्थ्य तक सीमित लाभ को उठा सकता है किन्तु वह दीर्घश्वास प्रेक्षा से होने वाले आन्तरिक परिवर्तनों के लाभ को नहीं उठा सकता। हम यह स्पष्ट मानें कि दीर्घश्वास केवल प्राणायाम ही नहीं है, वह उससे आगे भी है। हम दीर्घश्वास को प्राणायाम की दृष्टि से नहीं ले रहे हैं। हम दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं। उसका मूल उपयोग है—वृत्तियों का शमन, उत्तेजनाओं का शमन और वासनाओं का शमन। इसके साथ-साथ शारीरिक और मानसिक लाभ भी होते हैं।

साधना का दूसरा काम है—शरीर की दिशा का परिवर्तन। जब श्वास की दिशा बदलती है तब शरीर की दिशा अपने-आप बदलने लग जाती है। हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा शरीर की दिशा को भी बदल सकते हैं। शरीर में भी बीमारियां तब आती हैं जब शरीर के चैतन्य-कण मूर्च्छित हो जाते हैं। शरीर के चैतन्य-कण जब मूर्च्छा और सुषुप्ति की अवस्था में होते हैं तब बीमारियां आती हैं। यदि सारा चैतन्य जाग उठे, शरीर के कण-कण में रहा हुआ चैतन्य जाग उठे, मूर्च्छा टूट जाए, सुषुप्ति मिट जाए तब विकारों और उत्तेजनाओं को आने का अवकाश ही नहीं रहता। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा हम शरीर की समूची क्रिया को बदल डालते हैं। ज्ञान-तन्तुओं को इतना सक्रिय और सक्षम बना डालते हैं कि जिससे वह हर स्थिति का सामना कर सकता है। जब हमारी जीवनीशक्ति पर सबसे बड़ा आघात होता है तब प्रतिरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है। आज का आदमी तेज दवाइयां खा-खाकर अपनी जीवनीशक्ति को या प्रतिरोधात्मक शक्ति को कमजोर कर डालता है। ध्यान प्रतिरोधात्मक शक्ति को बनाए रखने का अचूक उपाय है। साधक ध्यान के द्वारा ज्ञान-तन्तुओं और शारीरिक तन्तुओं को सक्रिय बनाकर जीवनीशक्ति को बढ़ा सकता है। ध्यान का अभ्यास न चले, आदमी तेज दवाइयां लेता रहे, जीवनीशक्ति का क्षय करता चले, जीवनीशक्ति के लिए उपयोगी कीटाणुओं को नष्ट करता चले तो एक ओर से होने वाला क्षय उसे न जाने कहां नीचे ले जाकर पटकता है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला साधक, अपने चैतन्य केन्द्रों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने वाला साधक, शरीर के कण-कण में चैतन्य का अनुभव करने वाला साधक समता की स्थिति में चला जाता है। जब जीवन में समता घटित होती है तब सारा आचरण बदल जाता है, संबंधों के प्रकार बदल जाते हैं। सब आचरणों में परम आचरण है—समता। जिस व्यक्ति के आचरण में समता और व्यवहार में मृदुता आ जाती है उसके सारे सम्बन्ध सुधर जाते हैं।

मानवीय सम्बन्धों में सबसे कड़ी कठिनाई है—विषमता और कठोरता। पहली कठिनाई है—विषमता। पिता की दृष्टि पुत्रों के प्रति सम नहीं होती, माता की दृष्टि पुत्रियों के प्रति सम नहीं होती, तब संबंधों में विकृति आने लग जाती है। सामाजिक व्यवस्था में जहां-जहां विषमता है, वहां-वहां उपद्रवों का होना अनिवार्य है और उपद्रव न हो तो मानना चाहिए कि विषमता में जीने वाले अज्ञानी लोग हैं। जहां सामाजिक स्थिति विषमतापूर्ण हो, उस सामाजिक स्थिति में सताए जाने वाले लोग विद्रोह न करें तो मानना चाहिए कि ये मूर्च्छित हैं, सोए हुए हैं। यदि लोग जागे हुए हों तो विषमता के प्रति विद्रोह की आग न भभके, यह कभी नहीं हो सकता। विषमता के प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक है और विद्रोह न हो तो एक बहुत बड़ा आश्चर्य है। दो बहनें साथ चलें और बात न करें तो यह आश्चर्य हो सकता है, बात करना कोई आश्चर्य नहीं है।

आचरण की, व्यवहार की, मानवीय सम्बन्धों की सबसे बड़ी समस्या है विषमता की। विषमता यदि परिवार में हो तो परिवार सुखी नहीं हो सकता। विषमता यदि समाज में हो तो समाज सुखी नहीं हो सकता।

मानवीय सम्बन्धों की दूसरी कठिनाई है—कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नहीं करता। अपने से बड़े व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पड़ता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर बड़े का बड़प्पन ही कैसे सुरक्षित रह सकता है? यह धारणा रूढ़ हो गई है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने में कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु बराबर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने में गौरव अनुभव करता है। भला नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए? उसको तो दो-चार गालियां ही दी जानी चाहिए। इस धारणा ने सारे व्यवहार को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अव्यवस्थित कर डाला है। आज सर्वत्र यह धारणा ही बन गयी कि छोटे के साथ तो कठोर व्यवहार ही करना चाहिए। एक मिल मैनेजर यदि मजदूरों के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी? इस प्रकार की धारणाओं ने सामाजिक सम्पर्कों, सामाजिक सम्बन्धों और मानवीय सम्बन्धों में बहुत बड़ी दरार पैदा कर दी। हम इस बात को भूल गए कि मैत्री और प्रेमपूर्ण भावनाओं के द्वारा, निर्मल और पवित्र भावनाओं के द्वारा आदमी को जितना जगाया जा सकता है, जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना कठोर व्यवहार से नहीं किया जा सकता। आज वैज्ञानिक खोजों के द्वारा नयी सचाइयां सामने आयी हैं कि पवित्र और सद्भावनापूर्ण भावनाओं के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूलों को और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण चेतनाशील व्यक्ति को निर्मल और सद्भावनापूर्ण चेतना के द्वारा विकसित नहीं किया जा सकता? क्या वह निरा पत्थर है? पत्थर को भी पवित्र भावनाओं से चैतन्य जैसा किया जा सकता है। जब बड़ी चट्टान को उठाना होता है तब पांच-सात आदमी उस चट्टान के प्रति समर्पित होकर, संकल्पशक्ति के सहारे उसे ऊपर उठा देते हैं।

विनम्रता, मृदुता हर किसी को पिघला देती है। आप किसी के प्रति सद्भावना करें, प्रेमपूर्ण भावना करें वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते हैं और लताएं अपनी दिशा बदल देती हैं। एक ईसाई महिला ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए। किन्तु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नहीं मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गयी और विनम्र स्वर में बोली—"लता! मुझे दुःख है कि तुझे काटना पड़ेगा। क्योंकि तुम्हारा शरीर बेचारे इस पौधे पर छा जाता है। पौधे को बढ़ने का मौका ही नहीं मिलता। मैं तुझे काटना नहीं चाहती, किन्तु काटना पड़ेगा। मुझे खेद हैं! तू मुझे क्षमा करना।" उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाले लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा में बढ़ती जाओ। कुछ दिनों बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा में बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है तब आदमी हमारी भावना क्यों नहीं सुनेगा? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है ? किन्तु हमने यह रूढ़ धारणा बना ली कि आदमी पर मृदुता से शासन नहीं किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय सम्बन्धों में कटुता आयी है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला आ रहा है।

प्रेक्षा-ध्यान की साधना के द्वारा आदमी के स्वभाव में परिवर्तन आता है, साथ-साथ मानवीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन घटित होता है। यदि मानवीय सम्बन्धों में कोई परिवर्तन घटित न हो और आदमी पहले जैसा ही कठोर, निर्दय और क्रूर बना रहे तो समझ लेना चाहिए कि ध्यान जीवन में उतरा नहीं है, जीवन में उसका प्रवेश ही नहीं हो पाया है।

ध्यान की साधना के द्वारा स्वभाव का परिवर्तन और मानवीय संबंधों का परिवर्तन तब घटित हो सकता है जब प्रतिदिन हमारे मन पर जमने वाले मलों का शोधन होता रहे। प्रतिदिन मल जमता रहता है। पसीना आता है, शरीर पर मैल जम जाता है। धूल उड़ती है, शरीर और कपड़े मैले हो जाते हैं। आदमी इनके मैल को पानी से धो डालता है। किन्तु वह इस ओर ध्यान ही नहीं देता कि मन पर प्रतिपल कितना मैल जमता जाता है। उस मैल को हटाने को वह नहीं सोचता। कितने आश्चर्य की बात है ? जब तक इस मैल को नहीं धोया जाता तब तक स्वभाव का परिवर्तन या मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन करने की कल्पना केवल कल्पना मात्र ही रह जाती है। कुछ भी यथार्थ घटित नहीं हो सकता। यह चिंतन केवल दुश्चिंतन और तर्कणा केवल तर्कणा रह जाती है। कोई परिणाम नहीं आ सकता। सबके मूल में है शोधन। प्रेक्षा-ध्यान के साथ-साथ हम प्रतिदिन प्रतिक्रमण करें। प्रतिक्रमण अर्थात् जो दिन में या रात में मैल जमा हो उसे धोकर साफ कर डालें। ऐसा प्रयत्न करें कि मैल जमे ही नहीं। अनुप्रेक्षा से यह काम सरल हो जाता है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता है और मन निर्मल होता जाता है।

मन पर मैल जमता है पदार्थों के द्वारा। पदार्थ अनित्य हैं, अशाश्वत हैं। आदमी उनको नित्य और शाश्वत मान लेता है। इससे मूर्च्छा पलती है। इतना लगाव हो जाता है पदार्थ से कि एक सूई भी खो जाए तो मन खो जाए। पदार्थ के वियोग से मन बेचैन हो जाता है। कांच का एक प्याला भी टूट जाए तो मन बेचैन हो जाता है। नींद हराम हो जाती है। अनित्य को हमने इतना नित्य मान लिया कि मानो वह कभी भी बिछुड़ने वाला नहीं है। पदार्थों के प्रति जो नित्यता की बुद्धि है, उससे मैल जमता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवार एक सच्चाई है, किन्तु आदमी अपने आपको उससे अभिन्न मान लेता है। 'मैं और मेरा परिवार एक है'—यह मान्यता बन जाती है। जब तक व्यक्ति परिवार के स्वार्थों का पोषण करता है तब तक परिवार वाले उसको अलग नहीं मानते और वह भी परिवार से अपने को अलग नहीं मानता। किन्तु यह सचाई तब खडित हो जाती है जब व्यक्ति के द्वारा होने वाला स्वार्थ का पोषण टूट जाता है। उस दिन पता चलता है कि परिवार व्यक्ति के प्रति क्या है और व्यक्ति परिवार के प्रति क्या है ? फिर एक साथ इतना अनुताप उभरता है, इतना दुःख होता है कि व्यक्ति का मन टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है। वह सोचता है—जिस परिवार के लिए मैंने इतना काम किया, इतने कष्ट सहे, यह किया, वह किया और वही परिवार आज मेरे से आंख तक नहीं मिलाता। उसे अत्यन्त दुःखद अनुभूति होती है। मन मैला हो जाता है। उस पर मैल की परतें जमती जाती है। उसके लिए दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। हम इस सचाई को मानकर चलें कि पारिवारिक सम्बन्ध, मित्रों और साथियों के सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। अन्तिम सचाई यह है कि व्यक्ति अकेला है, बिल्कुल अकेला। यह है एकत्व अनुप्रेक्षा। इस सचाई को समझकर ही हम पारिवारिक सम्बन्धों को निभा सकते हैं। जो इस सचाई को भुलाकर सम्बन्धों को अन्तिम सचाई मानकर चलते हैं, उनके मन पर मैल इतना गाढ़ा जम जाता है कि उसको धोने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ना है।

मन पर जमने वाले मलों को दूर करने के लिए हमें अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना चाहिए। अनुप्रेक्षाएं तीन हैं—अन्यत्व अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा और अनित्य अनुप्रेक्षा। अन्यत्व अनुप्रेक्षा अर्थात् शरीर और आत्मा का भेदज्ञान। शरीर को अलग मानना, आत्मा को अलग मानना। दोष का मूल कारण है—शरीर के प्रति मूर्च्छा। यही मूर्च्छा दूसरी सारी मूर्च्छाओं को जन्म देती है। जब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होता है तब शरीर के प्रति होने वाली मूर्च्छा नहीं पनपती, मैल नहीं जमता, तब फिर पदार्थ के द्वारा होने वाला यह घर्षण, यह मूर्च्छा और उससे जमने वाला यह मैल भी कम होने लगता है। एकत्व अनुप्रेक्षा के अभ्यास से सामाजिक सम्बन्धों से आने वाली मूर्च्छा कम होने लगती है। अनित्य अनुप्रेक्षा के अभ्यास से पदार्थों के प्रति होने वाली मूर्च्छा नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार इन तीन प्रकार की अनुप्रेक्षाओं से मन के मैल को धोया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकता है।

आज कुछ विपर्यास हो गया है। आज ध्यान की उपलब्धि यह मान ली गई है कि ध्यान करने वाला अधर में रहे, धरती से ऊपर उठने वाला हो। यदि यह सिद्धि नहीं होती है तो ध्यान को निकम्मा समझ लिया जाता है। यदि ध्यान की सिद्धि का यही मानदंड रहा तो सिद्धि के कुछ चमत्कार तो प्रदर्शित हो सकते हैं, किन्तु अन्तर का कोई चमत्कार घटित नहीं हो सकता। कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। नट नाना प्रकार के वेश बनाते हैं और दूसरों को सुखद अनुभव कराते हैं, किन्तु अपने आप में रिक्त ही रहते हैं। चमत्कार को सिद्धि मानने वाले ध्यान-साधकों की भी यही स्थिति बन जाती है। वे रिक्त के रिक्त ही रह जाते हैं।

सिद्धियों के तीन स्तर हैं। एक है—प्राकृतिक, जैसे परिस्थितियों पर प्रभुत्व पाना। दूसरी सिद्धि है—ध्यान और दर्शन की विशिष्ट उपलब्धि। तीसरी सिद्धि है—स्वभाव का परिवर्तन, कषायों का परिवर्तन।

शरीर को हल्का बनाना, शरीर को भारी बनाना, जल पर चलना, आकाश में अधर उठना—ये सारी सिद्धियां प्राकृतिक नियमों को जानने पर और स्थितियों को बदलने पर घटित होती हैं किन्तु इनके द्वारा आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता, चेतना नहीं बदलती। इन सिद्धियों से चेतना का अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान होता है या स्वभाव में परिवर्तन आता है, यह मानना भूल है। ऐसे चमत्कार प्रदर्शित करने वाले अनुग्रह या निग्रह करने में समर्थ होते हैं। वे इतने संवेदनशील बन जाते हैं कि थोड़े से अपराध पर वे शाप दे देते हैं और थोड़े से प्रसन्न होने पर वरदान दे देते हैं। सिद्धि का यह एक स्तर है। जिन्हें चमत्कार दर्शित करना है, जिन्हें प्रशंसा पानी है, उनके लिए यह स्तर ठीक है किन्तु जिन लोगों को मूलतः अपने को बदलना है, आत्मा को उपलब्ध होना है; उनकी दिशा दूसरी होगी। उनकी सिद्धियां भी दूसरे प्रकार की होंगी।

सिद्धियों का दूसरा स्तर है—चेतना का जागरण, मति-श्रुत ज्ञान से लेकर कैवल्य तक का जागरण। मति-श्रुत की पटुता का विकास, अतीन्द्रिय का विकास, कैवल्य चेतना का विकास—यह भी सिद्धि का एक स्तर है। पूछा जा सकता है कि पांच वर्ष के ध्यान के अभ्यास से चेतना की निर्मलता कितनी बढ़ी? ज्ञान कितना विकसित हुआ? अनुभव में कितनी वृद्धि हुई? यह चेतना के जागरण का स्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि का तीसरा स्तर है—मूर्च्छा की समाप्ति, कषाय की समाप्ति। जिस व्यक्ति की मूर्च्छा कम हो जाती है, कषाय नष्ट हो जाते हैं, वह इस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जब यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब चेतना की निर्मलता अपने-आप बढ़ जाती है।

हमारी साधना के दो मुख्य उद्देश्य हैं—कषाय की शान्ति और चेतना की निर्मलता। ये दो महान् सिद्धियां हैं। चमत्कार की सिद्धि भी एक प्रकार की सिद्धि है। उसे मैं सर्वथा निकम्मी नहीं समझता। किन्तु वह हमारा ध्येय नहीं है। जिसे कषाय-शमन की सिद्धि उपलब्ध है; जिसे चेतना के जागरण की सिद्धि उपलब्ध है, उस व्यक्ति को अणिमा, लघिमा, महिमा आदि ऋद्धियां प्राप्त होंगी तो उनका उपयोग भी उसी दिशा में होगा; चमत्कार की दिशा में नहीं होगा।

हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा जो पाना चाहते हैं, जो सिद्ध करना चाहते हैं, जो साधना चाहते हैं, उसे साधें। इतना सब कुछ होता है तो फिर नए वातायन में बैठकर प्रेक्षा-ध्यान को समझने का मौका मिलता है, देखने का मौका मिलता है। ध्यान का अर्थ क्या है, मूल्य क्या है—इसे समझा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन २९

संकलिका

- साधारण व्यक्ति के लिए यह जगत् रङ्ग, ध्वनि और तापमय है।
- वैज्ञानिक के लिए यह जगत् दिग्, काल और विद्युत्मय है।
- आध्यात्मिक के लिए यह जगत् चेतन और अचेतन में उठने वाली तरंगों से भरा हुआ है।
- मनुष्य विद्युत्-आवेगों से आविष्ट होकर प्रवृत्तियां कर रहा है।
- हमारे विद्युत्-आवेग नियंत्रित हो जाएं। तरंगों की लम्बाई बढ़ जाए—यही है अध्यात्म साधना का साध्य। इसे समझने वाला ही अध्यात्म के रहस्य को समझ सकता है।
- लेश्या ध्यान—निस्तरंग तक पहुंचने का माध्यम।
- तरंगातीत आत्मा की अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्थान—
  - मस्तिष्क।
  - चैतन्य-केन्द्र।
- तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने के पांच साधन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म का रहस्य-सूत्र

हमारे हाथ में एक नींबू है। उसका रंग-रूप देखकर हम जान लेते हैं कि यह नींबू है। अंधेरे में नींबू को सूंघकर हम जान लेते हैं कि यह नींबू है। रंग-रूप से भी हम नींबू को जान लेते हैं और गंध से भी हम नींबू को जान लेते हैं। छूकर और चखकर भी हम उसको जान लेते हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से हम वस्तु को जान लेते हैं। प्रश्न होता है कि नींबू क्या है? हम रंग-रूप को देखते हैं वह नींबू नहीं है। गंध, रस और स्पर्श से जो जानते हैं वह भी नींबू नहीं है। इनसे तो हम केवल एक पर्याय को जानते है। आंख में रंग-रूप को जानने की क्षमता है और घ्राण में गंध को जानने की क्षमता है। इसी प्रकार त्वचा में स्पर्श को और जीभ में रस को जानते क्षमता है। हम इन इन्द्रियों से एक-एक पर्याय को जान लेते हैं। पर प्रश्न है कि द्रव्य क्या है? ये सारी पर्यायें हैं, तरंगें हैं। मूल क्या है? विज्ञान सदियों से यह खोज कर रहा है कि मूल क्या है? आज भी खोज चालू है। बहुत सारे कण खोजे गए हैं, किन्तु मूल कण का प्रश्न आज भी प्रश्न ही है।

दार्शनिक जगत् में यह प्रश्न हजारों वर्षों से चर्चा जाता रहा है कि मूल तत्त्व क्या है? मूल तत्त्व तक पहुंचना बहुत कठिन बात है। वह कठिन इसलिए है कि यह सारा जगत् लहरों का जगत् है। सारा जगत् पर्यायों का जगत् है। पर्याय ही पर्याय। मूल समुद्र कहां है? इसका कोई पता नहीं है। तरंगों और पर्यायों के इतने आवरण हैं कि मूल तत्त्व तक पहुंचना सरल नहीं है। जो कुछ दृश्य है व सब तरंग ही तरंग है, पर्याय ही पर्याय है। तरंग तरंग को जानती है। जो आंखें जानती हैं, वह आंख स्वयं एक तरंग है, पर्याय है। आंख में केवल तरंग को जानने के अतिरिक्त किसी तरंगातीत को जानने की क्षमता नहीं है। हमारी कोई भी इन्द्रिय तरंगातीत को जानने में सक्षम नहीं है। इसलिए इन्द्रियों के आधार पर जिन्होंने चिन्तन किया, उन्होंने यह घोषणा कर दी कि इस संसार में तरंगातीत कुछ भी नहीं है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो तरंगातीत हो, पर्यायों में अतीत हो। जानने वाला स्वयं तरंग और जाना जाने वाला स्वयं तरंग। ऐसी स्थिति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरंगातीत की बात समाप्त हो जाती है। हमारा सारा ढांचा ही ऐसा है। हम श्वास से जीते हैं। श्वास स्वयं एक तरंग है। हम शरीर में जी रहे हैं। वह शरीर भी स्वयं एक तरंग है। हम शरीर को ठोस मानते हैं। वह ठोस है नहीं। अनित्य अनुप्रेक्षा के अभ्यास से शरीर में होने वाले सूक्ष्म स्पंदन पकड़ में आ जाते हैं। हमें हड्डियां ठोस लगती हैं, किन्तु उनमें बहुत छिद्र हैं। एक वैज्ञानिक अपनी अनुसंधानशाला में बैठा रहा। वह एक 'कार्क' की संरचना को देख रहा था। सूक्ष्मवीक्षण यंत्र का सहारा लिया। उसने देखा कि कार्क में केवल जालियां ही जालियां हैं। उसने फिर शरीर को देखा। शरीर में छिद्र ही छिद्र दिखे। इसी आधार पर कोशिकाओं का सिद्धान्त विकसित हुआ।

हम मानते हैं कि भींत ठोस है। किन्तु इसमें से निरंतर इतने परमाणु निकलते हैं, इतने परमाणु घुसते हैं कि यदि उनको क्रम से रखा जाए तो हमारी पृथ्वी जैसी असंख्य पृथ्वियों में भी न समाएं। इस स्थिति में कैसे माना जाए कि भींत ठोस है? छिद्र ही छिद्र, तरल ही तरल, सब कुछ तरंगित है। जब पर्यायों का इतना बड़ा समूह है तब मूल पदार्थ तक हमारी पहुंच कैसे हो।

शरीर भी एक तरंग है। मन भी एक तरंग है। श्वास भी एक तरंग है और बुद्धि भी एक तरंग है। हमारे उपभोग में आने वाले जितने भी उपकरण हैं वे सब तरंगें हैं। इन तरंगों के आधार पर जो हम जानेंगे वह तरंग कैसे नहीं होगा? तरंग के द्वारा तरंग ही पकड़ा जाएगा, निस्तरंग नहीं पकड़ा जाएगा। श्वास, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा निस्तरंग नहीं पकड़ा जा सकता। इसलिए हमारे ऐन्द्रिक, मानसिक, वैचारिक और बौद्धिक जगत् में यदि यह घोषणा होती है कि आत्मा नामक कोई मूल तत्त्व नहीं है तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन उपकरणों के आधार पर यह घोषणा कैसे की जा सकती है कि एक तत्त्व ऐसा भी है जो निस्तरंग है, तरंगों से अतीत है। एक ऐसी भी अवस्था है जो तरंगातीत है। इन्द्रिय-चेतना से लेकर बौद्धिक-चेतना तक के जगत् में ऐसा कोई माध्यम नहीं है जो निस्तरंग को प्रमाणित कर सके। यदि हम मन की तरंग के द्वारा यह कहें कि कोई निस्तरंग तत्त्व है तो यह भी एक मन की तरंग ही होगी। मन स्वयं तरंग है तो वह निस्तरंग को कैसे पकड़ पायेगा? उसे पता ही नहीं है कि निस्तरंग भी कुछ होता है। उसका भी अस्तित्व है। मन केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक टेपरिकार्डर की भांति है। जो मान्यता या आवाज उसमें भर दी गयी वह उसकी पुनरावृत्ति करता ही रहेगा। मन में एक बात भर दी गयी कि एक तत्त्व ऐसा भी है जो निस्तरंग है, वह बार-बार यह बात कहता रहेगा। किन्तु उसके पास निस्तरंग जगत् से आया हुआ कोई भी साक्ष्य नहीं है जिसके द्वारा वह यह प्रमाणित कर सके कि ऐसा भी एक तत्त्व है जो तरंगातीत है। फिर यह भी एक प्रश्न होता है कि ध्यान भी मन की एक तरंग ही है। ध्यान का जो परिणाम होगा वह भी मन की एक तरंग ही होगी। हम पर्याय के इस मायाजाल में इतने उलझ जाते हैं कि पर्यायातीत और तरंगातीत कुछ भी हमें उपलब्ध नहीं होता। यही एक ऐसा बिन्दु है जहां पहुंचकर व्यक्ति अध्यात्म की खोज करता है। यदि यह बिन्दु न हो तो अध्यात्म की खोज कभी संभव नहीं हो सकती। जिन लोगों ने अध्यात्म की खोज की है, उनका आरोहण इसी बिन्दु पर हुआ है। इस बिन्दु पर आकर ही उन्होंने अध्यात्म को खोजने का प्रयास किया है। यह मध्य बिन्दु है। एक ओर तरंगों का जगत् है और दूसरी ओर तरंगातीत जगत् है। मध्य में यह बिंदु है। इसे पकड़े बिना तरंगों के संसार से तरंगातीत संसार में नहीं पहुंचा जा सकता।

एक प्रश्न होता है कि क्या तरंगों को समाप्त किया जा सकता है? क्या तरंगों को स्थिर कर पाना संभव है? ध्यानयोगियों ने इसका उत्तर 'हां' में दिया, यह संभव है। इस संभावना पर मनुष्य ने चिंतन किया। संभावना और आगे बढ़ गयी। साधक को अनुभव होता है कि तरंग को रोका जा सकता है। श्वास एक तरंग है। इसे रोका जा सकता है। इस पर खोज हुई। ये तथ्य सामने आए कि एक मिनट में १५ श्वास लेने वाला व्यक्ति, साधना और अभ्यास के द्वारा, उस संख्या को घटाकर १०, ७, ५ और एक मिनट में एक श्वास तक आ जाता है। जब उसका अभ्यास और आगे बढ़ता है तब पूरा वर्ष श्वास लिये बिना रह सकता है और बारह वर्ष तक भी श्वास लिये बिना रह सकता है। श्वास का दरवाजा बिल्कुल बंद करके भी जी सकता है। श्वास के तरंग का निरोध किया जा सकता है। उसको समाप्त भी किया जा सकता है। महाप्राण ध्यान की साधना में श्वास को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाता है और भी अनेक प्रकार की समाधियों में श्वास का सर्वथा निरोध कर दिया जाता है। साधक श्वासहीन स्थिति में चला जाता है।

शरीर भी एक तरंग है। इसे भी रोका जा सकता है। इसकी सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धड़कनों को बंद कर इसे शव जैसा बनाया जा सकता है।

मन भी एक तरंग है। ध्यान की स्थिति में मन का सर्वथा विलय हो जाता है। इस स्थिति में मन अ-मन बन जाता है। यह स्थिति एक दिन नहीं, वर्ष भर रह सकती है। साधक वर्ष तक अ-मन की स्थिति में रह सकता है। मन को सर्वथा निष्क्रिय कर देना ही अ-मन की स्थिति है।

जब साधक को यह पता लग गया कि तरंगों को रोका जा सकता है, तरंगों को समाप्त किया जा सकता है तो इस स्थिति में से ही मनुष्य को तरंगातीत बिन्दु का बोध हुआ। पर्याय से परे जो मूल तत्त्व है उसको ज्ञात हुआ। जिस किसी व्यक्ति ने इस सिद्धान्त को समझकर तरंग के निरोध का अभ्यास किया उसने विचारों का निरोध, संवेदनों का निरोध, चंचलता का निरोध करने का प्रयत्न किया। इस निरोध की स्थिति में उसे इस सचाई का बोध हुआ कि इस संसार में एक ऐसा भी तत्त्व है जो तरंगातीत है, तरंगों से परे है।

दार्शनिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि संसार में तरंगातीत कुछ भी नहीं है। जिस आत्मा को हम तरंगातीत स्वीकार करते हैं, वह भी तरंगातीत नहीं है। इसे हम थोड़ा समझें। तरंगें दो प्रकार की होती हैं। पर्याय दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक पर्याय और वैभाविक पर्याय। एक वे पर्याय हैं जो स्वभावतः प्रकट होते हैं। वे अनादि-अनन्त द्रव्य में प्रतिपल उत्पन्न होते रहते हैं और मिटते रहते हैं। ये स्वाभाविक तरंगें कभी समाप्त नहीं होतीं, उत्पन्न होती हैं और मिटती हैं। ये पर्याय हमारे लिए बाधक नहीं होते। हमें जिन पर्यायों और तरंगों से बाधित होना पड़ता है, जो हमारी मति में भ्रम पैदा करते हैं, वे हैं वैभाविक पर्याय। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि निमित्तों से उत्पन्न होने वाले पर्याय। इन वैभाविक पर्यायों को मिटाया जा सकता है। इनकी समाप्ति ही तरंगातीत अवस्था है।

यह नहीं मान लेना चाहिए कि ध्यान करने के लिए बैठते ही सारे पर्याय समाप्त हो जाते हैं, तरंगें समाप्त हो जाती हैं। ध्यान की स्थिति में अनेक पर्याय चलते हैं; तरंगें चलती हैं। ध्यान पर किए गए वैज्ञानिक प्रयोगों से यह पता लगा कि विश्राम की स्थिति में जो लक्षण पैदा होते हैं, वे ही लक्षण ध्यान की स्थिति में प्रकट होते हैं। हमारे शरीर में 'लेप्टिक' एसिड है। विश्राम काल में उसकी स्थिति कम होती है, किन्तु ध्यान काल में नहीं होती। आठ घंटे के नींद के समय में जितनी मात्रा कम होती है, उतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्रा ध्यान के बीस मिनट में हो जाती है। यह एसिड शरीर के लिए हानिकारक होता है। ध्यान में और भी अनेक परिवर्तन होते हैं। किन्तु वह तरंगातीत स्थिति है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। तरंगातीत अवस्था एक वीतराग की भी नहीं होती, केवली की भी नहीं होती। गौतम ने भगवान् से पूछा—'भंते ! केवली ने जहां हाथ रखा क्या वह वहां पुनः हाथ रख सकता है ?' महावीर ने कहा—'नहीं रख सकता।' असीम ज्ञानी भी जब वैसा करने में असमर्थ है तो भला साधारण आदमी यह दावा कैसे कर सकता है कि वह वही कर रहा है जो उसने पहले किया था। गौतम ने फिर पूछा—'यह कैसे, केवली दूसरी बार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नहीं रख सकता ?' महावीर ने उत्तर दिया—'गौतम ! शरीर चंचल है। केवली हो जाने पर भी शरीर की चंचलता नहीं मिटी है। इस शारीरिक चंचलता के कारण वह केवली दूसरी बार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नहीं रख सकता। कुछ-न-कुछ अन्तर आ जायेगा। आकाश-प्रदेश बदल जाएंगे। इस प्रकार केवली भी तरंगातीत स्थिति में नहीं है। हम यह कभी कल्पना न करें कि दो-चार घंटे की ध्यान की स्थिति से तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। जब व्यक्ति शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है, चौदहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है, अयोगी बन जाता है, तब उसे तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह मोक्ष की निकटस्थ अवस्था है। आत्मा वैभाविक पर्यायों से सर्वथा मुक्त होकर अप्रकम्प हो जाता है। अप्रकम्प दशा की यात्रा हमारा लक्ष्य है। यह लंबी यात्रा है। इस दशा तक हमें पहुंचना है। ध्यान उसका माध्यम है। हम तरंगों में जी रहे हैं। ध्यानकाल में भी तरंगें आती हैं, विकल्प उठते हैं। इससे निराश या खिन्न नहीं होना है। यदि दो-चार क्षणों तक भी तरंग न आए, विकल्प न उठे तो यह तरंगातीत अवस्था की क्षणिक प्राप्ति है। यह भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हम तरंगों के घेरे में बैठे हैं, तरंगों में जी रहे हैं, तरंगों में श्वास ले रहे हैं। इस तरंगित जगत् में यदि २-४ मिनट भी निस्तरंग का अनुभव करते हैं तो यह दूसरी दिशा की ओर प्रस्थान है।

इस जगत् में जीने वाले गुरुत्वाकर्षण के घेरे में बंधे होते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी अभ्यास के द्वारा गुरुत्वाकर्षण से हटकर हल्केपन का अनुभव करता है तो मानना चाहिए कि वह एक नयी यात्रा पर चल रहा है।

तीन स्थितियां हैं—१. बुरे विचार २. अच्छे विचार और ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्विचार। कर्म को भी हम तीन भागों में बांट सकते हैं—बुरा कर्म, अच्छा कर्म और अकर्म। 'बुरे विचार' भी एक तरंग हैं और 'अच्छे विचार' भी तरंग हैं। दोनों तरंग हैं। दोनों में, तरंग की दृष्टि से, कोई अन्तर नहीं है। किन्तु एक तरंग और दूसरी तरंग में बहुत बड़ा अन्तर होता है। सामान्य आदमी यह मानता है कि इस संसार में रंग है, रूप है, ध्वनियां हैं, ताप है, सब-कुछ है। किन्तु एक वैज्ञानिक इस भाषा में नहीं सोचेगा। वैज्ञानिक के लिए यह दुनिया न रंगमय है, न रूपमय है, न ध्वनिमय है, न तापमय है। उसके लिए यह जगत् काल और विद्युत् का प्रवाह मात्र है। सब कुछ विद्युत्मय है। ऐसी स्थिति में अच्छा सोचना भी विद्युत् की तरंग है और बुरा सोचना भी विद्युत् की तरंग है। सोचना, चिन्तन करना, प्रवृत्ति करना, सब कुछ विद्युत् की तरंग है। यदि हम निस्तरंग की ओर बढ़ना चाहते हैं, तरंगातीत स्थिति में जाना चाहते हैं तो उसकी यही प्रक्रिया होगी कि सबसे पहले बुरी तरंग को समाप्त कर अच्छी तरंग का निर्माण करें। अच्छी तरंग का निर्माण किए बिना बुरी तरंग को समाप्त नहीं किया जा सकता। जिस बुरे चिंतन से व्यक्ति तरंगातीत स्थिति से दूर चला गया था वह अच्छे चिंतन से उस दिशा में कदम बढ़ा सकता है। यद्यपि अच्छे चिंतन से भी व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में नहीं पहुंच सकता किन्तु जहां बुरा चिंतन तरंगातीत से हमारी दिशा को मोड़ देता है वहां अच्छा चिंतन उस दिशा में गति कराता है।

बुरे चिंतन से अच्छे चिंतन में आने का सबसे सरल उपाय है—लेश्या ध्यान। इस ध्यान का अभ्यास किए बिना चिंतन को नहीं मोड़ा जा सकता। सामाजिक सम्बन्धों के कारण व्यक्ति में शत्रुता के भाव आते रहते हैं। दूसरे का अनिष्ट करने की भावना उसमें पनपती है। अप्रिय व्यक्ति के सामने आते ही आंखें तमतमा जाती हैं। विरोधी व्यक्ति की स्मृति होते ही सारी चिंतन धारा प्रकंपित हो जाती है। इन प्रतिक्रियाओं को तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक शुद्ध लेश्याओं का ध्यान नहीं किया जाता। तैजस, पद्म और शुक्ल – ये तीन शुद्ध लेश्याएं हैं। इनका वर्ण है—प्रशस्त लाल, प्रशस्त पीत प्रशस्त श्वेत। इन वर्णों का ध्यान कर हम आंतरिक प्रक्रिया को बदल सकते हैं और मन की आन्तरिक प्रक्रिया के द्वारा फिर उन वर्णों में परिवर्तन शुरू हो जाता है। तब हम बाहर से भीतर को प्रभावित करते हैं और भीतर से बाहर को प्रभावित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार दो कारणों से उठते है। कुछ विचार आन्तरिक प्रवृत्तियों के कारण उठते हैं और कुछ विचार आकाश में फैले हुए शब्द वर्गणा के कारण उठते हैं। जब शब्द वर्गणा के पुद्गल हमारे मस्तिष्क में प्रविष्ट होते हैं तब विचार उठते हैं। एक सज्जन व्यक्ति उत्तम विचारों वाला व्यक्ति बैठा है। उसके चारों ओर पचासों व्यक्ति हैं। कुछ व्यक्ति अच्छे विचार वाले हैं और कुछ व्यक्ति बुरे विचार वाले हैं। किन्तु उस सज्जन व्यक्ति के विचार मस्तिष्क से निकलकर वायुमंडल में विकीर्ण होते हैं और उपस्थित सभी व्यक्तियों को प्रभावित कर डालते हैं। सबके विचार बदल जाते हैं। इसी प्रकार एक बुरे व्यक्ति के विचार-पुद्गल आकाश में फैलकर अच्छे विचारों वाले व्यक्तियों के विचारों को भी बुरा बना डालते हैं। यह सब होता है विचारों की शक्ति के आधार पर। व्यक्ति के मस्तिष्क से निकलने वाले पुद्गल आकाश में फैलते हैं और दूसरे व्यक्तियों से टकराकर उनको प्रभावित करते हैं। सत्संग का इसीलिए तो महत्त्व है कि संत व्यक्तियों के पास बैठने से विचारों की विशुद्धि होती है।

आचारांग का एक सूत्र है—'अलं बालस्य संगेणं'—बुरे विचार वालों का संग मत करो। उनसे सदा दूर रहो। ऐसा न हो जाए कि बुरे व्यक्तियों के विचार तुम्हें प्रभावित कर तुम्हें भी बुरा बना डालें। इससे बचने के लिए हमें दो ओर से प्रक्रिया करनी होती है। पहली यह कि हमारी अन्तर्वृत्तियां बुरी न जागें। अन्तर्वृत्तियों के शोधन के लिए तैजस और पद्म लेश्या का ध्यान किया जाए। दूसरी बात है कि बुरे विचार न उठें, बुरे विचार हमें आक्रान्त न करें, हमारे मस्तिष्क को प्रभावित न करें, इसलिए हमें शुक्ल लेश्या का ध्यान करना होगा। हम एक ऐसे कवच का निर्माण करें जिसको भेदकर बुरे विचार न आ पाएं। वे बाहर ही रह जाएं। हमारे मस्तिष्क में न आयें। यदि शुक्ल लेश्या के द्वारा हम एक शक्तिशाली कवच बना लेते हैं तो बाहर के खतरे से बचे जाते हैं। यदि हम तैजस और पद्म लेश्या का कवच बना लेते हैं तो भीतर से उठने वाले बुरे विचारों के आक्रमण से बच जाते हैं। इसके बाद अच्छे विचारों की तरंगें पैदा होने लग जाती हैं और ये तरंगें बहुत सहयोगी बनती हैं। ये हमारी अध्यात्म यात्रा में आगे बढ़ने में सहयोग करती हैं और निरंतर हमारा साथ देती हैं। कहीं बाधा नहीं डालतीं।

लेश्या ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व है। निस्तरंग तक पहुंचने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए लेश्या ध्यान आवश्यक है। यद्यपि लेश्या स्वयं तरंग है किन्तु निस्तरंग की दिशा में प्रस्थान के लिए लेश्या ध्यान बहुत सहयोग करता है। हम इसका उचित मूल्यांकन करें।

हम श्वास-प्रेक्षा के द्वारा अपने श्वास पर नियंत्रण करते हैं। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के स्पंदनों को देखते हैं, उनके अनित्य स्वभाव को देखते हैं, अनित्य अनुप्रेक्षा में उतरते हैं। फिर हम अनित्य से परे किसी नित्य की खोज के लिए प्रस्थान करते हैं। हमारी यात्रा और आगे बढ़ती है। हम चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा के द्वारा उस नए आयाम का उद्घाटन करते हैं जो चैतन्य केन्द्रों के माध्यम से कभी-कभी अपना प्रकाश डालता है।

हमारे शरीर में तरंगातीत आत्मा की अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्थान हैं—एक मस्तिष्क और दूसरा चैतन्य-केन्द्र। दो महत्त्वपूर्ण द्वार हैं जिनके माध्यम से भीतर में छिपी हुई ज्योति कभी-कभी बाहर भी अपना प्रकाश डालती है। वह ज्योति भीतर ही छिपी रहती है, फिर भी उसकी कुछ रश्मियां हम तक पहुंच जाती हैं। जो साधक चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान करता है, वह उस ज्योति को अनायास ही उपलब्ध हो जाता है। जब एक बार भी वह उसे उपलब्ध हो जाता है तब चाहे कितनी ही तरंगें उसे घेरे रहें, कितनी ही बाधाएं डालें, वह कभी विचलित नहीं होता। जो एक बार भी तरंगातीत अवस्था का अनुभव कर लेता है वह अनुभव कभी समाप्त नहीं होता। जिसे एक बार सम्यक् दर्शन उपलब्ध हो गया, फिर उसके विकास को कोई नहीं रोक सकता। थोड़ी-बहुत बाधा डाली जा सकती है, पर उसके आगे बढ़ने वाले चरणों को नहीं रोक सकता। अनुप्रेक्षा के द्वारा हम वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानें। पदार्थ के अयथार्थ स्वरूप का बोध मूर्च्छा ही मूर्च्छा पैदा कर रहा है और मूर्च्छा का जाल इतना सघन हो जाता है कि हम उसके पार देख नहीं पाते। अनुप्रेक्षा के द्वारा ही इस मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोड़ा जा सकता है।

तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने के पांच साधन हैं—

१. श्वास प्रेक्षा।
२. शरीर प्रेक्षा।
३. अनुप्रेक्षा।
४. लेश्या ध्यान।
५. कायोत्सर्ग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये पांचों प्रेक्षा ध्यान के मौलिक आधार हैं। इन साधनों का सम्यक् उपयोग होने पर तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसमें अभ्यास की प्रधानता है। दो-चार दिन के अभ्यास से कुछ नहीं बनता। लंबा और सघन अभ्यास ही सफलता प्राप्त करा सकता है।

आप श्वास-संयम का अभ्यास करेंगे तो अनुभव होगा कि शरीर हल्का होता जा रहा है। जब शुद्ध लेश्या का ध्यान होगा तो शरीर हल्का होगा। उसे भारी बनाने वाली हैं अशुद्ध लेश्याएं। इन अशुद्ध लेश्याओं के स्पर्श इतने रूखे हैं कि उनसे शरीर भारी बन जाता है। शुद्ध लेश्याओं का स्पर्श मृदु होता है। इससे भारहीनता का अनुभव होता है। लेश्याओं के आधार पर शरीर की गंध बदल जाती है। महावीर के शरीर से पद्म की गंध आती थी। यह यथार्थ बात है। जो वीतराग की स्थिति में चला जाता है, उसके शरीर की गंध पद्म जैसी हो जाती है। शुद्ध लेश्याएं सुगंध पैदा करती हैं और अशुद्ध लेश्यायें दुर्गंध। बुरे विचार करने वाले व्यक्ति के शरीर से दुर्गन्ध निकलती है और अच्छे विचार करने वाले व्यक्ति के शरीर से सुगन्ध फूटती है। गंध के द्वारा जाना जा सकता है कि व्यक्ति अच्छे विचार वाला है या बुरे विचार वाला। मुंह का रस कभी खट्टा हो जाता है, कभी मीठा हो जाता है और कभी कड़वा हो जाता है। सामान्यतः इसका कारण है—वात, पित्त और कफ। हमें यह जान लेना चाहिए कि वात, पित्त और कफ भी हमारे विचारों से प्रभावित होते हैं। जब पित्त का प्रकोप होता है तब क्रोध अधिक आता है। जब वायु का विकार बढ़ता है तब विचारों की उधेड़बुन बढ़ती है, संकल्प-विकल्प बढ़ते हैं। जब कफ का प्रकोप होता है तब वात, पित्त और कफ विचारों को प्रभावित करते हैं और विचारों से प्रभावित होते हैं।

लेश्या ध्यान की अन्तिम बात है—कायोत्सर्ग। शरीर की सारी तरंगों को समेटने, मन की तरंगों को समेटने, बुरे विचारों को निष्क्रिय बनाने में कायोत्सर्ग की प्रमुख भूमिका रहती है।

हम सभी साधनों का प्रयोग कर उस तरंगातीत स्थिति का अंकन कर सकते हैं, उसकी झांकी पा सकते हैं। अब हमें ही यह निर्णय करना है कि क्या हमें तरंग की ही यात्रा करनी है या तरंगातीत के लिए अपना चरण आगे बढ़ाना है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०. अध्यात्म और व्यवहार

अध्यात्म के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यवहार के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। व्यवहार से मुक्त कोई भी नहीं हो सकता। जो शरीरधारी है वह व्यवहार करता है। व्यवहार के बिना वह जी नहीं सकता, उसका जीवन चल नहीं सकता। किन्तु दोनों का व्यवहार बहुत भिन्न होता है। आचारांग सूत्र का कथन है कि आध्यात्मिक व्यक्ति को अन्यथा व्यवहार करना चाहिए। अन्यथा व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला जैसे व्यवहार करता है, वैसे व्यवहार अध्यात्म की भूमिका पर जीने वाले को नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे भिन्न प्रकार से व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा व्यवहार करना चाहिए।

हम 'अन्यथा' शब्द को समझें। इसके तात्पर्य को समझें। व्यावहारिक शक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नहीं होता, वह प्रतिक्रियात्मक होता है। वह सोचता है—उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया तो मैं भी उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करूं। यह क्रियात्मक व्यवहार नहीं, प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। ऐसे व्यक्ति में कर्त्तव्य की स्वतंत्र प्रेरणा नहीं होती और कर्त्तव्य का स्वतंत्र मूल्य भी नहीं होता। उसका कर्त्तव्य स्व-संकल्प से प्रेरित नहीं होता, वह होता है दूसरों से प्रेरित।

वर्तमान के आचारशास्त्रियों और दार्शनिकों ने आचार के मूल्य की मीमांसा में इस प्रश्न पर बहुत चर्चा की है कि हमारे कर्त्तव्य की प्रेरणा और हमारे कर्त्तव्य का स्वरूप क्या होना चाहिए? प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा—"कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य होना चाहिए, न दया के लिए, न अनुकंपा के लिए और न दूसरों का भला करने के लिए। ये सब नैतिक कर्म के हामी नहीं हैं और उससे संबंद्ध भी नहीं है। केवल मनुष्य का स्वतंत्र संकल्प उसका स्वलक्ष्य मूल्य है। इसलिए कर्त्तव्य के लिए ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए।"

कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की यह बात बहुत ही मूल्यवान है। यह क्रियात्मक बात है, प्रतिक्रियात्मक नहीं। कोई व्यक्ति दया का पात्र है, उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर कोई दया करता है तो यह कोई स्वतंत्र क्रिया नहीं है। यह प्रतिक्रिया है। किन्तु यह मेरा धर्म है कि मैं प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान समझता हूं और उसके साथ मैत्री का व्यवहार करता हूं। यह स्वतंत्र कर्त्तव्य है, स्वतंत्र मूल्य है, क्रियात्मक कार्य है।

मैं इसलिए प्रसन्न होऊं कि दूसरे ने मेरी प्रशंसा कर दी और इसलिए नाराज होऊं कि दूसरे ने मुझे गालियां दे दीं—यह सारा प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। व्यवहार के स्तर पर जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति सदा प्रतिक्रियात्मक व्यवहार करता है। क्रियात्मक व्यवहार करने का उसके साथ कोई दर्शन जुड़ा हुआ नहीं है।

अन्यथा व्यवहार का पहला सूत्र है—क्रियात्मक व्यवहार। जो व्यक्ति आध्यात्मिक है वह सदा क्रियात्मक व्यवहार करेगा, क्योंकि वह उसका धर्म है। उसने मेरा उपकार किया है तो मुझे उसका उपकार करना चाहिए, उसने मुझे सहयोग दिया है तो मुझे उसको सहयोग देना चाहिए—यह उसका चिन्तन नहीं होगा। वह सोचता है—कोई मेरा उपकार करे या न करे, मुझे सहयोग दे या न दे, मैं सदा दूसरों का उपकार करूंगा, सहयोग दूंगा।

एक श्रमण दूसरे श्रमण के पास गया। दोनों के बीच कटुता थी। उसने जाकर कहा—"भंते! आपके साथ कुछ अनबन हो गई, मैं उसके लिए क्षमा मांगता हूं।" दूसरे श्रमण ने सुना। वह कुछ नहीं बोला। अनेक प्रयत्न करने पर भी उसने मुंह नहीं खोला। तब वह आचार्य के पास जाकर बोला—"देव! मैं अमुक श्रमण से क्षमा-याचना करने गया। हजार प्रयत्न करने पर भी वह न क्षमा करता है और न बोलता है। अब मुझे क्या करना चाहिए?" आचार्य ने कहा—"वत्स! वह क्षमा करे या न करे, उसकी अपनी इच्छा है। तुम्हें निर्मल मन से क्षमा मांग लेनी चाहिए। तुम क्षमा मांगो और वह तुम्हें क्षमा दे—यह व्यवहार होगा, प्रतिक्रिया होगी।" एक कवि ने कहा—

'तुम आओ डग एक तो, हम आयें डग अट्ठ।
तुम हमसे करड़े रहो तो, हम हैं करड़े लट्ठ॥'

यह प्रतिक्रिया की बात है। यह सारा प्रतिक्रिया का व्यवहार है। आध्यात्मिक व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। वह नहीं सोच सकता कि 'तुम ऐसा करो तो मैं ऐसा करूं।' यह समझौते की बात वह कभी सोच नहीं सकता। वह कहता है—"यह मेरा धर्म है, मुझे यह करना चाहिए।" आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने आगे कहा—"जाओ, तुम उससे क्षमा-याचना कर लो।"

श्रमण ने पूछा—"भंते! मुझे ऐसा क्यों करना चाहिए?"

आचार्य ने कहा—"उवसम···उवसमसार खलु सामण्णं'—'श्रामण्य का सार है—उपशम, शांति।' वह दूसरा श्रमण तुम्हें आदर दे या न दे, तुम्हारी ओर देखे या न देखे, तुम्हारे से क्षमा-याचना करे या न करे, तुम जाओ और क्षमा-याचना कर लो। यह इसलिए करो कि यह तुम्हारे श्रामण्य का धर्म है, श्रामण्य की मांग है। तुम्हें ऐसा करना ही चाहिए।"

यह है क्रियात्मक व्यवहार। आध्यात्मिक व्यक्ति यह अपेक्षा नहीं रखता कि सामने वाला व्यक्ति क्या करता है? वह यह सोचता है कि मेरा धर्म क्या कहता है? धर्म की दृष्टि से मुझे क्या करना है? यह है अन्यथा व्यवहार का पहला लक्षण।

जिस व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नहीं होता उसका प्रत्येक आचरण असंतुलित रहता है। संतुलन का अर्थ है—न इधर झुकाव, न उधर झुकाव। न पक्षपात, न राग, न द्वेष, न प्रियता और न अप्रियता। पूरा संतुलन। तराजू के दोनों पलड़े समान। कोई भी झुका हुआ नहीं।

उपनिषद् की एक कथा है। जाजली नाम के एक ऋषि घोर तप तप रहे थे। उनकी जटाएं बढ़ गयी थीं। वे निश्चल खड़े थे। पक्षियों ने उनकी जटा में घोंसले बना लिये। उन्होंने अंडे दिए। अंडों से बच्चे निकले और वयस्क होकर उड़ गए। तब तक ऋषि ज्यों-के-त्यों खड़े रहे। तप के साथ-साथ अहं भी बढ़ता गया। मैंने कितना विकट तप तपा है? यह भाव अहं को वृद्धिगत करता है प्रभुता पास में हो और अहंकार न हो, यह कब होता है? ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास प्रभुता है और अहं नहीं है? ज्ञान का, सत्ता का, संपत्ति का, शक्ति का और प्रभुता का अहंकार होता है। तप का भी अहंकार होता है। तपस्वी का अहं पुष्ट होता जा रहा था। एक दिन देववाणी हुई—"जाजली! अभी तक तुम सधे नहीं हो। तुम तुलाधर वैश्य के पास जाकर सीखो।" यह सुनते ही ऋषि का मन बौखला गया। अहं पर गहरी चोट लगी। देववाणी के प्रति वह नत था। वह बिना कुछ ननुनच किए तुलाधर वैश्य के पास आया। उसने देखा कि वैश्य तुलाधर एक दूकान में बैठा है। ग्राहक आ रहे हैं, जा रहे है। तुलाधर तराजू से तोलता जा रहा है। कोई साधना नहीं कोई ध्यान नहीं, कोई स्वाध्याय नहीं, कोई तपस्या नहीं। वह केवल तराजू से तोल रहा है। इतना-सा ध्यान दे रहा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि दोनों पलड़े समान रहें, कोई भी झुका हुआ न हो। सांझ हुई। तुलाधर वैश्य दूकान बंद करने लगा। ऋषि पास में जाकर बोले—"भाई! क्या तुम्हारा नाम तुलाधर है?" "हां, जाजली! आए हो तुम! कहो—किसलिए आए हो?"

"मैं तुम्हारी साधना जानने के लिए आया हूं। तुम्हारी साधना का मर्म क्या है?" ऋषि ने पूछा।

तुलाधर ने कहा—"मेरी और कोई साधना नहीं है। मैं तो व्यापारी हूं। व्यापार करता हूं। वस्तुएं तोलता हूं किन्तु एक बात का ध्यान रखता हूं कि दोनों पलड़े समान हों, दोनों पलड़ों को समान रखता हूं। इस बाहरी संतुलन ने मेरे भीतर भी संतुलन पैदा कर दिया।"

जब भीतर संतुलन का बलय बन जाता है तो ध्यान अपने-आप सिद्ध हो जाता है और समाधि भी सिद्ध हो जाती है।

तुलाधर वैश्य ने बाहरी संतुलन साधा। उसका आन्तरिक संतुलन सध गया। अब अलग ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रही। ध्यान सहज बन गया।

ऋषि जाजली को बोध मिला कि मैंने तपस्या की, किन्तु संतुलन नहीं सधा। संतुलन बनता तो अहं कैसे आता? संतुलन की अवस्था में सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जीवन के प्रति झुकाव होता है तो संतुलन बिगड़ जाता है। मौत के प्रति झुकाव होता है तो भी संतुलन बिगड़ जाता है। लाभ और अलाभ के प्रति, मान और अपमान के प्रति, निन्दा और प्रशंसा के प्रति जो झुकाव होता है वह भी असंतुलन पैदा करता है। जो समस्त द्वन्द्वों के प्रति सम रहता है, संतुलन बनाए रखता है, वह है अध्यात्म का उपासक। अध्यात्म का दूसरा सूत्र है—संतुलित व्यवहार।

आध्यात्मिक शक्ति का व्यवहार ज्ञानात्मक होगा। यह तीसरा सूत्र है। व्यवहार के धरातल पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार संवेदनात्मक होगा। ज्ञान और संवेदना दो हैं। चेतना के विकास की पहली भूमिका है संवेदना। ज्ञान उसके आगे की भूमिका है। अविकसित प्राणियों में संवेदना होती है, पर ज्ञान नहीं होता। जितने अविकसित प्राणी हैं उनकी चेतना संवेदना के स्तर पर काम करती है, ज्ञान के स्तर पर काम नहीं करती।

सुना होगा रविशंकर ठाकुर प्रसिद्ध सितारवादक थे। वे कनाडा गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे सितार बजा रहे थे। दोनों ओर के पौधों में संवेदना जागी और वे सब संगीत के साथ-साथ इधर-उधर डोलने लगे, झुकने लगे। जो पौधे दूर थे, जहां संगीत की ध्वनि पहुंच नहीं रही थी, वे पौधे ज्यों के त्यों खड़े ही रहे। यह देखकर निष्कर्ष निकाला गया कि जो पौधे निकट थे, उनमें संवेदनात्मक भाव इतना प्रबल हो गया कि वे सब सितार की लय के साथ-साथ झूमने लग गए।

बच्चों के प्रति भी संवेदनात्मक व्यवहार ही अधिक कार्यकर होता है, ज्ञानात्मक व्यवहार कार्यकर नहीं होता। चेतना की भूमिका में इन्द्रियों की तुलना बच्चों से की जा सकती है। त्वचा, जिह्वा और नाक से होने वाली अनुभूति संवेदनात्मक ही होती है। आंख और कान से ज्ञानात्मक प्रतीति होती है। किन्तु इन सभी इन्द्रियों के साथ भीतर से प्रवाहित होने वाली प्रियता और अप्रियता की धारा जुड़ती है और संवेदना प्रभावित हो जाती है। आध्यात्मिक व्यवहार करने वाला प्रियता और अप्रियता से प्रभावित नहीं होता। वह जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसे जान लेता है या उसका संवेदन कर लेता है, इससे आगे कुछ भी नहीं करता। कान से शब्द सुना और उसका अर्थ जान लिया। यह ज्ञानात्मक व्यवहार है। प्रिय शब्द सुना और मन राग से भर गया। अप्रिय शब्द सुना और मन द्वेष से भर गया। यह संवेदनात्मक व्यवहार है। आध्यात्मिक व्यक्ति प्रिय और अप्रिय शब्द के अर्थ से परिचित होता है फिर भी प्रियता और अप्रियता के बोझ से अपने-आपको भारी नहीं बनाता। केवल व्यवहार स्तर पर जीने वाले लोग प्रियता और अप्रियता के बोझ से लदे रहते हैं। उनका मानसिक तनाव कभी समाप्त नहीं होता। उनकी सारी चिंता प्रिय को अनुगृहीत और अप्रिय को निगृहीत करने में लगी रहती हैं।

आध्यात्मिक व्यवहार का चौथा सूत्र है—सत्याभिमुखता। आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य की दिशा में मुंह करके चलता है। कोरा व्यावहारिक व्यक्ति पदार्थाभिमुख होता है। उसका मुंह सदा पदार्थ की ओर रहता है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी पदार्थ के बिना नहीं जी सकता। जीवन-यात्रा चलाने के लिए पदार्थ नितान्त जरूरी है। पदार्थ और पदार्थाभिमुखता—ये दोनों एक नहीं हैं। सुख मन की अवस्था है। पदार्थ सुखानुभूति का निमित्त हो सकता है, किन्तु सुख पदार्थ की अवस्था नहीं है। पदार्थ होने पर भी कोई सुखी नहीं होता और पदार्थ न होने पर भी कोई सुखी होता है, इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ से सुख होता है, यह निश्चित व्याप्ति नहीं है। पदार्थ के होने पर सुख हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। मन की संतुलित अवस्था में सुख की निश्चित व्याप्ति है। जब मन शान्त होता है तब सुखानुभूति निश्चित होती है। इसकी पुष्टि अल्फा तरंग के वैज्ञानिक सिद्धान्त से हो रही है। शान्त मन की अवस्था में मस्तिष्क में अल्फा तरंग पैदा होती है। उससे व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। मानसशास्त्री 'जिल्डर पेनफील्ड' के अनुसार मन में क्षोभ और उद्वेग जितना कम होता है उतना ही मन स्वस्थ रहता है। पदार्थाभिमुखता मन में क्षोभ और उद्वेग पैदा करती है। पदार्थ के प्रति होने वाली अति उत्सुकता ग्रन्थियों के स्राव को अनियमित बना देती है। फलतः दुःख की परंपरा अन्तहीन हो जाती है। इसीलिए अध्यात्म पृष्ठभूमि पर व्यवहार को चलाने वाला पदार्थ का उपभोग करता है, पदार्थ की दिशा में मुंह कर नहीं चलता। उसकी जीवन-यात्रा सत्य की दिशा में चलती है। जिसे सत्य उपलब्ध हो जाता है, वह दुःख से मुक्त हो जाता है। हमारे सभी दुःखों का मूल है—असत्य। हम असत्य को पालते हैं, भ्रान्तियों को जन्म देते हैं और दुःख को निमन्त्रित करते हैं। दुःख-मुक्ति का पहला चरण होगा—चिरपोषित भ्रान्तियों को तोड़ना, भ्रान्तियों को जन्म देने वाले असत्य से दूर होना और सत्य का सक्षात्कार करना।

व्यवहार आखिर व्यवहार है। जीवन यात्रा के लिए उसकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। इस सचाई को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि व्यवहार की पृष्ठभूमि में पदार्थ की प्रेरणा होती है तब मनुष्य दुःखी बनता है और जब उसकी पृष्ठभूमि में पदार्थ की प्रेरणा होती है तब मनुष्य दुःखी बनता है और जब उसकी पृष्ठभूमि में अध्यात्म की प्रेरणा होती है तब मनुष्य शान्त और सुखी जीवन जीता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१. प्रेक्षाध्यान : मानसिक प्रशिक्षण के पांच सूत्र

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो, स्वयं स्वयं को देखो—यह प्रेक्षा-ध्यान का मूल सूत्र है।

भगवान् महावीर की ध्यान-पद्धति दर्शन की पद्धति है। हमारी आत्मा और शरीर तत्त्वतः भिन्न होते हुए भी व्यवहार के धरातल पर भिन्न नहीं हैं। श्वास, शरीर, वाणी और मन—ये सब प्राणशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। प्राणशक्ति सूक्ष्म शरीर (तैजस शरीर) का विकिरण है। सूक्ष्म शरीर अतिसूक्ष्म शरीर (कर्मशरीर) द्वारा संचालित होता है। अति सूक्ष्म शरीर आत्मा द्वारा संचालित होता है। इसलिए श्वास, शरीर, प्राण और कर्म के स्पंदनों को देखना आत्मा को देखना है।

अपने-आपको देखने का पहला सूत्र है—कायोत्सर्ग। हम शरीर की सक्रियता का मूल्य जानते हैं। उसकी निष्क्रियता का मूल्य नहीं जानते, इसी-लिए हम मांसपेशीय तनाव के शिकार होते हैं। इस तनाव से बचने का उपाय है—शरीर की चंचलता का विसर्जन। शरीर शान्त होता है, तब श्वास मंद हो जाता है, मन की चंचलता कम हो जाती है। कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक मूल्य है—अन्तर की अनुभूति और उसका मानसिक मूल्य है—मानसिक तनाव और मनोकायिक रोगों से छुटकारा।

अपने-आपको देखने का दूसरा सूत्र है—अप्रमाद। उसका एक रूप है—जागरूकता—सत्य और संयम के प्रति जागृत मनोभाव। उसका दूसरा रूप है—भावक्रिया—शरीर के कर्म और मन का सामंजस्य।

मिथ्यादृष्टि और असंयम या इन्द्रिय-लोलुपता से हमारी चेतना सुषुप्त हो जाती है। सुषुप्त चेतना में दुःख-बीज अंकुरित होते हैं। अप्रमाद जीवन की दिशा को बदल देता है। हमारी सुख की दिशा उद्घाटित हो जाती है।

हमारे शरीर के कर्म और मन दोनों साथ-साथ नहीं चलते। हम शरीर से एक काम करते हैं और मन से दूसरा काम करते हैं। इससे हमारी शक्तियां क्षीण होती हैं। भावक्रिया द्वारा हम इस शक्ति के अपव्यय से बच जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने-आपको देखने का तीसरा सूत्र है—भावना। इससे प्राण-ऊर्जा और संकल्पशक्ति (विल पावर) का विकास होता है। प्राण-ऊर्जा का विकास होने पर संकल्पशक्ति का और संकल्पशक्ति का विकास होने पर हमें हर पदार्थ सम्मोहित नहीं कर सकता। हमारा निश्चय अटल हो जाता है। सफलता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—दृढ़ निश्चय।

अपने-आपको देखने का चौथा सूत्र है—अनुप्रेक्षा। सामाजिक संपर्क, पदार्थ के संयोग-वियोग से पनपने वाली मूर्च्छा को तोड़ने और मन पर जमने वाले मलों की सफाई के लिए यह बहुत मूल्यवान् अभ्यास है। यह चिन्तनात्मक ध्यान है। यह चिन्तन से प्रारम्भ होता है और एक विषय में चिंतन की धारा को प्रवाहित कर अनुभव के स्तर तक पहुंच जाता है। इससे सचाई की अनुभूति होती है, मन की निर्मलता और सहिष्णुता की शक्ति बढ़ती है।

अपने-आपको देखने का पांचवां सूत्र है—प्रेक्षा। प्रेक्षा से शरीर की सक्रियता बढ़ती है, चैतन्य केन्द्र जागृत होते हैं। श्वास, शरीर और शरीर के चैतन्य केन्द्रों से निकट संपर्क स्थापित होते हैं। उनके आन्तरिक स्वरूप को जानने-समझने का अवसर मिलता है। दीर्घश्वास प्रेक्षा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इससे तैजस शरीर जागृत होता है। मन की चंचलता को मिटाने का यह सहज-सरल उपाय है। शरीर प्रेक्षा से शरीर के विष विसर्जित होते हैं। मन की सूक्ष्म को पकड़ने की क्षमता विकसित होती है।

शरीर प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के प्रतिक्षण बदलते हुए पर्यायों को देखना, अनुभव करना। यह पर्याय के माध्यम से मूल द्रव्य को देखने की यात्रा है।

शरीर के रासायनिक परिवर्तनों को देखना, अनित्यता का अनुभव करना। हम नित्य को नहीं देख सकते, इसलिए नित्य-दर्शन की यात्रा अनित्य-दर्शन से शुरू करते हैं।

शरीर में घटित होने वाली घटनाओं को देखना, वेदना-पीड़ा जो कुछ हो, उन्हें द्रष्टाभाव से देखना, शरीर और चैतन्य के भेद का अनुभव करना।

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा से चैतन्य केन्द्रों पर हमारा नियंत्रण स्थापित होता है। हम उनकी शक्ति का सही नियोजन कर सकते हैं। उनमें रासायनिक परिवर्तन कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकम्पन-प्रेक्षा—हमारे शरीर में निरंतर प्रकंपन हो रहे हैं। शरीर के प्रकंपन, वाणी के प्रकंपन, मन के प्रकंपन और श्वास के प्रकंपन। सूक्ष्म प्राण का प्रयोग कर प्रकंपन बढ़ाए जा सकते हैं। प्राण का निरोध कर वे घटाए जा सकते हैं, रोके जा सकते हैं। भावना के द्वारा विरोधी प्रकंपन पैदा किए जा सकते हैं। प्रेक्षाध्यान में पवित्र विकल्प या आलंबन और निर्विकल्प दशा दोनों का उपयोग किया जाता है। श्वास की गति और प्रकंपनों के बदलने पर दृष्टि बदल जाती है। श्वास और शारीरिक प्रकंपनों को संवादी और लयबद्ध करने की पद्धति हस्तगत होने पर आध्यात्मिक क्रांति घटित हो जाती है, मानव-संबंधों में नया मोड़ आ जाता है।

प्रेक्षाध्यान की पद्धति में हम मन की चार भूमिकाओं के विकास का अभ्यास करते हैं—

१. जागरूकता
२. भावना
३. विचार
४. दर्शन।

हम सत्य और संयम के प्रति जागरूक नहीं होते, इसीलिए मिथ्या-दृष्टि, इन्द्रिय और मन की उच्छृंखलता चलती रहती है। हमारा अस्तित्व परिणमनशील है इसीलिए हम बाहरी वातावरण से सम्मोहित होते हैं, सुझाव और वाणी से भी सम्मोहित हो जाते हैं, जैसा निमित्त मिलता है, वैसे ही बन जाते हैं। राग-द्वेष के नाना आवेश भी भावना के स्तर पर उभरते हैं। जैसी भावना होती है, वैसे ही विचार बनते हैं। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही हमारा दर्शन होता है। जब हम इन्द्रिय-विषयों के प्रति मूर्च्छित होते हैं, तब भावना, विचार और दर्शन—ये सब इन्द्रिय विषयों के आसपास ही घूमते रहते हैं। यही सारी समस्याओं और दुःखों का मूल स्रोत है।

प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से हमारी मूर्च्छा टूट जाती है, मन सत्य और संयम के प्रति जागरूक बन जाता है। जागरूक मन दूसरे के सम्मोहन को अस्वीकार करने में सक्षम हो जाता है। इस कार्य में मन्त्र बहुत सहयोगी बनते हैं। हम शरीर और मन की अस्वस्थता को दूर करने के लिए स्व-सम्मोहन का प्रयोग करते हैं और पवित्र भावना के द्वारा हम निर्मल बन जाते हैं। हमें शरीर और मन का स्वास्थ्य उपलब्ध हो जाता है।

जागरूक चेतना में पवित्र भावना के अंकुर फूटते हैं तब हमारे विचार भी वास्तविक बन जाते हैं। विचारों की वास्तविकता को उपलब्ध कर हम अपने भीतर की यात्रा शुरू करते हैं। हमारी दर्शन की शक्ति स्वयं को देखने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में लग जाती है। इस अवस्था में भावना, विचार और दर्शन—ये सब चैतन्य की परिक्रमा करने लग जाते हैं, मन राग-द्वेष से मुक्त हो तटस्थ और प्रतिक्रिया शून्य होने लग जाता है। यही है सारी समस्याओं और दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग।

सुख-दुःख के प्रति हमारा दृष्टिकोण मिथ्या होता है, हमारा मन इन्द्रिय विषयों के प्रति आकर्षित होता है—यह हमारी सुषुप्ति-स्तरीय चेतना है। हमारा मन पदार्थ तथा हाथ की अंगुलियों, आंखों और वाणी के साथ बाहर आने वाली विद्युत् से सम्मोहित होता है—यह हमारी भावना-स्तरीय चेतना है।

हमारा मन पदार्थ और व्यक्ति के साथ चिंतन पूर्वक संबंध स्थापित करता है। हेय को छोड़ने और उपादेय को स्वीकार करने की बात हम जानते हैं, पर भावना से प्राप्त सम्मोहन से मुक्त हुए बिना क्या यह संभव हो सकता है? भले न हो, फिर भी हम स्वतन्त्र चिन्तन का उपक्रम करते हैं—यह हमारी विचार-स्तरीय चेतना है।

हम पदार्थ के बाहरी स्वरूप को देखकर ही संतुष्ट नहीं होते, उसके आंतरिक या सूक्ष्म स्वरूप तक जाने का प्रयत्न करते हैं—यह हमारी दर्शन-स्तरीय चेतना है। प्रेक्षा के द्वारा हम सुषुप्ति को जागरूकता में बदलकर दर्शन शक्ति को अन्तर्दर्शन की भूमिका पर ले जाते हैं।

प्रेक्षाध्यान के फलित—

१. सक्रियता और निष्क्रियता का संतुलन, शारीरिक संतुलन।
२. लक्ष्य के प्रति मन की जागरूकता, कर्म और चिन्तन का सामजस्य।
३. संकल्प-शक्ति का विकास, दृढ़ निश्चय की क्षमता का विकास।
४. सत्य की अनुभूति या साक्षात्कार, मन के मलों की सफाई।
५. द्रष्टाभाव का विकास।
६. घटना के प्रति सम या तटस्थ रहने की क्षमता या प्रतिक्रियामुक्त चेतना का विकास।
७. मानसिक संतुलन।
८. आचार में समता और व्यवहार में मृदुता का विकास।
९. वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों का समन्वय।
१०. अतिमानसिक चेतना का जागरण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. व्यसन-मुक्ति ।
१२. तनाव-जनित रोगों का निवारण ।
१३. शरीर और मन से स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास ।
१४. मन विकल्पशून्य होने से एकाग्रता सधती है । उससे ज्ञान-तंतु और मांसपेशियां प्रशिक्षित होती हैं ।

प्रेक्षाध्यान मानसिक प्रशिक्षण और मानसिक चेतना के जागरण की एक सहज-सरल प्रक्रिया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org